व्यावसायिक संगठन
(BUSINESS ORGANISATION)

लेखक

केदारनाथ प्रसाद, एम० ए०

"आधुनिक अर्थशास्त्र" (सैद्धान्तिक पक्ष), "नागरिक शास्त्र" (नागरिक और राज्य), मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र, सार्वजनिक अर्थ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वैदेशिक विनिमय, आदि ग्रन्थों के रचयिता

अर्थशास्त्र-विभाग, पटना कॉलेज
पटना-विश्वविद्यालय

प्रकाशक

पुस्तक-भंडार
पटना और लहेरियासराय

प्रथम संस्करण (अगस्त, १९५१)

मूल्य छव रुपए मात्र

मुद्रक—

श्रीहनुमानप्रसाद

हिमालय प्रेस, पटना—४

समर्पण

श्रद्धेय श्री विपिनविहारी वर्म्मा जी, बार-एट-लॉ,

सदस्य भारतीय संसद्

के

कर-कमलों में सादर समर्पित

भूमिका

प्यारे दोस्त,

तुम्हारा पत्र हस्तगत हुआ। यह जानकर मुझे पहले तो स्वाभाविक आनंद हुआ कि तुम्हें मेरी प्रथम दो पुस्तकें बहुत पसन्द आईं लेकिन बाद में मुझे तुम्हारी अतिरंजित प्रशंसा से काफी क्षोभ भी हुआ। हमलोग अति साधारण लेखक हैं। चूँकि दूसरे असाधारण लेखकों को रचना-कार्य के क्षेत्र में उतरे हुये हम पाते हैं इसलिये हमारे हृदय में भी एक आकांक्षा होती है कि हम भी कुछ लिखते। आखिर, हम किसी मौलिक ग्रन्थ की सृष्टि तो नहीं करते। इसके उपयुक्त हमारे पास प्रतिभा भी नहीं है। हम किसी स्कूल के प्रवर्त्तन करने का सपना भी नहीं देख सकते। हम केवल इतना ही करते हैं कि बड़े-बड़े ग्रन्थकारों और चिन्तकों के विचारों को हृदयंगमकर उनको एक शृङ्खलित ढंग से प्रस्तुत करते हैं। हम इस अर्थ में थोड़ी मिहनत करते हैं कि जहाँ हमारी पढ़ाई-लिखाई सब तरह से अँगरेजी में हुई और हम जितनी देर में अँगरेजी में चार वाक्य लिख सकते हैं उतनी देर में हिन्दी में एक वाक्य लिख पाते हैं; फिर भी हम अँगरेजी में लिखी पुस्तकों का अध्ययन एवं मनन करते जाते हैं और उनमें जो भाव सन्निहित हैं उन्हें पचाकर हम अपनी मातृभाषा में उन्हें अक्षरबद्ध कर रहे हैं। यही हमारी छोटी सेवा है। हम पहुँचे हुये रचयिता होने का दावा नहीं करते। लोग हमारी सेवा को हमारी धृष्टता भले ही समझ बैठें, उसे कुछ भी महत्व भले ही न प्रदान करें परन्तु वे हमें इस सेवा-पथ से अलग नहीं कर सकते। तुमने मेरी शुभ-कामना की है और इसी लगन से बढ़ते जाने की शुभेच्छा प्रकट की है। मैं इसलिये तुम्हारा बड़ा आभारी हूँ।

सबसे पहले एक घटना का जिक्र सुनो और फिर उसपर विचार करने की कभी कोशिश करना। एक बार मेरे एक मित्र ने एक पुस्तक लिखी। संयोगवश वे अमुक कॉलेज के अर्थशास्त्र-विभाग के एक अध्यवसायी अध्या-पक थे। पुस्तक काफी लोकप्रिय साबित हुई और सबों को उम्मीद थी कि

बाद के संस्करणों में इसकी उत्तमता और भी बढ़ जाएगी। लेकिन उस पुस्तक के प्रकाशन के बाद उनके एक सहयोगी को इतनी मानसिक व्यथा हुई कि एक महीने में उनका वजन पाच-छव पौंड घट गया। दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए उन्होंने अपने (और अपने सहयोगी के भी) विद्यार्थियों से इसकी आलोचना ऐसे पांडित्यपूर्ण ढंग से की कि यदि तुम उसे पढ़ो तो तुम्हें हँसी आये बिना नहीं रहेगी और तुम अवल के इतने पढ़ुपन पर आश्चर्य भी प्रकट करोगे। उनकी आलोचना का सारांश यह है, "हाँ, इन्होंने एक पुस्तक लिखी है, सही लेकिन वह लार्ड केन्स की "जेनरल थ्योरी" की जोड़ की थोड़े ही है! कोई लिखना चाहे तो "जेनरल थ्योरी" लिखे जैसा कि हमने लिखने का निश्चय किया है।" तुमको इसके साथ यह जानकर इस घटना पर सोचने में आसानी होगी कि इस प्रकार के कथन करने के कुछ ही महीनों पूर्व इन बंधु अध्यापक को अपने द्वारा दी गई इस सूचना पर कि उन्होंने इन्टरमीडिएट के छात्रों के लिये एक जेनरल थ्योरी लिखी है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकी है एक उच्च नियुक्ति-कर्त्री समिति के एक विद्वान् सदस्य की डाट चन्द सालों के अनुभव के बावजूद इतनी साहसपूर्ण उक्ति करने के कारण सुननी पड़ी थी।

तो, भाई, हम कैसे कहें कि ऐसे अप्रतिम आलोचक को मेरी यह तीसरी पुस्तक जो पहली दो पुस्तकों की तरह ही किसी मानी में "जेनरल थ्योरी" नहीं, पसन्द आवेगी? ऐसे प्रसंग में तो "हिमालय" के किसी अंक में लिखित प्रो० आरसी जी की वे सार्थक पंक्तियाँ याद आ रही हैं—जिनका भाव यों है— "चूँकि इनकी सींगों में खुजलाहट है इसलिये और कहीं जगह नहीं मिले तो गोबर की ढेर ही सही, उसीमें उन्हें घुसेड़ देना चाहिये"। इनकी हालत उस खिसियानी बिल्ली की तरह है जो खम्भा नचोरती है। इनकी बात से तो रॉबिन्स की याद आ जाती है जिन्होंने मार्शल और कैनन की आलोचना बुरे ढंग से की थी। लेकिन मुझे एक बात से काफी संतोष है कि मुझे "व्यावसायिक संगठन" के ऊपर (जिस विषय पर यह पुस्तक लिखी गई है) हिन्दी में स्वतंत्ररूप से लिखी कोई अन्य पुस्तक अभी तक देखने में नहीं आई है। जिस तर्ज पर यह पुस्तक लिखी गई है उस तर्ज पर लिखी कोई भी पुस्तक मुझको अँगरेज़ी में देखने को नहीं मिली है। यों तो यह पुस्तक भी अधि-

अंशतः अँगरेजी में लिखी उत्कृष्ट पुस्तकों की ही उपज है, फिर भी इसका ढाँचा उनमें से किसी एक पुस्तक के ढाँचे से समानता नहीं रखता। मुझे विश्वास होता है कि बी० ए० में अर्थशास्त्र पढ़नेवाले छात्रों को यह पुस्तक उपयोगी मालूम होगी। मुझे इस बात का दुःख है कि कॉलेजों के विद्यार्थी कोर्स की पुस्तकों का चुनाव स्वयं नहीं करते। उनके अध्यापक पुस्तकों की स्वीकृति देने में "डिक्टेटर" का काम सम्पन्न करें, मैं इसे एकदम नहीं चाहता। वे चाहें तो खुद इतना तय कर सकते हैं कि किसी विषय पर लिखी कई पुस्तकों में कौन पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है और कौन मामूली। मैं बराबर अपने शिष्यों को जोर देकर कहता रहा हूँ कि कोई भी पुस्तक सर्वथा तुच्छ नहीं है। ज्ञान के कुछ कण तुच्छ पुस्तक में भी बिखरे रहते हैं और एकत्र किये जा सकते हैं। यह ठीक है कि किसी विषय पर कोई सर्वश्रेष्ठ पुस्तक भी उपलब्ध रहती है। छात्रों को ऐसी पुस्तक की खोज करनी चाहिये लेकिन उसके अध्ययन के साथ अन्य पुस्तकों को भी यदा-कदा उलट-पुलट लेना चाहिये।

मैं चाहूँगा कि इस विषय के छात्र भी मेरी पुस्तक के सम्बन्ध में अपनी सम्मति मेरे पास भेजें और वे मुझे यह बतलावें कि पुस्तक को अधिक उपादेय बनाने के लिये मुझे द्वितीय संस्करण में और क्या-क्या करना होगा। यह वस्तु उनकी है, उनके लिये है और यह उनका कर्त्तव्य है कि वे इस चीज को अधिक सुन्दर रूप में देखें। मैं न तो अपनी पहली दो पुस्तकों ("आधुनिक अर्थशास्त्र"—सैद्धान्तिक पक्ष—और "नागरिकशास्त्र"—नागरिक और राज्य) के संबंध में ही कुछ दावा कर सकता हूँ और न वर्तमान पुस्तक के बारे में ही फिर भी इतना तो मैं अवश्यमेव कह सकता हूँ कि जिस विद्यार्थी को ये अच्छी न जँचें तो वह इन्हें भूलकर भी न पढ़ें क्योंकि बिना आस्था के किसी ग्रन्थ का अध्ययन कदापि नहीं करना चाहिये।

तुमने एक और मजेदार सवाल उठाया है। मैं तुम्हारे विचार का समर्थन करता हूँ। अँगरेजी में कुछ पुस्तकें जो अर्थशास्त्र के विभिन्न पहलुओं के ऊपर लिखी गई हैं उनकी अपनी विशेषता है। उनका एक-एक शब्द खास मानी रखता है और बोलता है और जब तक आदरणीय राहुल जी—जैसे अनुपम अनुवादकों की कलमें न दौड़ें तब तक उनके अनुवाद करने का प्रयास

व्यर्थ होगा। ऐसी हालत में लेखकों को चाहिये कि वे एक विषय पर लिखी ऐसी पुस्तकों को पढ़ें और ऐसी पुस्तक हर विषय पर लिखें जो उन सभी पुस्तकों के निचोड़ से सम्पन्न हो। इधर हमारे कॉलेजों का "स्टैन्डर्ड" बहुत गिर गया है! हमारे छात्र "नोट बूकों" के पीछे दिवाना बन गये हैं! यह भी बहुत जायज है कि यहाँ की पढ़ाई-लिखाई के "स्टैन्डर्ड" को ऊपर उठाना चाहिये। स्वतंत्र देश की यह सबसे बड़ी आवश्यकता है। लेकिन हमारा दिल पूछना चाहता है कि क्या यहाँ का "स्टैन्डर्ड" सहसा एक रात को उसी तरह गिर गया जिस तरह हमारे कुछ अर्थशास्त्री मानते हैं कि व्यापार-चक्र का अधःपतन (या पुनरूत्थान) सहसा होता है। एक रात को लोग सोते हैं तब कीमतें काफी बढ़ी (या गिरी) हुई थीं और जब सुबह में उठते हैं तब कीमतें काफी गिरी (या बढ़ी) हुई मिलती हैं। "स्टैन्डर्ड" को ये कहीं उसी तरह "one-hoss shay" तो नहीं मानते? लेकिन मेरे भाई, "स्टैन्डर्ड" जो गिर गया है वह धीरे-धीरे उठेगा। इतनी घबड़ाहट की क्या जरूरत? यदि अँगरेज लोगों के शासन-काल में अन्य क्षेत्रों का भी "स्टैन्डर्ड" बहुत ऊँचा था तो वर्तमान गिरे "स्टैन्डर्ड" को उठाने के लिये हम फिर से अँगरेजों को सात समुन्दर पार से लाने की बात शायद ही अब सोच सकते हैं। उसी तरह हम यहाँ की पढ़ाई-लिखाई के गिरे "स्टैन्डर्ड" को ऊँचा बनाने के ख्याल से अँगरेजी को बहुत दिनों तक लादे नहीं रह सकते और न यहाँ के विश्वविद्यालयों को शत-प्रतिशत हार्वार्ड या ऑक्सफोर्ड या लंदन स्कूल के पाठ्यक्रमों की नकल ही करनी है। बहुधा हम यही देखते हैं कि समाज-शास्त्र पर अँगरेजी में लिखी पुस्तकों के नाम सुनकर ही हमारे कॉलेजों के आई० ए० और बी० ए० के भी छात्र हरकते हैं, उन्हें पढ़ना तो दूर की चीज है। उनका तर्क है कि इनकी भाषा-शैली ऐसी है और इनके लेखक "लोफ" और "वाइन" के शब्दों में जो बातें करते हैं वे हमारी समझ में ही नहीं आतीं। इसलिये अगर हम चाहते हैं कि ये काफी स्टैन्डर्ड की अंगरेजी पुस्तकों को पढ़ें तो हमें उनकी बारीकियों को उनके दिल व दिमाग में बैठाना होगा, उनके प्रति उनकी आस्था जगानी होगी, मातृभाषा में उनकी विशेषताओं को प्रस्तुत करना होगा। नहीं तो हम इनकी गर्दन

में इन पुस्तकों की एक-एक प्रति बाँध दे सकते हैं कि वे उन्हें पढ़ें लेकिन हमारी तो आशंका है कि वे उन्हें बाजार में बेच डालना पढ़ने की अपेक्षा बहुत अच्छा समझेंगे ! लेकिन पाठ्य-पुस्तकों के निर्धारण में इतनी गन्दी राजनीति को भी नहीं आना चाहिये कि "Spoils" बँटने लगे, जो "स्टैन्डर्ड" उचित है उसका गला घोंट दिया जाय, जैसा कि गतवर्ष अपने [illegible] यहाँ के किसी विषय के बोर्ड की सिफारिशों से साफ-साफ झलकने लगा था और एक प्रकांड पत्रकार को छात्रों के हित-रक्षण के लिये काफी जोरदार टिप्पणियाँ लिखनी पड़ीं। मेरे भाई, एक व्यक्ति की इस स्पष्टोक्ति को जरा माफ करना, "बोर्ड ऑफ स्टडीज" में इतने अधिक श्रद्धालु सदस्य रहते हैं कि वे एक या दो "बहुत पढ़े" सदस्यों के द्वारा तैयार की हुई पुस्तकों की सूची को स्वीकृति दे देते हैं; उनका समर्थन कर देते हैं और कभी-कभी तो यह सूची "स्टैण्डर्ड" पत्रिकाओं की "स्टैण्डर्ड" समालोचनाओं को पढ़कर ही पुस्तकों को बिना देखे-सुने ही तैयार की गई रहती है। बहुतों के होठों पर ये सब बातें हैं लेकिन ये प्रकाश में आ नहीं रही हैं। कभी-कभी तो कुछ विश्वविद्यालयों के कुछ शिक्षकों तथा छात्रों को यहाँ के "अति आधुनिक" और "प्रगतिशील" आई० ए० और बी० ए० के कोर्सों को देखकर दाँतों उँगली दबाना पड़ता है। हम बड़ी तेजी से Post-Marshallians होते जा रहे हैं। यह अच्छा है लेकिन हमें भूलना नहीं चाहिये कि प्रो० मार्शल एक "अद्वितीय बुद्धि-सम्पन्न देवदूत" थे जिन्होंने आर्थिक जीवन की शाश्वत सत्यताओं को ऐसी कुंजी पा ली थी और उन्हें इस तरह से रखा था कि अभी तक उनके उत्तरवर्ती शिष्य तथा लेखक इसमें उनकी बराबरी नहीं कर सके हैं (लार्ड केन्स)।

यह प्रसन्नता की बात है कि उत्तर प्रदेश के अध्यापक बन्धुओं ने यथेष्ट अध्यवसाय के साथ हिन्दी में कॉलेज की पाठ्य पुस्तकों की रचना कई सालों से शुरूकर दी है। कलकत्ते के विद्वान् बँगाली अध्यापकों ने भी अपनी पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में कराना आरंभ कर दिया है। हम बिहारवासियों को इनसे प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिये और हमें भी इस राष्ट्रीय महापर्व में अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार सहयोग देना चाहिये। मैं तो इसे स्वर्णिम घड़ी समझता।

हूँ। हमारे राज्य में राष्ट्रीय भाषा-परिषद् और पटना विश्वविद्यालय के तत्वावधान में इस क्षेत्र में पुस्तकों की रचना का कार्य-क्रम निर्धारित हुआ है। यह बड़े उत्साह का विषय है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इन संस्थाओं में समर्थ और इच्छुक व्यक्तियों को समानरूप से सेवा करने का सुयोग दिया जायगा।

फिर, तुमने "न्याय" का प्रसंग छेड़ा है। साथी मेरे, अपने दिल से ही पूछो कि आज की दुनिया में "न्याय" कहकर कोई चीज रह गई है, क्या? मैं कोई "सिनीक" नहीं हूँ लेकिन कभी-कभी इस दर्दनाक निष्कर्ष पर पहुँच जाता हूँ कि दुनिया में न्याय नहीं, न्याय नहीं। न्याय का अर्थ मैं अदालती भाषा में नहीं लगा रहा हूँ, न्याय को मैं नैतिकता और मानवता के अवगुण्ठन में रखकर देखता हूँ। जो तुम्हारी दृष्टि में न्याय हो सकता है वह मेरी नजर में न्याय का विपरीत रूप हो सकता है तुम जिसको सोलहो आना न्याय कह सकते हो उसे मैं एक आना न्याय भी मानने के लिये तैयार नहीं हो सकता हूँ। चूँकि हमारी "पहुँच" है इसलिये हमारे जीवन में न्याय की सरिता बहती है लेकिन वह आदमी जिसकी कहीं "पहुँच" नहीं क्या कहता है? यही न कि "ये जो अभी हैं वे ही रह जायंगे। कुछ नए भी आ जायेंगे लेकिन वे कौन भले हैं? हम जिस परिस्थिति में पड़े हैं उसीमें पड़े रह जायेंगे। और वह भगवान्, वह भी तो कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता। भगवान् भी उनके ही हो चुके हैं जिनकी "पहुँच" है।"

और इसी "न्याय" की खोज करने का हलका-सा प्रयास इस ग्रन्थ में हुआ है। व्यवसायों की दुनिया में, उद्योगों की दुनिया में "न्याय" का प्रवेश हो, संवर्द्धन हो, यह तुम भी चाहते हो और मैं भी चाहता हूँ। हमारे राज्य के माननीय शिक्षा-सचिव आचार्य बद्रीनाथ वर्म्मा जी का लिखा एक बड़ा गंभीर निबन्ध "महात्मा गाँधी की जय" तुमने भी पढ़ा होगा और हमने भी पढ़ा था और इसका शीर्षक इतना गूढ़ और सारगर्भित है कि हम भी माननीय आचार्य के स्वरसाम्य में ही कहना चाहेंगे "न्यायवाद की जय"! लेकिन इसके निमित्त इस दुनिया की सारी समस्याओं के ऊपर विचार करना होगा और तब यह सोचना होगा कि कैसे उस "न्याय" का अभिषेक या

आरोहण संभव हो सकेगा ? तुम जिस पद पर सुशोभित हो वह तुम्हें ऐसे न्याय को क्रियात्मक रूप देने का पर्याप्त अवसर प्रदान कर सकता है, मगर मेरे छोटे संसार में—समझो तो न्याय की दीप-शिखा अहर्निश जलती है और न मानो तो जानलो, समझ लो कि चिराग तले जो अन्धेरा है उसमें कुछ ऐसे हैं जो न्याय-वंचित हैं। अधिक-से-अधिक हम ऐसे न्याय का एक खाका मात्र पेश कर सकते हैं लेकिन उसमें जान डालने का काम तो तुम्हारे-जैसे व्यक्तियों के ऊपर है जिनके हाथों में शासन की सुनहली बागडोर है। और, अब तो आज़ाद देश में प्रत्येक नागरिक को इस बात का संतोष मिलना चाहिये कि उसे न्याय मिलता है, अन्याय नहीं।

इस पुस्तक में हमें प्रयाग विश्वविद्यालय के लब्धप्रतिष्ठ प्रोफेसर श्री अमरनारायण अग्रवाल जी को हार्दिक धन्यवाद देना है जिन्होंने कुछ उपयोगी पुस्तकों को भेजकर पुस्तक की महत्ता को बढ़ाने में बड़ी मदद पहुँचाई है। इसी विश्वविद्यालय के महान् आचार्य श्री दयाशंकर दुबे जी और 'वेला' जी ने जो शुभ-कामना प्रकट की है, उसके लिये मैं उनका बड़ा आभारी हूँ। हमारे शिक्षकों में डा० बी० आर० मिश्र जी, प्रो० बी० एन० मुखर्जी तथा डा० हरवंशलाल जी ने जो 'आशीर्वाद' देकर मुझे कुछ अन्वेषण-कार्य करने का सुन्दर सुझाव दिया है उसके लिये मैं उनको धन्यवाद देता हूँ लेकिन उन-लोगों से अनुरोध भी करूँगा कि उस कार्य में भी अपने आचार्य-सुलभ सुझाव मुझे देते रहेंगे।

खासकर श्रद्धेय मुखर्जी साहब के ऋण को तो भुला देना आत्म प्रवंचना ही होगी। उन्होंने मुझे छात्र-जीवन से ही पठन एवं लेखन-कार्यों में सबसे अधिक प्रोत्साहित किया है। मेरी रचनाओं की किसी त्रुटि (अन्य सज्जन की दृष्टि से) के प्रति भी उनके हृदय में विशुद्ध स्नेह है, यह मेरा सौभाग्य है। किसी के स्नेह का एक कण, किसी का 'एक अक्षर' ज्ञान दान भी न जाने क्यों मुझे कृतज्ञता की डोर से बाँध डालता है! मिथिला कॉलेज के मेरे पूर्व शिक्षकों को (प्रो० श्री विशुनदेव नारायण सिंह जी, प्रो० श्री तंत्रनाथझा जी, तथा प्रो० श्री रामेश्वर प्रसाद नामी जी) भी वैसा ही हर्ष मेरी कृतियों पर होता है। मेरा विश्वास है, इन गुरुजनों के हृदयों की उमड़ती शीतलता

किसी तप्त हृदय के लिये चन्दन का काम करेगी। पुस्तक के कवर पर पुस्तक-भंडार के कलाकार श्री 'सूर्य' ने आकर्षक चित्र बनाया है जो मुझे पसन्द है।

मुझे इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए किसी व्यक्ति को धन्यवाद नहीं देना है क्योंकि पुस्तक विलम्ब से निकल रही है और अभी जो निकल रही है इसका श्रेय मुझे ही मिलना चाहिये कि मुझे अपने दिमाग को इसके पुस्तक-भंडार का वर्कशॉप बना लेना पड़ा। मैं अपने उन छात्रों की भी शुभ-कामना करता हूँ जिन्होंने मुझसे इस विषय पर व्याख्यान सुने हैं और जो बड़ी श्रद्धा से अपने विचारों को पुस्तकाकार में रखने का विशेष आग्रह वे मुझसे करते रहे हैं। मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूँ कि दूसरे संस्करण में पुस्तक को और भी हितकर रूप में वे पायेंगे। पुस्तक में शुद्धि-पत्र नहीं दिया गया है। यत्र-तत्र छपाई एवं प्रूफ की कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। वे विद्यार्थी स्वयं दुरुस्त कर सकते हैं।

यह ग्रन्थ श्रद्धेय श्री विपिनविहारी वर्माजी, बार-एट-लॉ, सदस्य (भारतीय संसद्) को समर्पित की गई है। मेरा अतीत उनके स्नेह के कुछ अमूल्य बिन्दुओं से सुसिक्त है। महात्मागाँधी जी के लोक-जीवनका इतिहास चम्पारण के सत्याग्रह के इतिहास से आरंभ होता है और माननीय विपिन बाबू का राजनैतिक जीवन उसी शुभ घड़ी से शुरू होता है। त्याग तथा तपस्या से ओत-प्रोत उनका जीवन है। चम्पारण का आधुनिक राजनैतिक इतिहास चम्पारणियों की देन है— आदरणीय विपिन बाबू की और आदरणीय पंडित प्रजापति मिश्र जी की देन— अमिट देन !

अन्त में तुमसे निवेदन करूँगा कि यदि तुम "भूमिका" में कहीं कुछ कड़े शब्द पाओ तो उनके लिये उलाहना देना नहीं भूलना क्योंकि यह तो अभी हमारे विकास का समय है, परिष्कार का काल है। एक बार अखिल भारतीय काँग्रेस के एक विशेष अधिवेशन के अवसर पर भारत के लौह-पुरुष सरदार पटेल ने एक महिला नेता (?) को लक्ष्य कर कहा था "गाड़ी के नीचे जो कुत्ता चलता है वह तो यही समझता है कि गाड़ी उसीकी बदौलत चलती है।" इस स्पष्टवादिता पर टिप्पणी लिखते समय एक प्रकांड सम्पादक ने लिखा था "सरदार साहब ने आवश्यकता से अधिक ओरदार शब्दों का प्रयोग

किया। भला एक तितली को मारने के लिए तीर चलाना चाहिये, सिर्फ एक कंकड़ से ही उसका काम तमाम हो सकता है।" लेकिन भाई, मैं तो किसी 'छडु' के ऊपर भी बेंत चलाना पाप समझता हूँ, किसी 'तितली' के ऊपर कंकड़ चलाना की बात तो बहुत दूर की चीज है !

लहिरी,
डाकघर-विकटोरिया-मिशन
चम्पारण
अगस्तका क्रान्तिकारी पर
स्वर्णिम मास (१९५१)

तुम्हारा ही मित्र,
केदारनाथ प्रसाद,
अर्थशास्त्र—विभाग,
पटना कॉलेज,
पटना विश्वविद्यालय।

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

विषय की भूमिका

(Introduction to the Subject)

द्वितीय अध्याय

दाम की प्रणाली का विशेष अध्ययन

(A Special Study of Price-Mechanism)

तृतीय अध्याय

श्रम की क्षमता एवं विभाजन

(Efficiency and Division of Labour)

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

एकादश अध्याय

द्वादश अध्याय

त्रयोदश अध्याय

चतुर्दश अध्याय

पंचदश अध्याय

प्रथम अध्याय

विषय की भूमिका

(Introduction to the Subject)

औद्योगिक संगठन का मूल उद्देश्य किसी देश के फर्मों (उद्योगशालाओं) की निपुणता (efficiency) को बढ़ाना है। निपुणता बढ़ने से किसी वस्तु का प्रति अदद उत्पादन-खर्च कम हो जाता है। इससे उपभोक्ताओं को और (उपभोक्ताओं की हैसियत से) मजदूरों को फायदा होना संभव है। अगर फायदा नहीं होता है तो वह इसलिये कि जिस आर्थिक व्यवस्था में यह कार्य सम्पादित हो रहा है वह मूलतः दूषित है। आजकी आर्थिक व्यवस्था पूँजीवादी है जिसके तत्त्वावधान में औद्योगिक संगठन का प्रासाद खड़ा किया गया है। पूँजीवाद में निपुणता के बढ़ने से समूचे समाज को फायदा नहीं पहुँचने पाता। बल्कि उससे पूँजीपतियों और उद्योगपतियों को लाभ होता है। उनका कोष बढ़ता है। औद्योगिक टेकनिक को विकसित एवं परिमार्जित करके पूँजीवाद निपुणता तो बढ़ाता है लेकिन वह इसके साथ एक प्रकार की बेकारी को भी पैदा कर देता है जिसे टेकनोलोजिकल बेकारी कहा जाता है। उत्पादन की क्रिया का यंत्रीयकरण—मेकनाइजेशन—बढ़ता जाता है। पूँजीपतियों का मुनाफा बढ़ता जाता है। मशीनों की वृद्धि होने से कम मजदूरों की जरूरत पड़ती है। अतएव "फिजूल" मजदूरों की छटनी (Retrenchment) की जाती है। औद्योगिक विकास के लिये बड़े पैमाने पर उत्पादन की आवश्यकता होती है। इसलिये होता क्या है कि विशाल फर्म कायम किये जाते हैं, बड़ी-बड़ी मशीनें लाख-लाख रुपये लगाकर खरीदी और बैठाई जाती हैं, बहुत बड़ी स्थिर पूँजी लगाई जाती है और दैनिक पूँजी की खपत भी काफी होती है। छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे विशाल फर्मों का सामना नहीं कर पाते और वे

उनकी गलाघोंटी प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते, विनष्ट हो जाते हैं। एकाधिकारों (मोनोपोली) का प्रभुत्व बढ़ जाता है। धन का उत्पादन तो खूब होता है लेकिन धन का वितरण संतोषजनक नहीं होता। वह कुछेक व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाता है। इसके फलस्वरूप आर्थिक शक्ति उनके हाथों में समाविष्ट हो जाती है। कार्लमार्क्स ने इसकी ओर बहुत पहले संकेत किया था। पूँजीवाद संकटापन्न (Crises bound) हो जाता है। दाम की दर बढ़ती जाती है। परन्तु लोगों को आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होने पाती। उत्पादन भी फर्म अपनी मर्जी पर कम कर देते या रोक डालते हैं। उपभोक्ताओं को जितना फायदा होना चाहिये उतना नहीं होता। अमेरिका में ५०० कारपोरेशन और उसके २०० डाइरेक्टर (संचालक) वहाँ की ५० प्रतिशत संभावित (Potential) पूँजी पर अपनी सत्ता जमाए हुए हैं। इससे सामाजिक भलाई बढ़ने को नहीं। समाज की सम्पूर्ण माँग घटने लगती है। इससे भी बेकारी उत्पन्न होती है। उपभोग या खपत की समस्या हल नहीं हो पाती। आधिक्य के अन्तराल में अभाव बैठा रहता है।

इस पुस्तक का नामकरण "औद्योगिक संगठन" होना चाहिए, व्यावसायिक संगठन नहीं। वह इसलिये कि जहाँ पहले में उत्पादन के पहलू पर विचार होता है वहाँ दूसरे में क्रय-विक्रय के पहलू पर। औद्योगिक संगठन एक व्यापक विषय है और उसमें व्यावसायिक संगठन पर भी विचार करना अनिवार्य हो जाता है। यद्यपि दोनों की रूप-रेखा विभिन्न है तथापि दोनों बहुत-कुछ अन्तर्बद्ध रहते हैं।

किसी देश का औद्योगिक संगठन उस देश की किसी समय प्रचलित सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक अवस्थाओं का सूचक है। जैसे-जैसे लोगों के विचारों में परिवर्तन होता है वैसे-वैसे सम्पत्ति के उत्पादन के साधनों और तरीकों में भी परिवर्तन होता है। सभ्यता के विकास होने पर उत्पादन के यंत्रों की निपुणता और उत्पादकता बढ़ जाती है। उसके साथ देश की सम्पूर्ण सम्पत्ति भी बढ़ जाती है और

लोगों के सामने बढ़ी आय के उत्पादन तथा वितरण का अलक्षित प्रश्न खड़ा हो जाता है।

सभ्यता के आरंभ में उद्योग व्यक्तिवादी था और उसमें श्रम-विभाजन या विशिष्टीकरण की गुञ्जाइश न्यून थी। फिर भी उसके सामने सीमित परिधि में संगठन का सवाल था। बिना संगठन के कोई काम नहीं निबह सकता। जैसे-जैसे समाज का औद्योगिक विकास होता गया वैसे-वैसे उद्योग के विभिन्न प्रधान भागों के एक सूत्र में पिरोने के लिये सुन्दर संगठन की जरूरत आ पड़ी। संगठन का रूप-ढंग भी क्रमशः निखरता गया।

आर्थिक प्रश्नों की उत्पत्ति तीन प्रधान समस्याओं से होती है। वे समस्याएँ ये हैं—(१) उत्पादन की समस्या (२) वितरण की समस्या (३) शासन या नियंत्रण की समस्या। प्रत्येक समस्या की अपनी महत्ता है। नीचे हम प्रत्येक का वर्णन दे रहे हैं।

"उत्पादन का महत्व"

यदि उत्पादन न हो तो खपत कहाँ से होगी? यही एक बड़ा प्रश्न है जो स्वभावतः दिमाग में उठता है। कहने का भाव है कि खपत की जड़ में उत्पादन का अस्तित्व या संभवनीयता है। चूँकि उत्पादन हो सकता है इसलिये खपत होती है। फिर, खपत नहीं होती तो उत्पादन भी नहीं होता। अतएव खपत और उत्पादन दोनों में कारण-कार्य का भाव न होकर अन्योन्याश्रय भाव है।

उत्पादन के ऊपर ही किसी समाज का आर्थिक जीवन अवलम्बित रहता है। उत्पादन के आधिक्य के सामने गरीबी उसी तरह नहीं टिक सकती जिस तरह प्रभंजन के सामने बादल। अगर समाज में उत्पादन की कमी है तब वह गरीबी के बिच्छुक से दंशित होगा। हम पीछे देख आए हैं कि किस तरह अर्थशास्त्र समाज की भीषण दरिद्रता को उन्मूलित करने के यत्न भी सुझाता और बताता है। अर्थशास्त्र-वेत्ताओं का काम है उन मार्गों को बतलाना जिनके द्वारा लोगों के

जीवन का रहन-सहन ऊपर उठ सके। लेकिन, डाक्टर बेनहम के शब्दों में रहन-सहन उन वस्तुओं तथा सेवाओं के ऊपर निर्भर करता है तथा उन्हींके द्वारा रूपायित होता है जिनका उपभोग लोग करते हैं। गरीबी का निरपेक्ष मानी होता नहीं। अगर लोगों के पास कपड़े कम हैं, अन्न कम हैं, घर-द्वार की कमी है तो उसका साफ मानी यह है कि उनके समाज में जो कुल उत्पादन हो रहा है वह कम है। भोक्ताओं को जितनी वस्तुओं और सेवाओं की जरूरत है उतनी वस्तुओं और सेवाओं का निर्माण नहीं हो रहा है। एक बात और भी है जिससे अभाव की मात्रा बढ़ जाती है। अभी लोगों को इन सभी पदार्थों का जितना अभाव है उतना अभाव नहीं रहता यदि वितरण का प्रबन्ध ठीक रहता। जो भी उत्पादन होता है वह इस तरह लोगों में बँट जाता है कि कुछ लोग आवश्यकता से अधिक पा लेते हैं, कुछ लोग आवश्यकता से कम पाते हैं और कुछ या सर्वाधिक लोग बिल्कुल कम पाते हैं, इतना कम कि उससे उनको बहुत जरूरी आवश्यकताएं भी पूरी नहीं होने पातीं। हमारे जीवन में केवल अभाव ही अभाव है। हमारे सारे साधन अभावग्रस्त हैं। जिस तरह प्राकृतिक उपादान या साधन अभावपूर्ण हैं उसी तरह कारखानों से तैयार किए गए समूचे माल भी अभावपूर्ण हैं। वितरण की प्रणाली उत्पादन तथा उपभोग के मध्य की सुनहली कड़ी है और इस कड़ी के रंग-ढंग पर समस्त आर्थिक प्रणाली की रूप-रेखा अवलम्बित रहती है। "प्रचुरता के बीच दरिद्रता" की उक्ति यों तो मिथ्या है क्योंकि कि संसार में "अभाव" है "प्रचुरता" नहीं। फिर भी वह सत्य इसलिये है कि वह वितरण की दूषित पद्धति की ओर संकेत करती है। इसके लिये वितरण की प्रणाली में सुधार होना चाहिये। खपत तो उत्पादन का अनुसरण करेगी। इसलिये उत्पादन की सीमा पर घनघोर लड़ाई होनी चाहिये। प्रकृति से हमारे उत्पादन-साधन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मिलते हैं। इसलिये प्राकृतिक शक्तियों के ऊपर हमें अपनी सत्ता जमानी होगी। तभी हमें मनोवांछित सफलता मिल सकती है।

उत्पादन के विस्तार और जनसंख्या पर किसी समाज का रहन-सहन अवलम्बित रहता है। उत्पादन देश के अन्दर चलता है और देश के बाहर विदेशों में भी। लेकिन देश के अन्दर जो उत्पादन चलता है वही हमारे लिये प्रथम ध्यान की वस्तु है। अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्त्ति तो देश के उत्पादन से ही करनी है। उत्पादन केवल उन्हीं चीजों का नहीं होता जिनकी खपत हमारा देश स्वयं करता है प्रत्युत् कुछ ऐसी चीजों का भी होता है जिनकी माँग विदेशों से होती है और जिनको हम उनके हाथों बेंच कर अपनी कमी को पूरा कर सकते हैं। दूसरे देशों से भीख माँग कर कोई देश नहीं जी सकता। यह ठीक है कि कुछ काल के लिये वह ऋण ले सकता, कुछ अन्न-वस्तु उधार लेकर खा सकता है। ऐसा व्यक्तिगत जीवन में होता है और देश के जीवन में भी। लेकिन देश को कुछ विशेष अड़चनों का मुकाबला करना पड़ता है। देश-देश में उतना गहरा मिलाप या एकता-भाव नहीं होता जितना मनुष्य-मनुष्य के बीच संभव है। कितने देश तो चीजों को सस्ता बेचने के बजाय फेंक देना या नष्ट कर देना ही अच्छा समझते हैं। ब्रेजिल ने कहवा समुद्र में फेंक दिया था, इंगलैंड ने नारंगियों की खाद बना डाली, अमेरिका ने गेहूँ को कारखानों की भट्ठियों में झोककर जला डाला, कनाडा ने गेहूँ की फसल को टिड्डियों द्वारा चट करा डाला। लेकिन किसी ने अभावग्रस्त देश को सस्ते दाम पर इन चीजों को देना मंजूर न किया और न इसे अपना नैतिक कर्त्तव्य ही समझा। लेकिन निर्दय-से-निर्दय आदमी बचे अन्न या भोजन को इस तरह नष्ट नहीं करता। आज सवाल है भरपूर उत्पादन और न्याय-सम्मत वितरण का।

उत्पादन की समस्या इस बात पर विचार करती है कि किस तरह उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जनसंख्या को क्रमशः विकसित होते हुए रहन-सहन के स्तर के अनुसार खिलाया-पिलाया जा सके।

दूसरी समस्या वितरण से संबंधित है। उत्पादन तो साधन है, साध्य उपभोग है। वितरण की प्रणाली उत्पादन तथा उपभोग के

बीच की सुनहली कड़ी है जो उन दोनों को संयोजित करती है। उसकी बनावट के ऊपर दोनों की रूप-रेखा निर्भर करती है। वितरण की समस्या का हल उस समय हो सकेगा जब कारखानों में जितना उत्पादन हो उसका वितरण समाज के विभिन्न वर्गोंमें इस ढंग से हो कि समाज की सम्पूर्ण आर्थिक (और सामान्य भलाई भी) भलाई अधिकतम हो सके। उसमें न्याय का भाव होना चाहिये। ऐसा होने पर किसी वर्ग को शिकायत करने की जगह नहीं रह जाएगी। मजदूरों की ओर से कोई अंदेशा या खटखट नहीं रह सकेगी। औद्योगिक प्रगति के फलों का सुरुचिपूर्ण वितरण संभव हो सकेगा।

तीसरी समस्या शासन या नियंत्रण (Control) की है। मजदूरों को पूँजीपति जानवर न समझें, उन्हें भी मनुष्योचित आदर-सत्कार मिले—यही अच्छे नियंत्रण का ध्येय है। कितने फर्मों में, कितने उद्योगों में अभी भी मजदूरों के साथ बुरा वर्ताव किया जाता है। उन्हें बहुत सताया जाता है। यह अच्छी बात नहीं। आजका युगधर्म इसका विरोध करता है। सरकार को कानून बनाकर इस तरह की प्रवृत्ति को रोकना है।

उक्त तीनों समस्याएँ आपस में गुम्फित हैं। किसी एक की बनावट में कोई परिवर्तन होने पर तुरत दूसरे की बनावट में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। इन समस्याओं के ऊपर हमें मानव के पृष्ठाधार में विचार करना होगा। उद्योगों का नियंत्रण दो प्रकार का हो सकता है—(१) प्रत्यक्ष (Positive) और (२) परोक्ष (Negative)। प्रत्यक्ष नियंत्रण में सरकार व्यक्तिगत उद्योगों की देखभाल स्वयं करती है या उनकी देखभाल करने के साथ उनपर अपना स्वामित्व भी स्थापित कर लेती है। दूसरी दशा राष्ट्रीयकरणकृत उद्योग-धंधों में चरितार्थ होती है। परोक्ष नियंत्रण में सरकार व्यक्तिगत उद्योगों की देखभाल खुद नहीं करती। देखभाल उद्योगों के मालिकों के ऊपर छोड़ दी जाती है। सरकार व्यवस्थापिका में यदा-कदा उद्योग-संबंधी साधारण नियमों को पास करती है और उनको कार्यान्वित करने का

प्रयत्न करती है। "उद्योग" शब्द का अर्थ व्यापक या संकुचित हो सकता है। संकुचित अर्थ में उद्योग से हम केवल कल-कारखाना (Industry) समझते हैं। उद्योग के व्यापक अर्थ में कृषि भी सम्मिलित हो जाती है। कुछ वर्षों पहले कृषिको उद्योगों के बीच गौण-तम पद मिला था। उसे Cindrella के रूप में देखा जाता था। लेकिन अब प्रत्येक देश में कृषि की महत्ता आँकी जाने लगी है। बड़े-से-बड़े उद्योग-प्रधान देश भी कृषि की प्रधानता को महसूस करने लगे हैं। भारतवर्ष तो कृषि-प्रधान देश ठहरा ही। उसके लिये तो कृषि का महत्व उद्योगों में सबसे बड़ा है।

उद्योग-नियंत्रण में हमें "उत्पादन" की परिभाषा के ऊपर भी दृष्टिपात करना होगा। याद को ताजी करने के लिये आगे हम इस पर प्रकाश डाल रहे हैं।

मानव उपयोगिता की ही सृष्टि कर सकता है। यह उसके लिये संभव नहीं कि वह तत्वों का भी निर्माण कर सके। प्रकृति ही उपादानों की जननी है और उसीने मानव को उन्हें प्रदान किया है। मानव वह कलाकार है जो प्रकृतिप्रदत्त उपादानों के रूप-रंग को परिवर्तित कर सकता है और इस प्रकार उनमें उपयोगिता का संपुट चढ़ाकर उन्हें प्रयोग के योग्य बना सकता है। अर्थशास्त्र उत्पादन से संबंधित है। मनुष्य उपादानों को उपभोग के योग्य उपयोगिता की सृष्टि कर या विशेष मूल्य जोड़कर बना देता है। बॉलडिङ्ग के शब्दों में उपयोगिता ही समस्त आर्थिक प्रयासों की अन्तिम उपज है। किसी भी उत्पादन क्रिया के शीर्ष पर उपयोगिता दृष्टिगोचर होगी। आर्थिक नाटक का अन्तिम अंक उपयोगिता के निर्माण और उपलब्धि ही है। केवल उपयोगिता के निर्माण से ही उत्पादन का कार्य समाप्त नहीं हो जाता बल्कि मनुष्यकृत उपयोगिता को अपने बदले में कुछ मूल्य प्राप्त करने की योग्यता होनी चाहिये और वह मूल्य भी रुपये आदि के रूप में प्रकट करने के लायक हो। प्रकृति ने कितने जंगल दिये हैं। उन जंगलों में कितने वृक्ष हैं। उन वृक्षों को काटकर उनसे मनुष्य कुर्सियाँ तैयार

करता है। यही कार्य उत्पादन की संज्ञा से संबोधित होता है। जो परिवर्तन हुआ है वह यही है कि वृक्ष का रूप बदल दिया गया है और उपयोगिता तत्व को जोड़कर उसे मनुष्य के उपभोग के लायक बना दिया गया है। एक ही वस्तु का उपभोग भिन्न-भिन्न रूप में करके उपयोगिता की भिन्न-भिन्न मात्राएँ जोड़ी जा सकती हैं। उत्पादन का कार्य भौतिक वस्तुओं की सृष्टि नहीं, उपयोगिता की सृष्टि है। प्रोफेसर मार्शल के शब्दों को दुहराते हुए कहना पड़ता है कि "प्राकृतिक विश्व में मनुष्य जो अधिक-से-अधिक कर सकता है वह यह है कि वह पदार्थ (matter) को इस प्रकार प्रबंधित कर सकता है कि वह अधिक उपयोगी हो सके अथवा वह प्रकृति की सहायता से उसे अधिक उपयोगी होने के पथ पर प्रतिष्ठित कर सकता जैसा वह बीज-वपन के समय करता है।"

अति-आधुनिक विचारधारा के अनुसार तो उत्पादन का उपयोगिता की सृष्टि के रूप में परिभाषित नहीं करना चाहिये बल्कि उसे मूल्य का निर्माण या समावेश करना ही समझना चाहिये क्योंकि उपयोगिता के निर्माण का अर्थ ही लोग मूल्य के निर्माण करने से लगाते हैं। बात यह है कि हमें उत्पादन के विधान से कोई वास्ता नहीं है। हम तो आर्थिक दृष्टिकोण से ही किसी विषय पर दृष्टिपात करते हैं।

मनुष्य कई प्रकार की उपयोगिताओं की रचना करता है (अ) रूप-संबंधी उपयोगिता—जिसको किसी प्राकृतिक वस्तु की शकल, रंग, वजन, गंध, आदि विशेषताओं को रूपान्तरित करके उसे मानवीय उपयोग का पात्र बनाया जाता है।

(ब) स्थानगत उपयोगिता—जिसके अनुसार जो चीज एक जगह पर प्रचुरता से या साधारण रूप से ही पाई जाती है उसे दूसरी जगहों पर उत्पन्न करना जहाँ वह एकदम नहीं उपजती या अभावपूर्ण है। आलू हमारे देश में विदेश से लाकर उपजाया गया है।

(स) सामयिक उपयोगिता—जिसे रॉबिन्स ने स्थान और समय का (Indices) कहा है, जिसके अनुसार एक विशेष समय में

होने वाली चीज को वर्षभर उपजाया जाय या वार्षिक चीज को अधिक वर्षों तक रखा जा सके। अन्नों की उपज खास मौसिमों में होती है पर उनकी खपत सालों भर चलती रहती है। इसलिये उन्हें संचित और सुरक्षित रखकर उनकी खपत को बनाए रखना ही सामयिक उपयोगिता का चिह्न या कार्य है। इस तरह उत्पादन का तात्पर्य वस्तुओं की उत्पत्ति मात्र से ही नहीं है। जबतक भोक्ताओं की पहुँच उनतक नहीं होती तबतक वे 'उत्पादित' कही नहीं जा सकतीं। इसीको लक्ष्य करके एली ने कहा है कि वस्तु उस दशा तक पूर्णतः उत्पादित नहीं जबतक वे माँगी जाने वाली शकल के अनुरूप न हों, उस स्थान पर न हों जहाँ उनकी जरूरत है और उस समय में न मिलें जब उनकी जरूरत हो। (द) कुछ लोग कहते हैं कि आधिपत्य के बदल देने से भी भौतिक साधनों की उपयोगिता बढ़ जाती है। समाजवादी और साम्यवादी इसीलिये राष्ट्रीयकरण की दोहाई देते हैं। (ध) कुछ लोग सेवाजन्य उपयोगिता को भी मानते हैं और तमाशा दिखलाकर, या कोई काम करके पैसा कमाने की क्रियाओं को वे इसके उदाहरण में उपस्थित करते हैं। लेकिन चोरी करना, दान लेना, या भीख माँगना इत्यादि आर्थिक प्रयास नहीं कहे जा सकते क्योंकि इनका कोई संबंध ठोस उत्पादन से नहीं और यह केवल आधिपत्य के हस्तान्तर का, और वह भी दुःखद और अहितकर हस्तान्तर का सवाल है।

उत्पादन केवल भौतिक पदार्थों का ही नहीं होता बल्कि अभौतिक चीजें भी उत्पन्न या प्रसूत की जाती हैं। जरूरी चातुरी और शक्तियों से व्यक्तियों को सम्पन्न करना और अभौतिक सम्पत्ति के अगणित रूपों को व्यक्त करना—जैसे पेशा-सम्बन्धी सेवाएँ—अभौतिक वस्तुओं का उत्पादन मात्र हैं। यहाँ "उत्पादन" और "अर्जन" के स्थूल विभेदों को समझ लेना चाहिये। 'अर्जन'—कमाना—का सीधा अर्थ है ऐसे कार्यों के द्वारा धन कमाना जिन्हें प्राकृतिक साधनों (खासकर भूमि) की सहायता के बिना किया जाता है। मिलों में खटना, व्यापार

करना, महाजन या दलाल का काम करना, आदि इनके उदाहरण हैं। इसके विपरीत 'उत्पादन"–उपजाना—का मतलब भूमि, पशु पक्षी, पेड़-पौधों, आदि से कुछ आमदनी प्राप्त करना है। अन्न उपजाना, फल-फूल, शाक-भाजी उपजाना, मछली मारकर बेचना, अंडा बेचना, आदि, काम इसके अन्तर्गत आते हैं। कुछ लोग कमा भी सकते हैं और उपजा भी सकते हैं।

विस्तृत उत्पादन के लिये विस्तृत खपत की आवश्यकता
(Mass Porduction requires Mass Consumption)

व्यापक उत्पादन के लिये व्यापक खपत की नितान्त आवश्यकता है। उत्पादन के लिये निम्नलिखित उपादानों एव साधनों की विद्यमानता विचारणीय और स्पृहणीय है। इसपर खपत की विशेषतावाले प्रसंग में यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

(क) किसी भी राष्ट्र का उत्पादन साधनों और उपादानों पर निर्भर करता है। इसके लिए मानव-शक्ति, पूँजी और माल की जरूरत है। यदि किसी देश की जन-संख्या गुण और संख्या के ख्याल से अधिक है तो उसका उत्पादनकार्य भी विशद होगा। जिस देश को अन्न और कच्चा माल अधिक है वह इस कार्य में अधिक सफल होगा। देश के धनी होने से माँग भी अधिक होती है और खपत की अधिकता से उत्पादनकार्य भी अधिक होता है।

(ख) विधान और वैज्ञानिक अनुसन्धानों की उन्नति एवं प्रगति पर भी उत्पादन की विशेषता या न्यूनता निर्भर करती है। औद्योगिक आन्दोलन का ही फल है कि आज यूरोप और अमेरिका इतने विशाल उत्पादक राष्ट्र हो चुके हैं। उनकी सम्पत्ति और शक्ति कई गुनी हो गई है। वहाँ के निवासी सुख और आनन्द का उपभोग कर रहे हैं। दानव-से विशालकाय यंत्र आज मनुष्य के लघु-हस्तों की जगह जो अद्भुत कार्य करते हैं वह विधान की प्रगति और वैज्ञानिक उत्थान की ही देन है।

(ग) राजनीति भी एक प्रधान चीज है। यदि शासक दिलचस्पी के

साथ निरीक्षण करता है, वैज्ञानिक और वैधानिक उत्कर्ष में सहायता देता है, शिक्षा का चतुर्दिक प्रसार करता है तो उत्पादन का कार्य अवश्यमेव पनपता जाता है।

(घ) बैंक, रुपए-पैसे के विनिमय तथा आवागमन की सुविधाओं से उत्पादन-कार्य को बड़ा सहारा मिलता है। व्यवस्थापक को कितनी एजेन्सियों से आर्थिक सहायता और प्रोत्साहन मिल सकता है। पूँजी से उत्पादनकर्त्री मशीन में स्निग्धता और गति का उद्भव होता है क्योंकि यह उसमें स्नेह (तेल) का काम करती है। आवागमन के सुभीते से चीजें शीघ्रतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजी और मँगायी जा सकती हैं।

(च) प्राकृतिक तत्व को भी समझना उचित है। जलवायु, मिट्टी, पर्वत-सरिताएँ—सभी प्रकृति की देन हैं। उनसे उत्पादन में जो मदद मिलती है वह सदा अल्पकथ्य है। बाढ़ों, भूकम्पों और अन्य प्राकृतिक आपत्तियों से मानव का काम बिगड़ जाता है। प्रकृति की शक्तियों को मानव-हितार्थ उत्पादन के कार्य में तल्लीन करना हमारा कर्त्तव्य होना चाहिये।

मानव की असंख्य इच्छाओं की पूर्त्ति के लिये ही उत्पादन कार्य चलता है जिसके द्वारा समाज को वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त होती हैं। पर कोई भी देश मनुष्य की सभी इच्छाओं को पूरा नहीं कर सकता है। "Production is the process of adding to, consumption of substracting from the total inventory of stock" (Boulding)

विस्तृत खपत की सीमाएँ (Limitations of Mass Consumption)

बहुत-से लोग तर्क करते हैं कि यदि उत्पादन का चक्र चलता रहे तो मनुष्य की सभी इच्छाएँ एक-एक कर पूरी हो जायँ। उत्पादन को उच्चतम विन्दु तक पहुँचा देना ही सब कुछ है। सभी कर्मचारियों को प्रवीण बनाया जाय और आधुनिक ढंग और मशीनों का उपयोग हो।

गत युद्ध से इस बात को सिद्ध करने में आसानी हुई है। अमेरिका प्रतिदिन ५००० वायुयानें तैयार करता था। यदि यही प्रगति रहे तो प्रत्येक व्यक्ति के पास एक यान हो जायगी ! युद्ध की सामग्रियाँ भी विशद और द्रुतगति से उत्पन्न हो रही थीं। सभी मशीनों की इस जादूपूर्ण करामात पर दंग हैं। विश्वव्यापी युद्ध में उत्पादन की जो गति थी यदि वही उत्तरकाल में भी बनी रही तो भोक्ताओं की चीजें अत्यधिक परिमाण में बनेंगी और बाजार उनसे भरा रहेगा। एक दिन जरूर अत्युत्पादन की समस्या उपस्थित होगी। उत्पादन मानवीय इच्छाओं को छू सकने में समर्थ नहीं। पर यदि दूसरी दृष्टि से विचार किया जाय तो यह धारणा असत्य जान पड़ेगी। उत्पादन को किसी भी देश में बढ़ाया जा सकता है।

इसके लिये नई मशीनों की आवश्यकता पड़ेगी। मजदूर दलों में शिक्षा का प्रसार करना होगा। सभी देशों के उद्योग-प्रबंधकों को कुछ-कुछ सीखना है। कृषि की चूड़ान्तक उन्नति अभी नहीं हुई है। आवागमन के साधनों को विशद करना है। प्रत्येक क्षेत्र में विकास की जगह है। यदि इनको सम्पन्न किया जा सके तो आज की अपेक्षा आगे मनुष्य की माँगों को अधिक रूप से पूरा किया जा सके। पर उत्पादन की परिमित शक्ति को हमें पग-पग पर महसूस करना होगा। कितने देशों में यह शक्ति बहुत ही क्षीण है। यदि बात ऐसी नहीं होती तो देश दुर्भिक्ष और बहुमृत्यु की यातनाओं का शिकार नहीं बनता। याचकों और भिखारियों से हरएक देश भरा है। नंगा बदन या भूखा पेट सर्वत्र कुछ-न-कुछ संख्या में जरूर मिलेगा। दूसरी बात यह है कि मनुष्य की इच्छाएँ सीमित नहीं हैं, वे अपरिमित हैं। वे दिन-पर-दिन बढ़ती जाती हैं। दुनिया की आबादी बढ़ रही है। रहन-सहन भी बढ़ता ही जा रहा है। उत्पादन उसका पीछा कठिनता से ही कर सकता है। मनुष्य का निर्माण ही इस रूप में हुआ है कि वह संतुष्ट होना जानता ही नहीं है। इसके बारे में हम पीछे लिख चुके हैं। एक समय में हमारी सभी इच्छाएँ यदि पूरी भी हो जाएँ तो भी हम संतुष्ट

होने को नहीं। हाँ, यदि कल्पतरु या कामधेनु हमें मिल जाय, अलाउद्दीन का चिराग प्राप्त हो जाय तो हमारी संभव और असंभव इच्छाओं की पूर्त्ति हो सके। यदि कामधेनु या कल्पद्रुम हाथ लग गया तो आर्थिक प्रश्न ही चूल्हे में चले जायँगे। अन्यथा एक इच्छा की पूर्त्ति के लिये उत्पादक साधनों को दूसरी इच्छा की पूर्त्ति-कार्य से विमुख करना ही होगा। फलतः इच्छाएँ कम-बेशी रूप से पूरी की जायेंगी।

अत्युपादन का प्रश्न गत व्यापारिक मन्दी में बहुत शोचनीय हो गया था। यह बात नहीं थी कि चीजें नहीं चाही जाती थीं। लोगों के पास पैसे का अभाव था। माँगें प्रभावपूर्ण नहीं होती थीं। उत्पादन-कर्त्ता घाटे पर वस्तुओं को न बेचकर उन्हें जमा करते गए। इस तरह उत्पादन की अधिकता हो गई। बात तो यह है अधिक मूल्य पर बचत भी अधिक होगी। पूर्णता के बीच में अभाव उस दशा में हो सकती है जब अन्न और वस्तुओं का उत्पादन अधिक हो पर लोगों के पास उन्हें मोल लेने का पैसा नहीं हो। अतः निरपेक्ष अत्युत्पादन की कल्पना करना असंगत है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि हम "औद्योगिक संगठन" में किन मसलों के ऊपर विचार करने जा रहे हैं। वैयक्तिक औद्योगिक संगठन में निकट लक्ष्य तो मुनाफा कमाना ही होता है। लेकिन उसके सहारे समाज की भलाई करना उसका अन्तिम लक्ष्य होता है। सार्वजनिक औद्योगिक संगठन में यह बात विपरीत है। उसमें कोई उद्योग जन सेवा-भाव या गैर-मुनाफा के अर्जनभाव से प्रेरित रहता है। सरकारी उद्योगों में अगर समूची लागत और समूची आय जो बिक्री से मिल जाय दोनों समान हों या लागत कुछ अधिक भी हो तो सरकार मुनाफा का ख्याल नहीं करेगी और वह घटी को सामान्य राजस्व से पूरा कर लेगी। खास हालतों में सरकारी उद्योग-धंधे व्यावसायिक ढंग पर चलाये जाते हैं और उनमें लाभार्जन की वृत्ति काम करने लगती है। साधारणतया सरकार सस्ते दाम पर जीवन की जरूरी चीजों को बेचने का प्रयास करती है और इसी

दृष्टिकोण से उत्पादन किया जाता है। घटी उठाकर भी सरकार को कुछ उद्योगों को चलाना सार्वजनिक कल्याण में आवश्यक हो जाता है। सरकार निपुणता बढ़ाने और नुकसान या फिजूलखर्ची को कम करने की बराबर कोशिश राष्ट्रीयकरणकृत उद्योग-धंधों में करती है।

यदि हम आज से २५० वर्ष पूर्व जिन्दा होते तो हमें इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता कि उस समय जो औद्योगिक संगठन था और आज जो औद्योगिक संगठन हम देख रहे हैं उन दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है और यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी हो कि अन्तर का बखेड़ा उठाना ही फिजूल है। इस कारण से यह जान लेना अनिवार्य हो जाता है कि किस तरह वर्तमान औद्योगिक सगठन का क्रमिक विकास हुआ है।

समाज की प्रथम प्रधान अवस्था सामन्तशाही (Fendalism) है। इस दर्जे में उद्योग-धधे के ऊपर कुछ सामन्तों या अभिजात्यों का एकाधिपत्य था और उनमें श्रमिकों को गुलामों की तरह खटना पड़ता था। बेढगे औजारों से काम लिया जाता था। शक्ति-संचालित मशीनरी का आविर्भाव नहीं हुआ था। एक विद्वान् के शब्दों में उद्योग को तरफ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं देखा जाता था। प्रत्येक गांव आत्मपूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता और श्रम-विभाजन या एकाग्र-चित्तता का सर्वथा अभाव था। कृषि की प्रधानता थी, उद्योग की गोणता। इस युग में पारिवारिक या गार्हस्थ्य (Family or House-hold) उत्पादन-पद्धति की प्रधानता थी। हरएक परिवार या गृह आत्म-पूर्ण होता था। सभी आर्थिक कार्य उसीमें केन्द्रित होते। फिर भी पति-पत्नी, सदस्य-सदस्य के बीच सामाजिक श्रम-विभाजन था जिसको लक्ष्य कर कहा गया है "Adam delves and Eve Spins"। यह थी श्रम-विभाजन differentia. tion की प्रवृति। श्रम-समन्वय (Indegration) की प्रवृत्ति का खासा उदाहरण कि पत्नी पति के लिये चाय तैयार करती या अधिक

पतिपरायणा या पतिभक्ता होने पर जूते में पालिश भी लगाती थी आज भी हमें परिवारों में दृष्टिगोचर होता है।

सामन्तशाही के अन्त के पश्चात् उद्योग-धंधों की प्रणाली में कुछ रद्दोबदल हुआ। "गील्ड" की परिपाटी चली। मजदूरी कमानेवालों का एक पृथक वर्ग पैदा हुआ। आगेचलकर गील्ड की परिपाटी भी मिट गई और उसकी जगह उत्पादन का घरेलू अथवा गृह-पद्धति पुष्ट हुई। यहीं से औद्योगिक संगठन में पूंजीवादी वर्ग का पैर जमना शुरू हुआ। खेतिहर अपने घर में काम करते थे। उद्योगशाला-फैक्टरी-का पदार्पण नहीं हुआ था। उन्हें औजारों को मोल लेने के लिये पूँजी-पतियों से कर्ज काढ़ना पड़ता था। उत्पादन छोटे पैमाने पर होता था। इसलिये फैक्टरी सिस्टम की बुराइयों का नामोनिशान भी नहीं था। इसके बाद दूसरा दर्जा आया। इसे Handicraft System अर्थात् हस्तकारी प्रणाली कहते हैं। इसमें थोड़ा-सा विशिष्टीकरण (Specialisation) शुरू हुआ। परिवार अब न तो अपनी सभी जरूरतों को खुद पूरा करते और न वे केवल अपनी ही जरूरतों को पूरा करते। वे एक दूसरे पर अपनी कुल जरूरतों को पूरा करने के लिये निर्भर करने लगे और प्रत्येक परिवार कुछ खास जरूरतों को स्वयं पूरा करने लगा। अभी भी गाँव के लोहार या बढ़ई या मिस्त्री या कारीगर इस तरह की अवस्था के द्योतक या निशानी हैं। इस अवस्था की चार उपावस्थाएँ हुईं। प्रथम उपावस्था में गाँव के कारीगर बहुत ही सीधी-सादी चीजें तैयार करते और उनका आदान-प्रदान, विनिमय अपने अड़ोस-पड़ोस में कर लेते थे। द्वितीय उपावस्था में आवागमन के साधनों का विकास हुआ। शहर बसने लगे। सड़कों या जल-मार्गों द्वारा (नदियों में नावों के द्वारा) गाँवों और शहरों के बीच लोगों का आना-जाना, क्रय-विक्रय शुरू हुआ। शहरों के द्वारा देहात के लोग बहुत आकृष्ट होने लगे। नतीजा यह हुआ कि वे शहरों में अधिक बसने लगे। शहरों की आबादी बढ़ने लगी। फिर भी शहर और देहात में अन्तर बना ही रहा। खेती-बारी करना

देहातों का प्रधान पेशा था, उद्योग-धन्धे शहरों के प्रधान पेशा बने। तृतीय उपावस्था में श्रम-विभाजन और बढ़ा। बहुत तरह के रोजगार निकले। श्रमविभाजन क्षैतिज (Horizontal) और शीर्ष (Vertical) आधारों पर होने लगा। चतुर्थ और अन्तिम उपावस्था में लोग "देहात की ओर' लौटने लगे। उद्योग-धन्धों का विकेन्द्रीयकरण और प्रसारीकरण हुआ। कृषि तथा उद्योग दोनों में समन्वय स्थापित हुआ। कारीगर खेतिहर भी होने लगे। इस उपावस्था को अंगरेजी में Backwash कहते हैं।

तीसरा दर्जा सौदागर-प्रथा (Merchanting System) थी। उत्पादकों और उपभोक्ताओं के दो दल बिखर चुके थे। सौदागरों या व्यापारियों को इन दोनों दलों के मध्यस्थ का काम करना पड़ा। उनका समूह इन दोनों दलों के बीच संयोजक कड़ी (Middle Link) बना। उनका काम कच्चे माल उपजाने वालों से कच्चे मालों को खरीदकर पक्का माल बनानेवाले उत्पादकों या कारीगरों के हाथों बेचना, फिर कारीगरों से तैयार माल खरीद कर उपभोक्ताओं के हाथ उन्हें बेचना था। वे कारीगरों को औजार वगैरह भी खरीदकर देते। कुछ पूंजी भी वे उधार देते थे। इस तरह श्रम-विभाजन का विस्तार बढ़ा। योजना करनेवालों और मिहनत करनेवालों (Those who plan and those who toil) के बीच श्रम-विभाजन होने लगा।

अब तीसरा दर्जा आ धमका। औद्योगिक क्रान्ति हुई और उससे आज के औद्योगिक संगठन का शिशु प्रसूत हुआ। औद्योगिक साधनों और ढंगो में अद्भुत क्रान्ति हुई। उनका प्रचुर अभ्युदय हुआ। उद्योग-शाला या कारखाने (Factory) की परिपाटी चल पड़ी। मूल्यवान् मशीनों को (जो खुद मशीनों से बनाई गई थीं) स्थापित किया जाने लगा। ये वाष्पीयशक्ति (Power) द्वारा चलाई जातीं। सीधे-सादे औजारों का जमाना लद गया। अब जो औद्योगिक संगठन आया उसमें मिहनत करनेवाले अगणित मजदूरों तथा उनपर शासन करनेवाले थोड़े मालिकों का संयोग (Regimentation of the

many who work and the few who control) का मुकाबला हुआ। अब वैज्ञानिक सगठन का जादू उद्योगों के सिरपर चढ़कर बोलता है। यह मशीनों का युग है, मजदूरों का नहीं। पहले चतुर और विज्ञ मजदूरों की जरूरत पड़ती थी, अब ठीक और निपुण मशीनों की। चतुराई मजदूरों से हटती जा रही है और उसका सन्निवेश मशीनों में होता जा रहा है। कम चतुर मजदूरों से भी अब काम चल जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम चौकन्ना रहें और मशीनों को होशियारी से चलावें। उद्योग-धंधों का देश-विदेश में स्थानीय-करण (Localisation) हुआ है। इसके साथ मजदूरों और पूंजी के स्रोतों का भी स्थानीयकरण हुआ है। मजदूरों की कोलोनियाँ—बस्तियाँ—हैं और वे बड़े तड़के अपने मुफस्सिल के घरों से रेलगाड़ी पर चढ़कर कारखानों में पहुँच जाते और अपने काम पर डट जाते हैं। वैज्ञानिक प्रबन्ध और रैशनलाइजेशन (विवेचनीकरण) के सितारे बुलन्द हुए हैं। और यह रवैया दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। आज के औद्योगिक संगठन—इन्डस्ट्रियल सिस्टम—का प्रधान लक्षण वह चहारदीवारी नहीं जिसके बीच मजदूरों को काम करना पड़ता है बल्कि पृथकता की वह तीव्रता (sharpness of the cleavage) है जो बहुत मजदूरों और उनके थोड़े मालिकों के मध्य विद्यमान है।

इस प्रकार वर्तमान औद्योगिक प्रणाली के निम्नलिखित विशिष्ट लक्षण हैं—(१) समन्वय (२) विशिष्टीकरण और आत्यंतिक श्रम-विभाजन (३) प्रामाणिकता (४) मेकनाइजेशन—यंत्रीयकरण (५) श्रम, स्वामित्व, तथा प्रबन्ध के बीच का वियोग (६) मुनाफा अर्जन करने का उद्देश्य। समन्वय को Integration या Aggre-gation कहते हैं। इसके अनुसार औद्योगिक फर्मों का विस्तार बढ़ता है और औद्योगिक प्रभुता केन्द्रित होती है। आज संयुक्त पूँजी की कम्पनियों का—कारपोरेशनों—तथा समन्वयों—कम्बिनेशनों—का अत्यधिक प्रचलन है। विशिष्टीकरण—Specialisation—के अनुसार हम विशेषज्ञ अधिक हो रहे हैं, बहुज्ञ कम। हम किसी

एक ही विषय के बारे में अधिकाधिक जानने लगे हैं। इससे उद्योगों की निपुणता बढ़ती है। लेकिन श्रम-विभाजन के अति होने से कुछ खराबियाँ भी उत्पन्न होती हैं जिनका वर्णन हम आगे करेंगे। उसी तरह जितनी चीजें आज मशीनों से तैयार की जाती हैं उनकी सभी अददें एक रूप और प्रामाणिक (Standerdized) होती हैं। इससे चीजों का उत्पादन बड़े पैमाने पर संभव होता है। इससे उत्पादन में सहूलियत होती है। चीजों का विक्रय भी शीघ्र और सुविधापूर्ण होता है। उनके दाम भी कम होते हैं। फिर आधुनिक उत्पादन मशीनों के ऊपर पूर्णरूप से निर्भर है। इसे ही यंत्रीयकरण या मेकनाइजेशन कहते हैं। अगर सहसा सभी मशीनें विलुप्त हो जायँ या धोखा दे जायँ तो उत्पादन की कठिनाइयों का पारावार नहीं रहे और बहुत अंशों में वह असंभव हो जाय। इतना ही नहीं, इन दिनों जो उत्पादन होता है वह एक उद्योग प्रणेतावाली (Single Entrepreneur System) नहीं है। इस प्रणाली में एक ही व्यक्ति सर्वस्व होता है--वही उद्योग का स्वामी होता, प्रबन्ध करनेवाला होता है, उसके मजदूरों की संख्या थोड़ी होती है और उनके साथ उनका घनिष्ठ संबंध रहता है जिसे वैयक्तिक संबंध कह सकते हैं। अबके कारपोरेट सिस्टम में उद्योग में पूँजी लगाने वाले दूसरे व्यक्ति होते हैं और उसकी देख-रेख करने वाले दूसरे। मालिक अपने मजदूरों से व्यक्तिगत रूप में परिचित नहीं रहता। उसका मतलब मजदूरों से नहीं रहता, उनकी संख्या से रहता है। इस तरह मजदूरों और उनके मालिक में काफी पार्थक्य हो गया है। यह पार्थक्य मजदूर-संघों (Trade unionism) के कारण उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। अन्तिम लक्षण मुनाफा अर्जन करने की प्रवृत्ति है। यही आधुनिक उद्योगों की जान है। मुनाफा साधन होने के बदले साध्य हो गया है।

ऐसे जो औद्योगिक संगठन निकला उसके हितकर प्रभाव पड़े हैं। अब आदमी पहले से अधिक होशियार और समझदार हो गया है।

समाज के ऊपर पहले दर्जों का जो दबदबा था वह दूर हो गया। अब सबको आर्थिक स्वातंत्र्य (Economic Freedom) उपलब्ध है।

आर्थिक स्वराज्य या स्वतंत्रता (Economic Freedom)

कुछ लोग कहते हैं कि आधुनिक युग का प्रधान धर्म प्रतियोगिता है। यह हम मानते हैं कि व्यवसाय के नये रूप अपने पुराने रूपों से अधिक प्रतियोगिताशील होने के कारण अलग हैं। फिर भी प्रतियोगिता शब्द से आधुनिक युग की विशेषता नहीं प्रकट होती है। प्रतियोगिता का ठीक अर्थ तो एक मनुष्य के दूसरे से जूझ पड़ने से है जैसा कि वे खरीद-बिक्री करने के वक्त करते हैं। वर्तमान काल की यह विशेषता कदापि नहीं हो सकती। प्रो० मार्शल ने वर्तमान युग के लक्षण बतलाते हुए लिखा है कि इसमें प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित स्वतंत्रता प्राप्त है, उसे चयन-स्वराज्य प्राप्त है कि वह अपने मार्ग को चुन सके। उसे आत्मनिर्भरता का आश्रयण स्वीकार करना होगा। इस युग में निर्णय करने की स्वतंत्रता है। लोगों को न्याय और चयन के लिये उत्कट रहना होगा। भावी घटनाओं का वक्तव्य दिया जा सकता है। दूरवर्ती लक्ष्यों को लेकर ही हमारा मार्ग और हल ठीक हो सकता है। प्रतियोगिता की अपेक्षा इस युग में लोग संगठन और सहयोग को अधिक प्रधानता देते हैं। प्रो० मार्शल की धारणा है कि वर्तमान युग की व्याख्या हम "आर्थिक स्वराज्य" अथवा "उद्योग तथा साहस का स्वराज्य" शब्दों से कर सकते हैं। 'प्रतियोगिता' शब्द से स्वार्थ और सुरक्षा से विमुखता का भाव टपकता है। स्वार्थ और सेवा की मात्राएँ भी बदल गई हैं। यदि पहले की अपेक्षा स्वार्थ की मात्रा अधिक है तो सेवा की मात्रा भी पहले से कम नहीं है। आधुनिक युग की विशेषता सावधानता है, स्वार्थ नहीं।

"उद्योग तथा उत्साह का स्वराज्य" पद-समूह से अच्छे या बुरे नैतिक विशेषण नहीं प्रगट होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आधुनिककालीन व्यवसाय में अधिक आत्मनिर्भरता और अभ्यास

है, अधिक सावधानी तथा पूर्व विचार है, अधिक चयन-स्वराज्य है। इससे पाँच बातें प्रकट होती हैं। वे ये हैं :—

(१) भ्रमण की स्वतंत्रता : एक ही देश में एक स्थान से दूसरे स्थान में अथवा एक देश से दूसरे देशों में भ्रमण की स्वतंत्रता से इसका तात्पर्य है। पूँजी तथा श्रमिकों को भी घूमने में यही स्वतंत्रता मिली है। पूँजी या मजदूर-दल एक स्थान से दूसरे स्थान में घूम सकते हैं जहाँ उनका परिश्रमिक अधिक मिल सके। इस स्वतंत्रता से साधन और व्यक्ति की उत्पादन करने की क्षमता बढ़ सकती है।

(२) कार्य करने का स्वराज्य : इस युग में एक कार्य से दूसरे कार्य में प्रविष्ट हुआ जा सकता है। मजदूर उस काम को चुन सकते हैं जो अधिक पारिश्रमिक देनेवाला है। इससे मजदूरों में प्रतियोगिता की मात्रा बढ़ जाती है। फलस्वरूप उनकी क्षमता और उत्पादन शक्ति भी विकसित हो जाती है। इससे दूसरा लाभ यह होता है कि किसी ठीक स्थान में काम करने के लिये योग्य व्यक्ति लगाया जाता है। इससे भी उत्पादन बढ़ता है तथा वितरण और उत्तम हो जाता है। पुराने समय में कुछ ऐसी संस्थाएँ हुआ करती थीं जो लोगों की अभिलाषा पर निर्भर रहती थीं और कितने लोगों को मनचाहा काम नहीं करने देती थीं।

(३) समागम की स्वतंत्रता : आर्थिक उद्देश्यों से मजदूर और पूँजी की मंडलियाँ बनाई जा सकती हैं। मजदूरों को 'ट्रेड यूनियन' स्थापित करने की स्वतंत्रता है। पूँजीपति भी ट्रस्ट और कारटेल कायम कर सकते हैं। ट्रेड यूनियन श्रमिकों की दशा को सुधारते हैं। इससे उनकी योग्यता और कार्यशक्ति बढ़ जाती है। इससे पुनः उत्पादन में बढ़ती होती है। कारटेल और ट्रस्ट देश की पूँजी को बढ़ाते हैं। वे उत्पादन के खर्च को कम करते और प्रतियोगिता से होनेवाली क्षति को दूर करते हैं।

(४) उपयोग करने की स्वतंत्रता : प्राचीन काल में नियम बना दिये गये थे कि लोग क्या खा-पी, पहन-ओढ़ सकते हैं। यद्यपि ये लोगों

की भलाई के ख्याल से बनाये जाते थे तथापि वे बहुत ही दोषपूर्ण थे। वे मानवीय इच्छाओं को संकुचित कर देते थे। इससे आर्थिक प्रगति रुक जाती थी। आधुनिक समाज ने इस व्यवस्था का सर्वथा परित्याग कर दिया है।

(५) उत्पादन और व्यापार करने की स्वतंत्रता : लोगों की धारणा भी है कि सरकार सदा शासितों का हित ही नहीं करती। वह सभी समय चतुर और विज्ञ ही नहीं होती। धीरे-धीरे पूँजी और प्रतियोगिता का विकास होता जा रहा है। यदि ऐसी हालत में जटिल नियमों को भंग कर दिया जाय तो उस उत्पादन का जो गला घोंटा जाता है और व्यक्तिगत उमंग पर जो नियंत्रण डाला जाता है बन्द हो जाय। मध्ययुगीन प्रतिबन्धों से वाह्य और आन्तरिक व्यापार मुक्त कर दिये गये हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उत्पादन और व्यापार की स्वतंत्रता से देश की सम्पत्ति बढ़ती है।

आर्थिक स्वराज्य का उत्पादन पर प्रभाव :—ऊपर के दीर्घकाय विवेचन से तो यही ज्ञात होता है कि आर्थिक स्वराज्य से उत्पादन में बड़ी मदद मिलती है। बात बहुत ठीक है। इससे उत्पादन के एजेन्टों (साधनों) में तीव्र प्रतियोगिता उठ खड़ी होती है। प्रत्येक कर्मचारी अपनी शक्ति को बढ़ाकर अधिक पैसा कमाना चाहता है। बड़े पूँजीपति वैज्ञानिक अनुसंधान को प्रोत्साहन देते हैं और इस प्रकार नई खोजों से प्रगति में वेग आता है। प्रतियोगिता से जो क्षति होती है उसे दूर करने की धुन में आज सभी लोग तन्मय हैं। आर्थिक स्वराज्य से अपेक्षित लाभ नहीं हो सके हैं क्योंकि राज्य बहुत अंशों में उदासीन रहा है। यह उसी समय पूर्णतया सफल हो सकता जब राज्य व्यापारिक आन्दोलन की सहायता करे और मार्ग के रोड़ों को हटा दे। आर्थिक स्वराज्य के कुछ बड़े दोष ये हैं :—

(१) इससे आशा की गई थी कि व्यक्तिगत उमंग बढ़ेगी किन्तु वह आज उतनी विकसित नहीं हो सकी है। प्रवीणता लाने का कोई भी सफल कार्य इसके द्वारा नहीं हो सका है। राज्य से अनुसंधान करने

का पूरा व्यय लोगों को नहीं दिया जा सकता। शिक्षा-प्रसार का काम भी कम ही चलता है।

(२) इस स्वतंत्रता से भले ही साधारण स्थिति का आदमी बड़ा बन सके फिर भी इससे ऐसे अवकार-प्राप्त लोगों को व्यवसाय के क्षेत्र से दूर हटाने का कोई प्रबन्ध नहीं जो एकदम निकम्मे हैं। उनका जगह भरे रहना दूसरों को उन्नति करने में बाधक है।

(३) Laisses faire का अर्थ है कि सभी को समान अवसर दिया जाय कि वे उन्नति कर सकें। पर हम देखते हैं कि सम्पत्ति का बँटवारा ही विषम है और बिना समान वितरण के यह आशा करना कि सभी उन्नति कर सकते हैं कल्पना और विश्वास के परे की बात है। किसी भी व्यवसाय के लिये पूँजी की जरूरत होती है पर थोड़ी या बहुत पूँजी को एकत्र करना कितने लोगों के लिये पहेली के समान है।

(४) वर्गगत द्वेष और घृणा की समस्या भी कठिन ही है। मध्यवित्त का आदमी अपनी श्रेणी के व्यक्ति को चाहेगा। वह निम्नवित्त के आदमी को नहीं चुन सकता है भले ही वह योग्य हो। वर्गगत द्वेष से जन-धन का पूरा संतुलन नहीं हो पाता। फलतः पूँजी और मिहनत-संबंधी कितनी क्षतियाँ उठानी पड़ती हैं।

आर्थिक स्वतंत्रता के अतिरिक्त अब श्रम-विभाजन का प्रचुर प्रचार हुआ। वैज्ञानिक साधनों का भरपूर उपयोग होने लगा। समाज में शान्ति और सुरक्षा कायम हुई। पूँजी और सम्पदा का अधिकाधिक संचय या संग्रह हुआ। अनुसन्धान और अन्वेषण हुए। इनसे उत्पादन के टेकनिक की उन्नति हुई और उसका संगठन भी परिष्कृत और सुदृढ़ बना। यह कल-कारखानों की स्थापना का ही परिणाम है कि इंगलैंड-- जैसे औद्योगिक देशों ने नए-नए इलाके जीते और कोलोनियाँ बसाईं जहाँ बढ़े-चढ़े दाम पर उनके तैयार माल बेचे जाते और खपते थे। इससे यातायात एवं आवागमन के साधनों की संवृद्धि हुई और जन-संख्या भी बढ़ी। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि आज के उन्नत और समृद्ध देशों की जो इतनी तरक्की हुई है उसका श्रेय इस तरह के औद्योगिक संगठन को ही है।

फिर भी हम इस बात को छिपा नहीं सकते कि आधुनिक औद्योगिक पद्धति की इन विशेषताओं के साथ कुछ अवगुण भी हैं जिनसे हम आँखें नहीं फेर सकते। यह पद्धति दाम की प्रणाली (Price Mechanism) पर अवलम्बित है। जिसके पास क्रय-शक्ति है वही अपनी आवश्यकताओं (needs) की पूर्त्ति कर सकता है। धनी लोगों को बड़ा आनन्द है। गरीब लोग परेशान हैं। "दाम की प्रणाली" शीर्षक अध्याय में हम इस विषय पर विशेष प्रकाश डालेंगे। उपभोक्ताओं की सार्वभौमिकता (sovereigenty) का आज कोई मतलब नहीं रह गया है। एकाधिकारों (monopolies) का बड़ा जोर-जुल्म है। बर्नार्ड शॉ ने लिखा था "पूँजीवाद में विवेक या चेतना (conscience) नहीं है। उसकी आकांक्षा मुनाफा है और इसका देवता है स्वर्ण।" व्यक्तिगत स्वार्थ और सामाजिक स्वार्थ में काफी संघर्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। जो अधिक लाभदायी उद्योग-धंधे हैं उनकी ही वृद्धि हो रही है और ये विलास और आराम की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। कम लाभदायी उद्योग-धंधों में जीवन की अति आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है और इसलिये उनकी संख्या दिनों दिन कम होती जा रही है। वर्ग-वर्ग का संघर्ष बढ़ता जा रहा है। धन और आय का वितरण असमान होता जा रहा है। मजदूरों को पर्याप्त मजदूरी नहीं मिलती। औद्योगिक संगठन का ढाँचा पहले प्रजातंत्रात्मक था। बाद में वह कुलीनतंत्रात्मक हो गया। अब उसकी तीसरी अवस्था है और वह वर्ग-तंत्रात्मक (oligarchical) हो गया है। छोटे शेयराधिपतियों और उद्योगपतियों की कोई मान्यता, कोई इज्जत नहीं रह गई। पूँजीवाद का तथा-कथित स्वर्णिम नियम (Golden Rule) एक ढोंग मात्र है। इससे मजदूरों की जोखिमें कम नहीं होतीं। वैज्ञानिक प्रबन्ध और रैशनलाइजेशन से मजदूरों की दुर्दशा ही होती है। उनका अधिक शोषण होता है। उनकी बेकारी बढ़ती जा रही है। व्यापार चक्रों के रह-रहकर पैदा हो जाने से समाज में संकट के बादल मड़राने लगते हैं। समाज में न न्याय है, न शांति, न सुरक्षा ही है। इससे उसकी प्रगति मन्द

पड़ गई है। दो विश्व-युद्धों से लोगों की तबाही और बढ़ गई है। स्वाभाविक अवस्था में समाज अभी तक नहीं पहुँच सका है। इधर मुद्रा-स्फीति (Inflation) की विभीषका है। उधर राजनैतिक तनातनी प्रत्येक देश में पुष्ट होती जा रही है। "वादों" में संघर्ष है। आम जनता खुश नहीं है। वह बेचैन है। आर्थिक विकास के साथ मानवीय संबंधों का विकास नहीं हो सका है। आज मानवता की शाश्वत पुकार चतुर्दिक सुनाई पड़ रही है। एक नूतन औद्योगिक संगठन के लिये लोग लालायित दीख पड़ रहे हैं।

आज परिस्थितियाँ और मनोवृत्तियाँ बड़े वेग से बदलती जा रही हैं। हमारे समक्ष एक नए औद्योगिक संगठन के निर्माण करने की समस्या है। यह स्पष्ट है कि वर्तमान औद्योगिक संगठन अपने कर्त्तव्य का उचित ढंग से पालन नहीं कर रहा है (has failed to deliver the goods)। इसलिये उसके उन्मूलन या विघटन की जरूरत अधिक हो गई है। एक ऐसी औद्योगिक प्रणाली का श्री-गणेश करना होगा जो वर्तमान प्रणाली की त्रुटियों से वंचित हो और निर्दोष भी हो। लेकिन इसके लिये काफी सोच-विचार और बुद्धिमत्ता की आवश्यकता होगी। यों तो आदर्श बड़ा आकर्षक और रंगीला होता है। मगर वह ऐसा न हो कि केवल एक मृग-मरीचिका (mirage) ही सिद्ध हो सके।

आज हमारे सामने तीन वाद हैं—पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद। हम आगे चलकर इनका संक्षिप्त उल्लेख करेंगे। लेकिन ये क्या हैं इससे तो हम सब लोग अवगत हैं। दुनिया में पूँजीवाद का प्रभाव अब कम होता जा रहा है। समाजवाद का नारा बुलन्द हो रहा है। साम्यवाद समाजवाद से आगे की चीज है। रूस में भी वह अभी कायम नहीं हो सका है। समाजवाद वहाँ कायम है, और किसी देश में नहीं। पूँजीवादी देशों में जो सुधार हो रहे हैं वे मिश्रित प्रणाली (Mixed Economy) के आधार पर। उसमें पूँजीवाद तथा समाजवाद दोनों के अच्छे-अच्छे तत्वों का समावेश किया जाता

है। एक बात स्मरण रखने की है। वह यह है कि कोई भी वाद स्वयं साध्य नहीं। वह एक साधन मात्र है। अगर समाजवाद कायम हो जाय और उसमें भी वे ही प्रवृत्तियाँ बनी रहें या घर कर लें जो आज के पूँजीवाद में पाई जा रही हैं तो इससे क्या हो गया ? 'वाद' के नाम-परिवर्तन से कुछ होने-जाने का नहीं। किसी संगठन के मनोभाव या जोश (spirit) को सद् होना चाहिये। तभी हम आम जनता को यकीन दिला सकेंगे कि जो "लूट" होगी उसका वितरण लोगों के बीच इस ढंग से होगा कि आज की शिकायतें दूर हो जायेंगी (A redistribution of the swag will do the trick)।

पूँजीवाद के निर्देशक तत्व

(Constituent Elements of Capitalism)

विख्यात् अर्थशास्त्रज्ञ जॉन ए० हॉबसन ने "आधुनिक पूँजीवाद का विकास" नामक पुस्तक में अत्यन्त मार्मिक और सरस ढंग से पूँजीवाद के प्रवर्तक तत्वों का वर्णन किया है। हम उसीके आधार पर पूँजीवाद की मोटा-मोटी विशेषताओं का उल्लेख करना चाहते हैं।

(१) व्यक्तिगत सम्पत्ति की उपस्थिति : राज्य का आदेश है कि कोई व्यक्ति अपने हित के लिये कोष एकत्र कर सकता है और राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि वह उसकी सम्पत्ति की सुरक्षा का ख्याल रखे। उत्पादन के प्रवर्तक उपादनों पर व्यक्तियों का अधिकार है। उनसे जो कुछ लाभ होते हैं उसे वे ही उठाते हैं। समाजवाद में देश की सारी सम्पत्ति राज्य की समझी जाती है। उसपर किसीका व्यक्तिगत अधिकार नहीं होता। राज्य सभी से काम लेता है और उनके पालन-पोषण, शिक्षण, परिणय आदि का प्रबन्ध करता है।

(२) आर्थिक स्वराज्य : पीछे हमने आर्थिक स्वराज्य का

विस्तृत विवेचन किया है, उसकी पुनरावृत्ति पिष्टपेषण मात्र होगी।

(३) आर्थिक असमानता : आधुनिक आर्थिक व्यवस्था का प्रधान चिह्न आर्थिक विषमता है। यह विषमता सम्पत्ति और उन्नति करने के अवसर दोनों को है। यह जरूर है कि विषमताएँ सर्वकालीन हैं। एकदम समानता का अस्तित्व केवल भावना और कल्पना के जगत में ही हो सकता है। फिर भी धनी और गरीब के मध्य जो खाई आज है वह बहुत ही बड़ी है और पहले इतनी नहीं थी। उत्पादन के उपकरणों पर थोड़े व्यक्तियों का अधिकार है। उनसे वे ही अधिक रूप से लाभान्वित होते हैं। फलतः जो धनी हैं वे और भी धनी होते जा रहे हैं। जो गरीब हैं वे और भी गरीब। एक ओर वैभव में क्रीड़ा करते धनी हैं, दूसरी ओर कष्टों से दग्ध दरिद्र।

(४) मजदूरी की पद्धति : बहुत पुराने समय में एक ही आदमी को अपना सभी काम करना पड़ता था। उसे अपने ही हथियारों से अपनी चीजें तैयार करनी पड़ती थीं। उसे पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी। आज वह हालत नहीं है। उत्पादन के साधन दूसरों के हाथों में हैं और उनके अधिकारी दूसरे हैं। मजदूर को जिसके हाथ में बनाने की चीजें हैं उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। वह केवल रोटी के लिये ऐसा करता है। मिल-मालिक उसे तरह-तरह की यातनाएँ दे सकता है। उसे उन्हें सहना पड़ेगा क्योंकि पेट के लिये अपनी स्वतंत्रता खो दी है।

(५) मिलों या कारखानों का रिवाज : आधुनिक युग कल का युग कहा जाता है। जगह-जगह बड़े-बड़े कारखाने चल रहे हैं। उनको चलाने के लिये बड़ी-बड़ी मशीनें स्थापित की गई हैं। उन मशीनों को चलाने के लिये सहस्रों मजदूर नियुक्त किये गये हैं। उन्हें एक ही स्थान में काम करना पड़ता है। उन्हें अपने घर से कोई सरोकार नहीं। उनके नैतिक गुण भी प्रभावित होते हैं। आज मशीन पहले जैसा हमारा सेवक नहीं, वह हम पर शासन करने लगी है। जबतक

वह चल रही है, मजदूर को खटना पड़ेगा। वह पहिए के एक तुच्छ पुर्जे (Cog in the Wheel) या तोप की गोली (Canon-fodder) के समान है।

(६) श्रम-विभाजन: पारस्परिक अवलम्बन को उत्पन्न करने वाला विनिमय:—

कारखाने की प्रणाली के साथ श्रम-विभाजन भी भरपूर किया गया है। यह विभाजन इतना सूक्ष्म है कि किसी चीज को तैयार करने में जितनी सूक्ष्म क्रियाएँ हैं उनको करने के लिये अलग-अलग व्यक्ति तल्लीन किये गये हैं। व्यक्ति-व्यक्ति में विनिमय का भाव बढ़ गया है। यह पद्धति पुरानी है, परन्तु वर्त्तमान काल में इसका प्रयोग बहुत हो रहा है। आज हमारी जरूरी चीजें सुदूर देशों से आती हैं। पहले जो छोटा बाजार था वह फैलकर विश्वव्यापी बन गया है। हमारी आवश्यकताएँ परोक्ष रूप से पूरी होती हैं।

(७) प्रतियोगिता एवं सहयोग: विनिमय से प्रतियोगिता बढ़ती है। खरीदने और बेचनेवाले आपस में प्रतियोगिता करते हैं। खरीदनेवाले खरीदनेवालों से, बेचनेवाले बेचनेवालों से जूझते हैं। कभी-कभी यह प्रतियोगिता विकृत हो जाती है। लोग जानो दुश्मनी करने लग जाते हैं। यह हमारी भूल होगी यदि आधुनिक युग का प्रधान लक्षण हम प्रतियोगिता को मान लें। इससे अधिक लोगों में सहयोग की भावना काम करती है। प्रतियोगिता से सहयोग की वृत्ति जन्म ग्रहण करती है। इसलिये प्रतियोगिता और सहयोग दोनों ही वर्त्तमान युग के चिह्न हैं।

(८) कीमत की परिपाटी: (Price-Mechanism) टॉड ने अर्थशास्त्र को 'कीमतों का विज्ञान' कहा है। ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी मूल्य द्वारा परिचालित कार्य माना है। कीमत की क्रिया बहुत ही प्रबल है। इसीके बलपर आर्थिक पद्धति में संतुलन और समन्वय होते हैं। ये बहुत ही स्वतः उत्पन्न होते हैं। ऐसी कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं जो इस आर्थिक पद्धति को दिशा-ज्ञान या आदेश दे सके। उत्पादन और उपयोग को नियमबद्ध

करने का एक साधन कीमत की व्यवस्था ही है। भोक्ता (consumers) अपनी इच्छाओं—आवश्यकताओं को चुनकर अपेक्षित कीमतें लगाकर उन्हें व्यक्त करते हैं। उत्पादक भी उन वस्तुओं की स्वयं कीमतें निश्चित कर लेते हैं। उन्हींके अनुसार वे अधिक या कम उत्पादन करते हैं। यदि कीमत बढ़ जाती है तो इससे माँग घट जाती है, पूर्त्ति की आकांक्षा उल्टे बढ़ जाती है। यदि किसी सामान की पूर्त्ति की अपेक्षा माँग विशेष है तो दोनों में संतुलन कीमत या दर के बढ़ने पर ही सम्भव होगा। यदि किसी वस्तु के लिये जो माँग है उससे अधिक उसकी पूर्त्ति है तो दोनों के सम्बन्ध के लिये दर को घटाना पड़ेगा। वितरण के क्षेत्र में भी उत्पादन के साधनों के पारिश्रमिक को निर्धारित करने में इसी कीमत-प्रणाली की जरूरत होती है। कर, मजदूरी, सूद तथा मुनाफा ये ही उत्पादन के साधनों (agents) की सेवाओं के पारिश्रमिक हैं। यदि मजदूरों की संख्या अधिक है तो उनकी मजदूरी भी कम होगी, क्योंकि उनके लिये जो माँग है उससे कहीं अधिक उनकी पूर्त्ति हो सकती है। इसका फल यह होगा कि सभी मजदूर कामों में नहीं लगाये जा सकते हैं। फिर यदि मजदूरों की संख्या मृत्यु, दुर्भिक्ष, युद्ध के कारणों से कम हो गई है तो उनकी मजदूरी भी बढ़ जायगी क्योंकि उत्पादकों की माँग जितनी होगी उससे कम उनकी पूर्त्ति होगी। आर्थिक कर्म भी कीमत से ही लाभदायक क्षतिदायक तय किये जाते हैं। इसलिये आज की आर्थिक व्यवस्था को मूल्य द्वारा शासित कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा। बेनहम के शब्दों में कीमत की परिपाटी ने लाभोत्सुक उत्पादकों तथा आवश्यकता की पूर्त्ति के कामी भोक्ताओं को लयमान करने में सहायक है। हम अधिक अंश में स्वीकार करते हैं कि किसी आर्थिक जार में भी इतना कठोर शासन करने की शक्ति नहीं कि उसके इंगितों पर उत्पादन कार्य चल सके परन्तु कीमत की प्रणाली में वह अद्भुत शक्ति अवश्यमेव है। फिर भी हम देखते हैं कि कितनी व्यावहारिक बातों में यह लय संभव

नहीं होता। हम भोक्ताओं को कभी शिकायत करते पाते हैं कि उन्हें छला जाता है। कभी उत्पादनकर्त्ता ही यह शिकायत पेश करते हैं कि उन्हें छला जाता है। कभी उत्पादनकर्त्ता ही यह शिकायत पेश करते हैं कि उन्हें तकलीफें झेलनी पड़ रही हैं। कभी तो भोक्ताओं को सस्ते माल मिलते हैं, कभी उन्हें जानकर धोखा दिया जाता है। कभी उत्पादन-मंडली को तकलीफ होती है कि उसके संचालक सुस्त और अदक्ष हैं या वे मंडली के हित के बदले अपना स्वार्थ-साधन करते हैं। इसीके कारण भोक्ताओं और उत्पादकों की भलाइयों में विरोध उत्पन्न हो जाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि कीमत द्वारा संचालित यह आर्थिक व्यवस्था कभी-कभी अवरुद्ध हो जाती है। (विशेष जानकारी के लिये "दाम की प्रणाली" शीर्षक अध्याय पठनीय है।)

व्यक्तिवादी सिद्धान्त

(Individualistic Theory)

पहले व्यक्तिवादी सिद्धान्त को लीजिये। राज्य का कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह व्यक्ति के हाथ में यथासंभव अधिकाधिक स्वतंत्रता छोड़ दे। स्वतंत्रता से अत्यधिक सफलता मिलती है। राज्य के हस्तक्षेप से हमारी स्वतंत्रता में और हमारे कार्य में व्यवधान सदा होता है। राज्य को बहुत थोड़ा काम करना चाहिये। नियंत्रण एक बला है। राज्य को उसी अवसर पर हस्तक्षेप करना चाहिये जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के हितों पर आक्रमण करता है या सार्वजनिक शांति को भंग करता है। अदमस्मीथ ने राज्य के जिम्मे केवल पुलिस कार्य सौंपे थे। जे० एस० मील ने भी अदमस्मीथ की बात दुहराई थी, यद्यपि उसने कुछ ज्यादा काम भी बताये थे। राज्य का काम इस तरह पुलिस-राज्य का काम था—शांति और व्यवस्था स्थापित करना, न्याय और दंड का इन्तजाम करना, सुरक्षा के लिये प्रबन्ध करना। राज्य वही बढ़िया है जो सबसे कम शासन करता है। राज्य का

रहना इसी माने से जरूरी है। अन्यथा राज्य एक आवश्यक बला है। जब राज्य अधिक कामों में अपनी नाक घुसेड़ता है तो यह बला और भी अधिक हो जाती है। मनुष्य-समाज ने विवश होकर राज्य को स्वीकार किया है। यदि मनुष्य का स्वभाव अपने ठीक रहता तो राज्य की कोई जरूरत नहीं पड़ती। मनुष्य की अपूर्ण और स्वार्थी प्रकृति ही सभी बुराइयों की जड़ है। चूँकि राज्य एक आवश्यक अभिशाप है इसलिये यह जितना ही कम हमारे काम में हस्तक्षेप करे उतना ही अच्छा हो। प्रत्येक आदमी समझता है कि उसके लिये क्या अच्छा है, क्या बुरा। उसे स्वतंत्र चयनाधिकार मिलना चाहिये। यदि राज्य उसके लिये सभी काम कर दे तो वह निष्क्रिय हो जाय और कुछ भी काम नहीं करे। इसलिये सरकार का कर्त्तव्य नकारात्मक (Negative) होना चाहिये। उसे रेफरी-सा काम करना चाहिये। उसके परे उसे कोई काम नहीं करना चाहिये। यदि समाज को रंगमंच मान लिया जाय तो राज्य उसका व्यवस्थापक मात्र है, खिलाड़ी नहीं। इस तरह की विचारधारा को लेसेफेयर कहते हैं। यह सिद्धान्त व्यक्ति को आगे रखता है। वही समाज का निर्माता है। व्यक्तियों के सुखमय होने से ही समाज का कल्याण हो सकता है। व्यक्ति के लिये ही सारा समाज है। अतएव उसे मन के अनुसार काम करने को छोड़ देना चाहिये। सरकार को मार्ग की अड़चनों को हटाने के काम से ही संतोष कर लेना चाहिये। व्यक्तिगत हित-साधन अन्त में सामाजिक हित-साधन में रूपान्तरित हो जाता है। इसलिये सरकार को ऐच्छिक कार्यों को पूरा नहीं करना है। उसे थोड़े आवश्यक कार्य सम्पादित करना चाहिये। सामाजिक क्षेत्रों में राज्य का हस्तक्षेप घातक है क्योंकि उससे व्यक्तिगत प्रेरणा हतोत्साह हो जाती है।

इस सिद्धान्त के पक्ष में पाँच प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। पहला नैतिक तर्क है। इसमें कहा जाता है कि व्यक्तित्व का पूर्ण विकास उसी समय हो सकता है जब उसे पूरी स्वतंत्रता हो। प्रतिबन्ध

से इच्छा की पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती। मनुष्य के भीतर जो गुण दबे रहते हैं वे बाहरी मदद से पूरी तरह प्रस्फुटित नहीं हो पाते। इससे मनुष्य की पूरी उन्नति भी नहीं होती है। दूसरों पर निर्भर रहने से आत्मोन्नति की शक्ति क्षीण हो जाती है। राज्य को शांत वातावरण का निर्माण करके आत्म-विकास के लिये छोड़ देना चाहिये। उसे राष्ट्र और प्रत्यक्ष सहायता देकर पंगु और शिथिल नहीं बनाना चाहिये। इससे व्यक्तिगत उन्नति स्वतः होगी और इससे सामाजिक उन्नति नहीं रुकने पायेगी। राष्ट्र के हस्तक्षेप से राष्ट्रीय समानता को प्रोत्साहन मिलता है और समाज मृतप्राय हो जाता है। मौलिकता जाती रहती है। व्यक्तिगत चरित्र दुर्बल हो जाता है। अतः सबको स्वयं सोचने, बोलने, काम करने की आजादी होनी चाहिये। आत्म-निर्माण और आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाना चाहिये। दूसरा तर्क वैज्ञानिक है। जीवन के लिये सतत संग्राम चल रहा है। जो सबसे सक्षम होगा वह बच निकलेगा। दुनिया का क्रमिक विकास इसी तरह हुआ है। अपनी भलाई का निर्णायक आदमी अपने है। प्रकृति के क्षेत्र में भी यह संग्राम चल रहा है। जो अक्षम हैं वे मर जाते हैं। सक्षम विजयी होकर जीवित रहते हैं। यदि जीवन-संग्राम रुक जाय तो क्षमता नष्ट हो जाय। समाज में गरीब और कमजोर व्यक्ति जोंक के समान लगे रहते हैं। प्रकृति को काम करने देना चाहिये। उसमें छेड़छाड़ करना ठीक नहीं। सबल और दुर्बल में समानता स्थापित करना चाहिये। तीसरा आर्थिक तर्क है। सजग आत्म-हित की भावना जीवन का मूल मंत्र है। यह वाणिज्य और व्यापार में लाभदायी साबित होती है व्यक्तिगत हित अन्ततोगत्वा सामाजिक हित में शामिल हो जाता है। यह अलक्ष्य वरद-हस्त (Invisible Hand) के प्रताप का फल है। माँग और पूर्ति की शक्तियों से संतुलन स्थापित होता है। स्वतंत्र प्रतियोगिता से इसमें तेजी आती है। इससे सर्वाधिक लोगों को सर्वाधिक भलाई भी सुलभ हो जाती है। चौथा तर्क राज्य की अयोग्यता है। कुछ

लोग कहते हैं कि जब राज्य जनता के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करता है तो उसकी शक्ति खत्म हो जाती है। उसकी अयोग्यता भी प्रगट हो जाती है। राज्य उद्योग-प्रणेता के रूप में असफल साबित हुआ है। राज्य को कोई डर-भय है नहीं। इससे उसका काम असावधानीपूर्वक चलता है। इससे लाल फीतेबाजी की वृद्धि होती है और काम में बहुत विलम्ब होता है। राज्य का काम चलानेवाले मनुष्य होते हैं। वे भी दोष से परे नहीं होते। इससे राज-काज में शिथिलता आ जाती है। अनुभव की बात को भी लोग एक तर्क का रूप देते हैं। इतिहास का आधार लेकर वे लोग राज्य की असफलता की ओर इशारा करते हैं। उद्योगों को सहायता आदि देने से, नशाखोरी बन्द करने से समाज का कोई फायदा नहीं होने पाता। कहा जाता है कि भारतीय सरकार ने रेशनिंग, मूल्य-नियंत्रण का जो इन्तजाम खड़ा किया है वे बाधक हैं और बहुत अंश में विफल सिद्ध हुए हैं।

परन्तु इस सिद्धान्त के विपक्ष में बड़े जबरदस्त तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। पहली बात तो यह है कि राज्य आवश्यक अभिशाप नहीं है। उसकी उत्पत्ति मनुष्य की जरूरियातों को पूरा करने के लिये हुई है। मानव-समाज की जो इतनी प्रगति हुई है वह राज्य के संगठन के कारण ही। राज्य मानवता के लिये एक बड़ा वरदान है। जवानी के जोश में राज्य ने कुछ भूलें की है परन्तु अब तो ऐसी बात नहीं। फिर, यह कहना कि राज्य का हस्तक्षेप व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधक है भ्रमपूर्ण है। बिना आवश्यक प्रतिबन्ध के स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं। स्वतंत्रता लूट नहीं, लाइसेन्स नहीं। मनमाना काम स्वतंत्रता का बोधक नहीं होता। अधिकार तथा कर्तव्य दोनों का संतुलन होना चाहिये। अनुशासन के लिये राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। राज्य का कानून भी जरूरी है। तीसरी बात, यह तर्क देना कि मनुष्य अपने हित का निर्णायक आप है गलत है। उसकी दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता की भी हद होती है। व्यक्ति से समाज

अधिक बुद्धिमान है। उसे भला-बुरा का अधिक ज्ञान है। राज्य सबका अभिभावक है। भारत के अशिक्षित लोग अपनी भलाई का निर्धारण स्वयं नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, जो लोग यह कहते हैं कि वर्तमान समाज में पूर्ण प्रतियोगिता है वे भ्रम में हैं। आज मोनोपोली का जमाना है। इससे उससे उपभोक्ताओं की महान् क्षति होती है। उद्योग, आदि कार्यों में सरकार का जो हस्तक्षेप होता है वह विफल नहीं जाता। छठा तर्क है कि जीवन-संग्राम में जो लोग उपयुक्त तथा सक्षम होते हैं वे ही नहीं बच जाते बल्कि कुछ समाज के द्रोही लोग भी बच जाते हैं। किसान और कारीगर जो गरीब हैं वे इस संग्राम में असफल होंगे और चोर-डाकू अधिक मजबूत होने के कारण बच निकलेंगे। मनुष्य-जीवन और पशु जीवन में फर्क है। यदि राज्य हस्तक्षेप नहीं करे तो पाशविक शक्तियों की वृद्धि होगी। इन तर्कों के अतिरिक्त भी कुछ तर्क हैं। एक तो यह कि व्यक्तिवादी मत राज्य के स्थान में व्यक्ति की प्रधानता स्थापित करना चाहता है। व्यक्ति का पृथक अस्तित्व नहीं है। वह सामाजिक जीव है। उसका हित समाज या राज्य के हित के साथ जुड़ा हुआ है। मनुष्य स्वार्थ का पुतला नहीं है। मानव-जीवन आज बहुत ही मिश्रित और पेचीदा हो गया है। आजका सामाजिक और आर्थिक जीवन बड़ा व्यापक है। बिना राज्य के हस्तक्षेप के समाज का काम नहीं चल सकता। व्यक्ति-व्यक्ति, वर्ग-वर्ग के संघर्ष को दूर करने के लिये राज्य के अंकुश की जरूरत है। जो लोग इस मत का समर्थन करते हैं उन्हें समझना चाहिये कि संघर्ष की अपेक्षा सहयोग का अधिक महत्व है। व्यक्तिवादियों का एक और दोष है। वे साफ-साफ नहीं बतलाते कि व्यक्ति की योग्यता की कसौटी क्या है धन, बुद्धि, नैतिकता या शक्ति? वे यह नहीं बतलाते कि राज्य का रुख स्त्रियों, बच्चों और रोगी व्यक्तियों के प्रति क्या होगा। अन्तिम तर्क तो यह है कि व्यक्तिवाद की जरूरत आज के प्रजातंत्रवादी युग में है ही नहीं। प्रजातंत्रात्मक राज्य तो व्यक्तियों के द्वारा निर्वाचित लोगों की सहायता से चलता है।

समाजवादी सिद्धान्त

(Socialstic Theory)

यदि व्यक्तिवादी-सिद्धान्त एक शीर्ष पर हैं तो समाजवादी सिद्धान्त दूसरे शीर्ष पर। समाजवाद और खासकर मार्क्सवादी समाजवाद (साम्यवाद) आधुनिक विद्या-दंभी युग का फैशन-सा हो गया है। समाजवादी राज्य को एक बड़ी उपयोगी संस्था समझते हैं। जहाँ व्यक्तिवादी राज्य के कामों को कम-से-कम करना चाहते हैं वहाँ समाजवादी राज्य के जिम्मे अधिक-से-अधिक काम सौंपना चाहते हैं। इसीसे, समाजवादियों का विश्वास है, अधिकतम मानवता को सामाजिक न्याय मिल सकेगा। वे उत्पादन, वितरण के कार्यों को केन्द्रस्थ करना चाहते हैं। वे सामूहिक स्वामित्व और व्यवस्था का प्रवर्तन करना चाहते हैं। वे सबको समान सुयोग देने के हिमायती हैं। उनके द्वारा जिस समाज का निर्माण होगा उसमें सबको अपनी शक्ति के मुताबिक काम करना होगा। स्त्री-पुरुष को समान अधिकार देकर स्त्री के ऊपर पुरुष का प्राधान्य जो युगों से चला आ रहा है उसे मिटाने के लिये वे इच्छुक हैं। वे पूँजीवादी प्रणाली को शासित करनेवाली लाभ-वृत्ति की जगह मानवीय सेवा-भाव को स्थापित करना चाहते हैं। समूचे समाज पर सरकार का चहुँमुखी शासन चलता है। कोल ने समाजवाद के चार प्रमुख तत्त्व बतलाये हैं—मानवीय बंधुत्व की भावना (वर्गीय संघर्ष को दूर करना), व्यक्तिगत प्रणाली की जगह सामाजिक प्रणाली (धनी-गरीब के भेद-भाव को दूर करना), सामूहिक आधिपत्य और प्रयोग तथा अपनी योग्यतानुसार काम करने का कर्त्तव्य-बोध। सामाजिक न्याय प्रतिष्ठापित करना, व्यक्तित्व का चतुर्दिक उत्कर्ष करना, समाजवादी समाज का मूल ध्येय है। समाज व्यक्ति से अधिक आवश्यक है। जब व्यक्ति और समाज के हितों में संघर्ष हो तो सामाजिक हित को प्रधानता मिलनी चाहिये। व्यक्तिगत

स्वतंत्रता या कोरी राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है जबतक कि आर्थिक स्वतंत्रता नहीं कायम हावो। सच्चा प्रजातंत्र उसी समय चरितार्थ होता है जब सर्वसाधारण को आर्थिक न्यूनतम प्राप्त हो। समाजवाद जीवन-निर्वाह के लिये पर्याप्त धन के लिये योजना बनाता है। वह व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहता है कि व्यक्तिवादी नीति का ही फल है कि आज इतने अधिक सामाजिक और आर्थिक अत्याचार दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

समाजवाद एक मधुर कल्पक है। इसके साथ वह एक आदर्शनिष्ठ कल्पक भरी दुनिया की रचना करता है। यह जीवन का एक सुर है, ढंग है। यह दर्शन और धर्म दोनों है। शेलारस समाजवाद की परिभाषा देते हुये इसे एक गणतांत्रिक आन्दोलन कहता है जिसका लक्ष्य एक आर्थिक संगठन की उपलब्धि है जो न्याय और स्वतंत्रता का सर्वाधिक अंश दे सकेगा। ह्यूहन कहता है "समाजवाद मजदूर-वर्ग का एक राजनैतिक आन्दोलन है जो शोषण को उत्पादन एवं वितरण के सामूहिक आधिपत्य और गणतांत्रिक प्रबन्ध द्वारा उन्मूलित किया चाहता है"। समाजवादी देखता है कि वर्तमान पूँजीवादी पद्धति में, जो व्यक्तिवाद का हामी भरती है, उन्हीं चीजों का उत्पादन होता है जो विलास और आराम की कोटि में आती हैं। इनके आगे जीवन की आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन नहीं होने पाता। जैसा कि प्रो० नाईट ने कहा है "आराम तथा विलास की चीजों के उत्पादन के सामने आवश्यक चीजों का उत्पादन मेघाच्छन्न आकाश में बिजली की तरह है।" समाजवाद इसी मौलिक प्रश्न को सुलझाना चाहता है। यह रोटी और मक्खन के बीच के द्वन्द्व को समाप्त करना चाहता है। वह रोटी के लिये पहले इन्तजाम करता है, मक्खन के लिये पीछे।

मार्क्स का साम्यवाद समाजवाद का परिवर्द्धित रूप है परन्तु दोनों में कुछ भेद हैं। समाजवाद पग-गति है तो साम्यवाद नृत्य-गति (Socialism is a step Communism is a dance)। एक क्रमिक

विकास का हिमायती है तो दूसरा क्रान्ति का। समाजवाद जहाँ शांति पूर्ण यत्नों को ज्यादा प्रश्रय देता है वहाँ साम्यवाद हिंसात्मक यत्नों को ज्यादा प्रश्रय देता है। समाजवाद योग्यता या मिहनत के अनुसार, साम्यवाद आवश्यकता के अनुसार धन का वितरण करना चाहता है। साम्यवादी के नक्शे में सरकार सूखे-पीले पत्त की तरह झड़ जायगी; समाजवादी समाज में सरकार चिरस्थायी है। समाजवाद धर्म से तटस्थ रहता है, साम्यवाद उसे प्रभुत्व-सम्पन्न वर्ग का अफीम मानता है। एक राष्ट्रीयता को उपयोगी समझता है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी भी नहीं, दूसरा राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करता, वह अन्तर्राष्ट्रीयता का अनुयायी । वह वर्गहीन, राज्यहीन समाज की सृष्टि करना चाहता है।

सामाजवादी सिद्धान्त के कितने गुण हैं। वे उसके पक्ष को मजबूत करते हैं। समाजवादी सिद्धान्त राज्य के जीव-संबंधी सिद्धान्त को मानता है। राज्य भी एक व्यक्ति है। उसमें भी प्राण हैं। उसकी भी आवश्यकताएँ हैं। राज्य केवल व्यक्तियों का समूह ही नहीं। समाजवाद आधुनिक सामाजिक पद्धति की बुराइयों के खिलाफ आवाज उठाता है। वह समूल परिवर्तन चाहता है। इसे शक्ति और धन के केन्द्रीयकरण से चिढ़ होती है। वह देखता है कि मजदूर को पर्याप्त मजदूरी नहीं मिलने पाती। गरीब मजदूर में मोल-मोलाई करने की क्षमता नहीं है। उसका पक्ष कमजोर है। आज धन और अवसर दोनों का विषम वितरण परिव्याप्त है। कार्यों की अनावश्यक आवृत्ति होती है। राष्ट्रीय पैमाने पर योजनाकरण का अभाव है। बेढंगी प्रतियोगिता, बेकार विज्ञापन, अत्युत्पादन और न्यून खपत, भौतिकता, अनाचार, बेईमानी, चारित्रिक अधःपतन—व्यक्तिवादी भावना के मूर्तरूप पूँजीवाद का यही रवैया है। समाजवाद के अन्दर समझबूझ कर योजनाकरण होता है जिससे इन सब बुराइयों का निराकरण होता है। समाजवादी भावना परोपकार पर ज्यादा जोर देती है। समाजवाद के प्रयास विफल नहीं हुए हैं। वह नई व्यवस्था स्थापित करने

की चेष्टा करता है। गरीबी को दूर करना, शिक्षा का प्रचार करना लोगों को यथासंभव अवकाश देना, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से सम्पन्न समाज की सृष्टि करना, जमीन्दार और उद्योगपतियों के स्वार्थों का विघटन करना समाजवादी कार्यक्रम के प्रधान अंग हैं।

समाजवाद मानता है कि आवेष्टन का प्रभाव व्यक्ति पर बहुत गहरा पड़ता है। वह यह भी मानता है कि कभी-कभी व्यक्ति अहितकर परिवेष्टन का शिकार बन जाता है। *समाजवाद की आत्मा बलवती है।* उसका तेज कभी घट नहीं सकता। वह दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है। उसकी व्यावहारिक सफलताएँ उसके उज्ज्वल भविष्य की द्योतक हैं। समाजवाद ने जागृति पैदा की है और उसका दुनिया के कोने-कोने में प्रचार हुआ है। उसने समाज की सूखी हड्डियों में जान फूँक दी है।

समाजवाद की आलोचना
(Criticism of Socialism)

पिछले अध्याय में राज्य के कार्यों के संबंध में प्रतिपादित समाजवादी सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। उसमें समाजवाद के दोषों पर प्रकाश नहीं डाला गया है। जो लोग समाजवाद की आलोचना करते हैं वे उसकी व्यावहारिक कठिनाइयों का ज्यादा उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार समाजवादी समाज में शासन की कठिनाइयाँ बहुत बड़ी होंगी। प्रतियोगिता के अभाव में कार्य की क्षमता का काफी अभाव होगा। इस तर्क के समर्थन में लोग इंगलैंड की ओर संकेत करते हैं। टेलीफोन आदि के विभाग में उस के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् काफी सुस्ती आ गई। उसी तरह कोयला के खानों के राष्ट्रीयकरण हो जाने पर प्रति मजदूर कोयला की निष्कासन-दर घट गई। यह भी कहा जाता है कि सरकारी मशीनरी अपने भार से खुद टूट जायगी। लेकिन समाजवादी बड़े आशावादी होते हैं। दूसरी बात यह है कि

हमारे वर्त्तमान नैतिक चरित्र के आधार पर समाजवाद का निर्माण बड़ा ही कठिन होगा। भ्रष्टाचार, षड्यंत्र, नौकरशाही, लालफीतेबाजी, व्यक्तिगत द्वेष, जाल-फरेब, आदि चीजों की भी आशंका है। साहस-पूर्ण काम करने की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव हो जायगा। फिर, समाजवाद और प्रगतिवाद परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं। समाजवादी राज्य से व्यक्तिगत प्रेरणा का हनन होता है, वह व्यक्तिगत जीवन को शिथिल और एकरूप (stagnant and uniform) बना देता है। विशेष प्रतिभा को मानों हथौड़े की चोट से तोड़-ताड़कर समान बनाया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि समाजवाद से व्यक्तिगत स्वतंत्रता न्यून होती है। बरट्रान्ड रस्सेल ने कहा है कि समाजवाद "कृतिकारी आवेश" को रोकता है। हॉकिंग कहता है कि वह "आत्म-प्रकाशन" को कम करता है। व्यक्तित्व दमित होता है। आर्थिक दृष्टिकोण से उसमें उत्पादनगुण और परिमाण में घट जाता है। नैतिक दृष्टिकोण से कहा जाता है कि हिंसा के ऊपर समाज का पुनर्निमाण हितकर नहीं होगा। हिंसा को प्रोत्साहित करनेवाला, राज्यप्रधान समाजवाद राज्य-प्रधान पूँजीवाद में बदल जा सकता है। इस तरह यह संस्कृति के पैरों पर अपने हाथों कुल्हाड़ी मारना होगा।

राजकीय कार्यों की सीमा ?

(Limit to State-function ?)

आधुनिक सरकार के ये कार्य हैं। सरकार को वृहत् मानवता के सुख-स्वार्थ की रक्षा के लिये इन्हें अवश्य सम्पन्न करना चाहिये। लेकिन एक बात ध्यान में रखना प्रत्येक सरकार का परम कर्त्तव्य होना चाहिये। वह यह है। सरकार को मनुष्यों के सुनागरिक अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। उसे अपनी प्रजा के मौलिक अधिकारों की रक्षा करनी चाहिये। जीवन-धारण का अधिकार, स्वतंत्र सम्भाषण का अधिकार, प्रेस का अधिकार, स्वतन्त्र पर्यटन का अधिकार, स्वतंत्र-

त्रता का अधिकार, भोजन-पान का अधिकार, समानता का अधिकार, प्रभृति—ये ऐसे पवित्र अधिकार हैं कि सरकार को इनकी हत्या नहीं करनी चाहिये और न उसे इन पर किसी प्रकार का आघात ही करना चाहिये। सर्वसाधारण के स्वाभाविक अधिकारों की रक्षा करते हुए, उनमें नागरिक चेतना जगाते हुए, उनमें राजनैतिक चिन्तन संयुक्त करते हुए सरकार चाहे जितने भी कार्य करे ठीक है और हम उनका हृदय से समर्थन कर सकते हैं। लेकिन जिस क्षण सरकार का कार्य-क्षेत्र इतना न बढ़ जाय कि उसके कारण उक्त-वर्णित अधिकारों पर आफत आ जाय, तथाकथित मानवीय स्वाधीनता के ऊपर संकट आ पड़े तब हम सरकार के इतने कार्यों का कभी भी समर्थन नहीं कर सकते। जब तक लोग सरकार के अनेकों कार्यों को देखते हुए यह सोचते रहें कि उनसे उनका कल्याण ही होता है, किसी प्रकार की सामूहिक क्षति नहीं होती तबतक सब कुछ ठीक है। सरकार के कार्य-क्षेत्र को हम उसी समय सीमित करना चाहेंगे जब लोग सोचने लगें कि उनके स्वाभाविक नागरिक तथा मौलिक अधिकारों और स्वतंत्रता को निर्मम अवमानना हो रही है, हत्या हो रही है और उन्हें अनावश्यक सरकार अपने कार्य-चक्र में घसीटे जा रही है, उनका दमन कर रही है या करना चाहती है और जब लोग त्राहि-त्राहि कर उठें कि सरकार सबकी सरकार न रहकर कुछ लोगों की सरकार होकर अधिकांश लोगों के जीवन को ग्रसित करने के लिये कार्य पर कार्य चढ़ाये जा रही है। ऐसी दशा नात्सी सरकार या फासिस्ट सरकार की निर्देशिका होगी और चेतनाविशिष्ट मानवता उसका स्वागत नहीं कर सकती।

द्वितीय अध्याय

दाम की प्रणाली का विशेष अध्ययन

(A Special Study of Price-Mechanism)

डाक्टर रॉबर्टसन ने अपनी पुस्तक (Control of Industry) में बतलाया है कि दाम की प्रणाली भोक्ताओं और उत्पादकों के लिये अंगुलि-निर्देश या खतरे के चिह्न का काम करती है। उत्पादन की मशीन के लिये मुद्रा तेल का काम करती है लेकिन कभी-कभी वह उसके पहिए को धुरी से दूर भी फेंक देती है जिससे समाज का आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है। समाज की आर्थिक प्रणाली की धुरी दाम की प्रणाली ही है। टॉड ने अर्थशास्त्र को "कीमतों का विज्ञान" कहा है क्योंकि आर्थिक जीवन के लगभग सभी क्षेत्र कीमतों की धुरी पर प्रभ्रमित होते दृष्टिगोचर होते हैं। ओहलीन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी कीमतों की करामात माना है। प्रो० हाएक भी दाम की प्रणाली को इस बात से साधुवाद देते हैं कि उसीसे यह संभव होता है कि पूँजीवाद के सारे आर्थिक कार्य स्वतः चलते रहते हैं। पूँजीवादी बाजार एक बैलट-बॉक्स की नाईं है जिसकी कुंजी इस दाम-प्रणाली को कह सकते हैं। कुछ विद्वानों ने दाम की प्रणाली की तुलना रूस के सम्राट् जार से की है। दाम की प्रणाली जार की तरह शक्तिशाली है और उसके ही आदेशों पर किसी समाज का सारा उत्पादन-कार्य सम्पन्न होता रहता है। कीमतों की दुनिया निराली है। उसका शासक कोई भी नहीं। ऊपर से देखने पर पता लगता है मानों इस प्रणाली की अपनी कोई योजना ही न हो। फिर भी बड़ी ही अपूर्व, अद्भुत गति से भोक्ताओं की पसन्दगियाँ दाम के माध्यम से प्रभावोत्पादक माँग में बदल जाती हैं और हर चीज अपनी उचित जगह फिट बैठ जाती है। यह गति अनुपम है। इसकी प्रशंसा कितने अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने मुक्तकंठ से की है। यह देखते हुए कि लोग नाना

प्रकार के फैशनों, रीति-रिवाजों के कितने गहरे गुलाम हैं और वे किस तरह नाना प्रकार की चीजों की माँग किया करते हैं और किस तरह दाम की प्रणाली द्वारा उनकी माँग की, उनकी अगणित इच्छाओं की पूर्त्ति खूब तेजी के साथ होती जाती है हमें दाँतों तले उँगली दबाना पड़ता है। दाम-प्रणाली के सहारे प्राकृतिक साधन विविध कार्यों में प्रवृत्त किये जाते हैं और वे भोक्ताओं के उपभोग के लायक वस्तुओं को बड़ी स्फूर्त्ति के साथ प्रस्तुत करते हैं। यह है पूँजीवाद का विचित्र अनुशासन। दाम की प्रणाली के चारो ओर हमारे समस्त आर्थिक प्रयास चक्कर काटते रहते हैं।

दाम की प्रणाली सूर्य-मंडल की भाँति है। जिस तरह सूर्य के चतुर्दिक नक्षत्र परिक्रमा करते रहते हैं उसी तरह सभी आर्थिक कार्य दाम-प्रणाली के चतुर्दिक घूमते और सम्पन्न हुआ करते हैं। दाम की प्रणाली उस कटोरे की तरह है जिसमें आर्थिक कार्य लोहे की गोलियों की तरह स्थिर रहते हैं, संतुलित अवस्था का आनन्द लूटते हैं और कटोरे को थोड़ा-सा हिला देने पर भी वे सदा के लिये अस्थिर नहीं हो उठते बल्कि शीघ्र अपनी पूर्व स्थिर स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह उनका संतुलन चिर-स्थायी रहता है।

प्रो० नाईट ने किसी आर्थिक व्यवस्था के पाँच प्रमुख कार्य बतलाए हैं और इनमें से चार एक आर्थिक प्रश्न—अभाव—की उपज हैं। वे कार्य ये हैं— (१) समाज को अपने लक्ष्यों (Ends) का निर्धारण करना पड़ता है। उसे सोचना पड़ता है कि किन-किन चीजों का और कितने-कितने परिमाण में, उत्पादन करना चाहिये। (२) समाज के सीमित उपादानों या साधनों को लक्ष्यों की पूर्त्ति में इस तरह से लगाना चाहिये जिससे सर्वाधिक संतोष या उपयोगिता या कल्याण की उपलब्धि हो सके (३) अल्पकाल में जितनी पूर्त्ति या उत्पादन संभव है उसी पूर्त्ति या उत्पादन के साथ तत्कालीन माँग को अभियोजित करना होता है अगर माँग पूर्त्ति से अधिक है तब माँग के ऊपर नियंत्रण रखना पड़ता है। (४) फिर विशुद्ध वितरण

का कार्य आता है। जो कुछ उत्पादन हुआ है उसका वितरण समाज के सदस्यों में किस आधार पर और किस ढंग से होगा यह भी सोचना-विचारना रहता है। (५) आर्थिक प्रणाली अव्याहत रूप से, निर्बाधगति से चलती रहे इसके लिये कोई संरक्षण-नीति और विस्तार-नीति अपनानी ही पड़ती है।

प्रथम कार्य उत्पादन का परिमाणात्मक पक्ष है। इसपर तीन दृष्टि-विन्दुओं से विचार कर सकते हैं (अ) भोक्ताओं की माँग क्या है। (ब) उनमें किस तरह वस्तुओं का वितरण होगा। (स) समाज का प्रभाव भी उनकी माँग की रूप-रेखा पर पड़ता है। जैसी उसकी संस्कृति होगी वैसी ही भोक्ताओं की माँग होगी। अन्तिम दो दृष्टि-विन्दु सामाजिक होते हैं। और समाज निपुणता को भी भोक्ताओं की माँग की एक कसौटी मान सकता है।

द्वितीय कार्य उत्पादन के संगठन का है। इसके भी तीन रूप होते हैं। वे ये हैं:—(अ) उद्योगों में उत्पादन के साधनों का संगठन (ब) कारखानों या फर्मों में उनका वितरण (स) एक ही फर्म के कई प्लेन्टों या व्यवस्थाओं में उनको लगाना। अन्तिम दो रूप वैधानिक (टेकनिकल) हैं लेकिन पहला रूप आर्थिक कहा जाता है।

तृतीय कार्य उत्पादन के अभियोजन (Adjustment) का है। अगर किसी खास अवधि के लिये किसी वस्तु की पूर्ति स्थिर है और वह परिवर्तित नहीं की जा सकती तब रैशनिंग को अपनाकर उसके वितरण की व्यवस्था की जा सकती है जिससे लोगों की माँग पूरी हो सके।

चतुर्थ कार्य वितरण का प्रश्न है। कोई व्यक्ति किसी चीज को उतनी ही मात्रा में खरीद सकता है जिस मात्रा में खरीदने के लायक उसके पास क्रय शक्ति हो। अतएव आमदनी का वितरण ही उत्पादन के वितरण का निर्धारण करता है। यहीं पूँजीवाद बनाम समाजवाद का प्रश्न उपस्थित होता है।

पंचम और अन्तिम कार्य है ऐसी चीजों की व्यवस्था करना

जिससे वर्तमान आर्थिक प्रणाली सुचारु रूप से चलती रहे और उसमें कोई अड़चन पैदा नहीं होने पावे। इसे पूँजी को सुरक्षित रखना भी कहते हैं। आर्थिक प्रणाली की प्रगति की सर्वाधिक गति क्या होगी इसका निश्चय तो आर्थिक निर्णयों के द्वारा होता है हमलोग उत्पादन का सर्वाधिक अंश अभी ही उपभुक्त करने की सोच सकते हैं या हम भविष्य के लिये उसके कुछ अंश को संग्रहीत कर रख सकते हैं।

किसी आर्थिक प्रणाली में उक्त कथित पाचों कार्य दाम की प्रणाली के द्वारा सम्पादित होते हैं। इन कार्यों का अध्ययन करने के लिये हमें पूर्ण प्रतियोगिता का अस्तित्व मान लेना होगा और उससे प्रतिकूल अवस्थाओं की अनुपस्थिति भी मान लेनी होगी। तभी दाम की प्रणाली का ठीक-ठीक अध्ययन हम कर सकते हैं। नीचे हम उन कार्यों का उल्लेख अलग-अलग कर रहे हैं जिन्हें दाम की प्रणाली सम्पन्न करती है।

मूल्यों का निर्धारण

सैमूलसन का कथन है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य होता है। प्रेम भी एक सौदा हो गया है। उसका भी क्रय-विक्रय होने लगा है और उसके लिए भी कीमत देनी पड़ती है। दाम की प्रणाली एक चपल, चंचल (Volatile) प्रणाली ठहरी। जितने आर्थिक कार्य हैं सभी कीमतों और उत्पादन की संतुलन-प्रणाली से बराबरी करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। जब पूर्त्ति माँग के बराबर सभी क्षेत्रों में हो जाती है, जब कीमतें लागतों के बराबर हो जाती हैं तब हमारे तीन आर्थिक प्रश्न—किसके लिये उत्पादन किया जाय, कैसे उत्पादन किया जाय, और क्या उत्पादन किया जाय—हल हो जाते हैं। इस तरह एक वृत्त पूरा हो जाता है।

जब किसी चीज की माँग बढ़ जाती है तब उसका दाम भी बढ़ जाता है और उसके उत्पादकों को पहले से ज्यादा लाभ होता है। उत्पादकों के बीच प्रतियोगिता होती है और दाम घट जाता है।

जब किसी चीज की पूर्ति कम हो जाती है तब भी उसका दाम बढ़ जाता है और भोक्ताओं को उस चीज को कम परिमाण में उपभोग करना पड़ता है क्योंकि उसका अभाव उपस्थित हो गया है। इस अभाव को दूर करने की कोशिश की जायगी और अन्त में वह कभी दूर हो जायगी। दाम के घटने पर कमजोर फर्मों को पूर्ति के क्षेत्र से हटना पड़ता है क्योंकि वे कम दाम पर उत्पादन कर ही नहीं सकते।

आधुनिक अर्थशास्त्रज्ञ विनिमयगत मूल्य का ही अध्ययन करते हैं। विनिमयगत मूल्य वस्तु-वस्तु के बीच का लगाव है। इसके विपरीत दाम मुद्रा द्वारा प्रकाशित मूल्य को कहते हैं। यह मुद्रा और किसी वस्तु के बीच का लगाव है। दामों की सामान्य वृद्धि या घटती हो सकती है लेकिन मूल्यों की सामान्य वृद्धि या घटती नहीं होती क्योंकि जब सभी चीजों के मूल्य घटते या बढ़ते हैं तब एक चीज (जो मुद्रा है) का मूल्य विपरीततः बढ़ता या घटता है।

उत्पादन का संगठन

लागतें और कुछ भी नहीं केवल मुद्रा की वे रकमें या कीमतें हैं जिनको हमें उन उत्पादन-साधनों को देना पड़ेगा जिन्हें हम उनके वर्तमान उपयोग या उपभोगों से हटाकर किसी दूसरे उपयोग या उपभोगों में लगाना चाहते हैं। मकान बनाने का ठीकेदार किसी मज-दूर को कितनी दैनिक मजदूरी देगा ? वह मजदूर सड़क भी बनाता है और वह वहाँ जो काम करता है उसका एक दाम होगा, मूल्य होगा। अगर उस मजदूर को घर बनाने के काम में वह ठीकेदार लगाना चाहता है तब उसे उतनी मजदूरी देनी पड़ेगी जितनी मजदूरी उसे सड़क बनाने का कार्य करते समय मिलती थी। यही उस मजदूर की लागत है। दूसरा उदाहरण लीजिये किसी कृषक के पास कुछ जमीन है। उसमें कॉर्न (Corn)—एक प्रकार का विलायती अनाज—उपजाया जाता है। उस खेत के लिये उसको कुछ व्यय उठाना पड़ता है। उसे

लगान देना पड़ता है। लगान उस खेत की लागत है। अब यह लागत उस रकम के बराबर होगी जो उस खेत को उस समय मिल सकेगी जब वह गेहूँ या जई के उपजाने में लगायी जायगी। अगर किसी उद्योग का अधिपति इतनी आमदनी नहीं अर्जित करता जितना वह खर्च करता है तब इसका मतलब है कि उसे उस उद्योग में लगाना चाहिये जिसके द्वारा तैयार की गई चीज के लिये भोक्ता अधिक दाम देने के लिये तैयार हैं।

उत्पादन के संगठन के सिलसिले में तीन छोटे-छोटे काम दाम की प्रणाली पूरा करती है। (१) वह उत्पादन के साधनों का संतुलित वितरण करती है। जिस वस्तु के लिये लोग अधिक दाम देने के लिये तैयार रहते हैं उसका उत्पादन विशेष होता है। उसीके उद्योग में उत्पादन के साधन आकृष्ट होते हैं क्योंकि उसमें उनको ज्यादा पारिश्रमिक मिलता है। जिस उद्योग में कम पारिश्रमिक मिलता है उसमें से वे हटने लगते हैं। इस तरह उद्योग-उद्योग के बीच उत्पादन के साधनों का वितरण होता है। (२) दाम की प्रणाली किसी एक ही उद्योग के कई फर्मों के बीच उनका वितरण इस प्रकार से करती है कि समाज की सम्पूर्ण माँग संतुष्ट हो सके। जो सबसे अधिक समर्थ और उत्तम फर्म होता है वह अक्षम फर्मों को निकाल बाहर करता है। इस तरह दाम इतना रहता है कि सभी लोग उस पर अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकें। (३) दाम की प्रणाली साधनों के प्रतिस्थापन में भी सहयोग देती है। जिस साधन में अधिक लागत बैठती है उसके बदले कम लागत के साधन का प्रयोग किया जाता है।

इस तरह दाम की प्रणाली बड़ी सतर्कता और निपुणता के साथ उत्पादन का संगठन करती है। उत्साह (Enterprise) पूर्ण इस पूँजीवादी स्वतंत्र प्रणाली के पक्ष में यही सबसे बड़ा समर्थन है। इससे सर्वाधिक उत्पादन संभव हो जाता है।

डाक्टर बेनहम के अनुसार, लगान, मजदूरी और सूद सभी कीमत कहे जा सकते हैं। मजदूरी की एक ऐसी दर होती है जिस पर

समाज में पूर्ण रोजी स्थापित होती है। अगर वह दर बढ़ जाय तब उत्पादनव्यय बढ़ जायगा और उत्पादकों का मुनाफा घट जायगा। इससे वे कम लोगों को नियुक्त करेंगे। समाज की पूर्ण रोजी घट जायगी और कुछ बेकारी पैदा हो जायगी। अगर यह दर कम हो जाय तब जितने लोगों की माँग हो रही है उतने लोग न मिल सकेंगे। उसी तरह सूद की एक दर ऐसी होती है जिस पर पूँजी के लिये माँग और पूर्त्ति दोनों समान होती हैं तथा पूँजी का संग्रह और उसका योगदान दोनों बराबर होते हैं।

मुनाफे को दाम नहीं कह सकते क्योंकि कोई आदमी उसे किसी को देता नहीं।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली में माँग और पूर्त्ति दोनों बराबर रहती हैं और ऐसा दाम की प्रणाली द्वारा संभव हो पाता है। दाम की प्रणाली के फलस्वरूप उतना ही कागज तैयार होता है जितने की आवश्यकता है और उतनी ही स्याही बनाई जाती है जितनी उतने कागज को ढँकने के लिये जरूरी होती है। भोक्ता दाम और उपयोगिता को बराबर करने की चेष्टा करता है तो उत्पादक दाम और लागत को बराबर करने की। मुनाफे के लोभ और ख्याति के आकर्षण के वशीभूत होकर उत्पादक उत्पादन करते हैं। अगर भोक्ता चाहते हैं कि उत्पादनकर्त्ता बैलगाड़ी पर दूध उनके दरवाजे पर भेजें तब उन्हें वैसा ही करना पड़ता है। वे चाहते हैं कि हवागाड़ी पर दूध उनके पास भेजा जाय तब उत्पादनकर्त्ताओं को कोई दूसरा चारा नहीं!

कीमतें वे शर्तें (Terms) हैं जिनपर विकल्पों (Alternateves) का चयन होता है। संभावित व्यय (Opportunity cost) का दूसरा नाम वैकल्पिक व्यय (Alternative cost) भी इसीलिये स्टीगलर ने और बोलडिङ्ग ने दिया है। दाम की प्रणाली इतिहास की उपज है और वह पूँजीवादी बाजार के ढाँचे में फिट कर दी गई है और व्यक्तिगत मुनाफा इस बाजार की प्रमुख प्रेरणा है। दाम

व्यक्तियों के निजी निर्णयों की वर्गित सूचनाएँ हैं। इसे दामों का (Parametric) कार्य कहा जाता है। प्रो० हायक ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है और इसे दामों का रहस्यपूर्ण कार्य कहा है।

उत्पादन और उपभोग का अभियोजन

स्थिर पूर्तियों का वितरण दाम की प्रणाली की प्रत्यक्ष उपज है। अगर गेहूँ की पूर्ति कम है तब उसकी माँग को उसके दाम को बढ़ाकर कम किया जा सकता है। हो सकता है कि एकबार दाम को बढ़ाने पर माँग और पूर्ति समान न हो सकें लेकिन दो-चार बार दाम में परिवर्तन करने पर वे दोनों अवश्य बराबर हो जायेंगी। इसको Tentaive विधि कहते हैं।

उत्पादन का वितरण

आदमी को आमदनी दो जरियों से होती है। एक जरिया अपनी सेवाओं को बेचकर आमदनी करने का है। दूसरा अपने साधनों से भी आमदनी प्राप्त की जाती है। इस तरह निजी जायदाद आमदनी की जननी है। दाम की प्रणाली भी साधनों के प्रकारों की सृष्टि करती है। यदि किसी पेशा में अपेक्षाकृत अधिक वेतन मिलता है तब लोग उस पेशा में शरीक होने के लिये आवश्यक शिक्षा-दीक्षा को प्राप्त करेंगे।

आर्थिक प्रगति

स्टीगलर का मत है कि आर्थिक प्रगति का प्रधान निर्णायक दाम की प्रणाली को नहीं कह सकते क्योंकि टेकनिक-संबंधी जितनी उन्नतियाँ होती हैं, जितने विकास होते हैं उनके पीछे आर्थिक प्रेरणाओं का बहुत जोर रहता है। उसी तरह जनसंख्या का प्रश्न भी दाम या कीमत का प्रश्न नहीं। उसके ऊपर कई दूसरी शक्तियों का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। सूद की दर का आर्थिक विकास में बड़ा प्रमुख हाथ रहता है।

अभी तक हमने दाम की प्रणाली के शुभ्र पक्ष का ही वर्णन किया है। उससे जान पड़ता है कि यह प्रणाली बहुत ही सक्षम और निपुण है। वह एक बड़े (Leviathan) की तरह आर्थिक व्यवस्था के सभी कार्यों को पूरा करती है। लेकिन दाम की प्रणाली का कृष्ण पक्ष भी है। उसकी कुछ ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन्हें हम नीचे दे रहे हैं।

दाम की प्रणाली के सुचारु रूप से काम करने में सबसे पहली कठिनाई इस बात से पैदा होती है कि किसी एक चीज के कई डिजाइन-भेद-होते हैं। और प्रत्येक भेद एक अलग चीज की तरह बाजार पर चालू रहता है। अगर हम केवल उसी चीज का विचार करें और उसके दूसरे भेदों का नहीं तब उसके दाम से हम किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकते। यह ठीक है कि दाम की प्रणाली उत्पादन को प्रभावित करती है। परन्तु निकट से देखने पर यह भी ठीक जान पड़ेगा कि उत्पादन भी दाम की प्रणाली पर अपना प्रभाव डालता है। दाम के ऊपर अत्युत्पादन और अल्पोत्पादन का प्रभाव अवश्यमेव रूप से पड़ता है। बहुत ऐसी तैयार वस्तुएँ हैं जिनके मूल्य के ऊपर विचार करते समय हमें उनको तैयार करने में लगाई गई और चीजों का भी ध्यान रखना पड़ता है। इतना ही नहीं, कीमतें अन्तर्बद्ध होती हैं। वस्तुओं के मूल्य अपने प्रतियोगी और सम्पूरक वस्तुओं के मूल्यों के ऊपर भी निर्भर करते हैं। डा० बेनहम ने इसका एक अच्छा उदाहरण पेश किया है। कुछ ही वर्षों से पश्चिमी देशों में घोड़ों की संख्या गिर रही है। इससे जई की उपज भी घट गई है। अब कम जई उपजाने की जरूरत पड़ती है। पहले कुछ जमीन जो जई की पैदावार के लिये लगाई जाती थी अब गेहूँ और जौ उपजाने में लगाई जाती है। गेहूँ और जौ पहले से अधिक उपजाए जाते हैं। उनकी पूर्ति बढ़ गई है। इससे उनकी कीमतें भी घट गई हैं।

संभावित व्यय का सिद्धान्त भी सापेक्षिक दामों के प्रश्न के ऊपर कुछ प्रकाश डालता है। बहुत पहले अदमस्मीथ ने इसका एक अनूठा

उदाहरण दिया था। वह यह था। कोई शिकारी दिन-भर शिकार कर दो बीभर (एक प्रकार की चिड़िया) या तीन हिरण पकड़ सकता है। इसलिये दो बीभर का दाम तीन हिरण के बराबर होगा। बीभर हिरण से कीमती हुआ। अगर दो बीभर के बदले तीन से कम हिरण मिलने लगें तब लोग कम बीभर पकड़ेंगे। बीभर की पूर्ति घट जायगी। इससे बीभर का औसत दाम बढ़ जायगा। पुराना अनुपात फिर से लागू हो जायगा।

लेकिन इस सिद्धान्त की कुछ पूर्व कल्पनाएँ या मान्यताएँ (Assumptions) हैं। (१) यह सिद्धान्त मानता है कि शिकारियों के बीच विशिष्टीकरण प्रचलित नहीं है। उनमें किसी प्रकार का श्रम-विभाजन नहीं हुआ है। जितने शिकारी हैं सभी दोनों चीजों—बीभर और हिरण—के पकड़ने में दक्ष हैं। (२) कोई भी शिकारी किसी एक चीज—बीभर या हिरण—को दूसरी चीज से अधिक महत्ता नहीं देता है। किसी एक के लिये उसके दिल में विशेष चाह नहीं है। (३) जिस लगाव या अनुपात की हमने कल्पना की है वह है दो बीभर बराबर हैं तीन हिरण के। इन बातों के अतिरिक्त हमें प्रत्याशा के सिद्धान्त (Theory of Expectation) पर भी ध्यान देना पड़ता है। इसका मतलब यह है कि किसी वस्तु का दाम इस बात से भी प्रभावित होता है कि उसका भावी दाम क्या होगा।

दाम की प्रणाली में कुछ दोष भी हैं जिनके कारण उत्पादकों को कभी यह शिकायत रहती है कि उन्हें नुकसान उठाना पड़ रहा है और कभी-कभी भोक्ता भी शिकायत करते हैं कि उन्हें उत्पादक कष्ट दे रहे हैं। कभी-कभी आर्थिक प्रणाली में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। समाज के स्वाभाविक आर्थिक कार्य व्यतिव्यस्त हो जाते हैं। व्यापार-चक्रों का आगमन होता जाता रहता है। मन्दी और महँगी की वजह आर्थिक प्रणाली की स्वाभाविक गतिमें परिवर्तन होते रहते हैं।

लिवीस ने अपने ग्रंथ (The Principles of Planning) में बतलाया है कि दाम की प्रणाली लोगों को उनके साधनों के अभाव

के अनुपात में फायदा पहुँचाती है। यदि किसी के पास साधनों का विशेष अभाव है तब उसको दाम की प्रणाली से उस आदमी की अपेक्षा कम लाभ होगा जिसके पास साधनों का कम अभाव है। दाम की प्रणाली स्वयं साधनों का कोई वितरण नहीं करती। वह मजदूरी-संबंध का मानवीयकरण भी नहीं करती। विदेशी व्यापार के दृष्टिकोण से-इसकी निपुणता कम मालूम पड़ती है क्योंकि यह उसको सफलतापूर्वक परिचालित नहीं कर सकती है। यह भी कहा जाता है कि दाम की प्रणाली नुकसानदेह होती है। जब-तब उसका काम गड़बड़ा जाता है और इससे सामाजिक साधनों का अपव्यय भी होने लगता है।

महाशया उटन ने अपनी पुस्तक (Plan or no Plan) में दाम की प्रणाली के दोषों को दो वर्गों में रखा है : (१) एक प्रकार के दोष तो वे हैं जो बुनियादी हैं और उनका निराकरण उसी समय हो सकता है जब पूँजीवादी प्रणाली में ही मौलिक सुधार किये जा सकें। (२) दूसरे प्रकार के दोष वे हैं जिनका निराकरण पूँजीवाद में साधारण सुधार करने से हो सकता है।

क्या कारण हैं जिनसे ये दोष निःसृत होते हैं ? महाशया उटन ने तीन कारण दिये हैं :—(१) सरकारों का हस्तक्षेप दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। सरकारी नीति ही इस नाटक का शैतान पात्र है। लंडन स्कूल ऑफ इकनोमिक्स का कथन है कि सरकार की नीति में जो उथल-पुथल हुई है वह प्रथम महायुद्ध की संतति है। (२) उस महायुद्ध ने कुछ नई शक्तियों को जन्म दिया। आर्थिक प्रणाली इन शक्तियों से अपना नाता नहीं जोड़ सकी है। बड़ी-बड़ी मशीनें बनी हैं। उनकी सामर्थ्य विशेष (Surplus Capacity) है। इससे मजदूरों की बेकारी बढ़ गई है। स्वर्णमाप की समाप्ति भी हो गई। खाद्यान्नों के उद्योगों में १६२६ के बाद कुछ वर्षों तक काफी मन्दी आ गई थी। विलासता की सामग्रियों के उद्योग फूले-फले तो जरूर लेकिन वे अस्थिर हैं। एकाधिकारों का भी जोर बढ़ता गया है। इन सभी चीजों से दाम की प्रणाली को बड़ा धक्का पहुँचा है। (३) व्याव-

सायिक दुनिया का मानसिक वातावरण ही बदल चुका है। १९ वीं शताब्दी में जो उत्साह और उमंग थी वह खत्म हो चुकी है। "जिस तरह सामन्तवाद व्यक्तिवाद के द्वारा राज्य-सिंहासन से च्युत हुआ था उसी तरह आलस्य की ख्याति ने कार्य की ख्याति को अपदस्थ कर दिया है"। विक्टोरिया-युग में "बढ़े चलो" का नारा बुलन्द हुआ था और उससे आशातीत आर्थिक अभ्युदय हुआ। और वैसा ही नारा बहुत-कुछ धार्मिक पुट लिये हुए रूस में पैदा हुआ। लेकिन पूँजीवादी देशों में शिथिलता आ गई है।

दूसरे अर्थशास्त्रियों ने कुछ और कारणों का जिक्र किया है। वे कहते हैं कि अति मुद्रा-स्फीति (Inflation) और अल्प मुद्रा-स्फीति (Deflation) से दाम-प्रणाली के ठीक-ठीक काम करने में बाधा उत्पन्न हो जाती है। मुद्रा उत्पादन की मशीन के लिये तेल का काम जरूर करती है और "स्नेह-स्निग्ध" रहने पर दाम-प्रणाली रूपी धुरी भी खूब मजबूत रहती है। लेकिन मशीन में एक निश्चित मात्रा में तेल डालने की जरूरत होती है। अगर बहुत ज्यादा तेल पड़ जायगा तब वह धरती पर चू पड़ेगा और हाथ में भी तेल लगने का डर रहेगा। उसी तरह अर्थ-प्रणाली के ठीक तरह काम करने के लिये एक निश्चित परिमाण में मुद्रा की आवश्यकता होती है और जब उस परिमाण से कम या अधिक मुद्रा का प्रयोग हम करने लगते हैं तब उससे क्षति ही पहुँचती है।

डिकीनशन महाशय ने दाम की प्रणाली के दोषों को निम्नलिखित कारणों की उपज बतलाया है :—(१) भोक्ताओं की आमदनियाँ असमान रूप में बँटी हुई हैं। इससे सामाजिक आवश्यकताओं की माप में गड़बड़ी होती है। (२) एकाधिकारों की बढ़ती पूँजीवाद के लिये एक व्लेगाक्रान्त वस्तु है। (३) भोक्ताओं की कोमल भावुकताओं के ऊपर विज्ञापनबाजी और प्रचार-कार्य का भी गहरा असर पड़ता है। बुरी चीजों का विज्ञापन इतना किया जाता है कि भोले-भाले, अपरिचित भोक्ता उन्हें अच्छी चीज ही समझ बैठते हैं। (४)

सामाजिक या वास्तविक व्यय और मुद्रागत व्यय में भी काफी फर्क पड़ जाता है। मजदूरों को खूब खटाया जाता है। वे एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देते हैं। परन्तु उन्हें बहुत ही कम मजदूरी दी जाती है। गलती उद्योग-मालिक करते हैं जिससे उद्योग असफल हो जाते हैं और सबसे बड़ा नुकसान मजदूरों का होता है जो बेकार हो जाते हैं।

दाम की प्रणाली ठीक तरह से काम उसी समय कर सकती है जब अग्रलिखित दशाओं को प्रस्तुत किया जा सके :—(१) भोक्ताओं और उत्पादकों को आर्थिक परिस्थितियों का यथेष्ट ज्ञान रहना चाहिये जिससे वे अपने उचित कर्तव्य का निर्धारण कर सकें। उनमें इस बात की कुशलता और आकांक्षा भी रहनी चाहिये कि वे अपने निर्णायकों को कार्यान्वित कर सकें। (२) किसी क्षेत्र में निहित, रूढ़िगत स्वार्थों—Vested Interests—का सर्वथा अभाव रहना चाहिये। लोकमत को व्यावसायिक दुनिया को परिचालित नहीं करने देना चाहिये। (३) बाजार की स्वाभाविक प्रेरणाएँ (Incentives) ऐसी हों कि आर्थिक कार्यों को सम्पन्न करने में आसानी हो और दाम की प्रणाली भी सुविधापूर्वक काम करती रहे। (४) चाहे कोई भी उद्योग हो उसकी प्रत्येक इकाई—फर्म—का आकार ऐसा रहे जिससे उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन हो सके। (५) माँग में परिवर्तन तो अवश्यंभावी है। लेकिन जो परिवर्तन हो वह सीमाओं के अन्तर्गत हो। वह ऐसा न हो कि पूर्त्ति या उत्पादन को उसके साथ अभियोजन करने में असुविधा हो। प्रो० मीड के मत में आमदनी का वर्तमान वितरण बहुत ही विषम होने के कारण अग्राह्य है। अगर लोगों की आर्थिक असमानताएँ न्यूनतम हो जायँ तब दाम की प्रणाली को अपने कर्तव्य-निर्वाह में कम कठिनाई होगी। कहना नहीं होगा कि बहुत से देशों में इस तरह के यत्न अपनाए जा चुके हैं और इसके लिये सरकारी हस्तक्षेप की भी जरूरत खास-खास क्षेत्रों में है। सरकार हस्तक्षेप विमुखता की नीति पर सदा चलती नहीं रह सकती।

तृतीय अध्याय

श्रम की क्षमता एवं विभाजन

(Efficiency and Division of Labour)

श्रम की कुशलता या निपुणता

"श्रम की निपुणता" पद-समूह से श्रमिकों की उत्पादन-क्षमता का तात्पर्य है। कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक उत्पन्न कर सकते हैं और इसलिये अधिक मजदूरी भी पाते हैं। इस तरह सभी श्रमिक उत्पादन-शक्ति में बराबर नहीं होते। औद्योगिक निपुणता पर, जिससे श्रम-वर्ग सम्पन्न रहता है, किसी देश की धन-दौलत और उन्नति निर्भर रहती है। श्रमिकों की तादाद से उनकी योग्यताएँ उनकी विशेषताएँ, कम महत्त्वपूर्ण नहीं। आर्थिक संघर्ष के इस युग में अधिक निपुण श्रमदलवाले राष्ट्र की उन्नति की दौड़ में बाजी मार ले जाते हैं। उत्पादन की पूर्णता श्रमिकों की निपुणता पर ही अवलम्बित है। इस तरह श्रमिकों की निपुणता बढ़ाने का प्रश्न बहुत ही प्रधान है। श्रमिकों की निपुणता (१) काम करने की शक्ति तथा (२) काम करने की इच्छा इन दो बातों पर आधारित है। काम करने की शक्ति योग्यता से मतलब रखती है। पात्रता या योग्यता शारीरिक, कलात्मक (Technical), मानसिक या नैतिक तीन प्रकार की होती है।

—शारीरिक योग्यता—

शारीरिक योग्यता से हमारा मतलब श्रमिक के स्वास्थ्य तथा ताकत से है। (१) जातीय गुणों और विशेषताओं से कुछ मजदूर बहुत ही बलिष्ठ और फुर्तीबाज होते हैं। वजन, बनावट और ताकत में एक जाति के श्रमिक दूसरी जाति के श्रमिकों की अपेक्षा अधिक चढ़े-बढ़े होते हैं। इस तरह संस्कार का बहुत बड़ा महत्व होता है।

अँगरेज श्रमिक भारतीय श्रमिकों से बहुत कुछ जातीय विशषताओं के कारण अधिक पुष्ट और सुष्ठु होते हैं। (२) जिस जलवायु में मजदूर अपना काल-यापन करते हैं उसका भी गहरा असर उनपर पड़ता है। अति उष्ण जलवायु में मजदूर और मिहनतकर्त्ता जल्दी ही थक जाते हैं और उनकी सक्रियता घट जाती है। इसी प्रकार अति शीतल जलवायु भी अच्छी नहीं है। समशीतोष्ण प्रधान देश के श्रमिक पूर्णतः स्वस्थ और सबल रहते हैं। वे अपनी शक्ति से अधिक फायदा उठाते हैं। जलवायु पर उत्पन्न होनेवाले भोज्य-पदार्थ भी निर्भर करते हैं। (३) पर्याप्त और स्वास्थ्यकर खाद्य-पदार्थों पर मजदूरों की निपुणता अवलम्बित रहती है। जिन देशों के श्रमिकों को ऐसे पदार्थ मिलते हैं वे बड़े परिश्रमी होते हैं। भारतवर्ष के मजदूरों, की निपुणता कम इसलिये है कि उन्हें पुष्टकर और यथेष्ट भोजन नहीं मिलता। (४) खाद्यपदार्थों के अलावे रहने की सुन्दर व्यवस्था, काफी वस्त्र-प्राप्ति की सुविधा होने पर निपुणता बढ़ जाती है। हवादार और स्वच्छ स्थान में रहनेवाले, ऋतु के अनुसार वस्त्र पानेवाले, अवकाश प्राप्त करनेवाले मजदूर अवश्यमेव निपुण होंगे। (५) प्रकाश धूप, वायु की सुन्दर व्यवस्था कल-करखानों में होने पर, स्वच्छता की व्याप्ति पर, रंग-बिरंग चित्र की विद्यमानता होने से, जलपान और दिलबहलाव की सामग्रियों की उपस्थिति में मजदूरों को अधिक निपुण होने में प्रोत्साहन मिलता है। (६) काम करने के घंटों से भी निपुणता संबंधित है। यदि मजदूर अविराम श्रम करे तो उसकी शक्तियाँ थक जायँ और काम में पूरी तल्लीनता न रहे। अतः बीच-बीच में कुछ छुट्टी और अवकाश रहना नितान्त अनिवार्य है।

—कलात्मक योग्यता—

श्रमिकों की औद्योगिक या कलात्मक योग्यता भी उनकी निपुणता का निर्णय करती है जो चतुर मजदूर हैं वे सम्पत्ति के उत्पादन में सहायता पहुँचाते हैं और उचित मजदूरी पाते हैं। कलात्मक योग्यता सीखने-जानने की सुविधाओं पर निर्भर करती है। हमें इसको निश्चित

करते समय साधनों का भी विचार करना पड़ेगा। संस्कार-जनित प्रवृत्ति कितने व्यक्तियों में रहती है जो उपयुक्त अवसर मिलने पर विपुलतापूर्वक प्रस्फुटित हो जाती है।

मानसिक योग्यता

मजदूर की तीव्रता और चातुरी का भी निपुणता बढ़ाने में कम हाथ नहीं है। कला में तेजी की जरूरत पड़ती है। बिना मानसिक बुद्धिमानी से मशीनों की देख-भाल और प्रयोग दुरूह हो जाता है। चतुरता से भी बहुत काम निकलता है। शिक्षा के द्वारा मजदूर की मानसिक योग्यता का विकास होता है। संस्कार के बाद शिक्षा-दीक्षा का प्रभाव श्रम की निपुणता पर बहुत अधिक पड़ता है।

नैतिक योग्यता

नैतिक योग्यता बाल्यकाल से प्राप्त शिक्षा, घर पर के अनुशासन तथा साथियों के चरित्र का फल है। जिस कारखाने में स्त्री-पुरुष दोनों को काम करना पड़ता है वहाँ दुर्बल चरित्रवाले मजदूरों की निपुणता के कम होने की आशंका रहती है। यदि श्रमिक का नैतिक बल बड़ा है तो उसके जीवन में सफलता मिलेगी और काम में नियमितता रहेगी। वह ईमानदार होगा।

काम करने की इच्छा पर भी श्रमिक दल की निपुणता निर्भर करती है। कोई काम शीघ्र उबानेवाला और थकानेवाला नहीं होना चाहिये। श्रमिक मानव है। वह मशीन नहीं। उसे हर्ष-विषाद, सुख-दुःख की अनुभूति होती है। वह मशीन की तरह काम नहीं कर सकता। उससे बलात् अनवरत काम नहीं लिया जा सकता। उसे फुर्सत मिलनी चाहिये कि वह अपनी खोई स्फूर्त्ति का पुनर्लाभ कर सके। उसकी समय-समय पर बदली होनी चाहिये। एक ही काम दो वर्षों तक करने से आनन्द का अनुभव नहीं होता। इसलिये उसकी तरक्की होनी चाहिये। उसे पारितोषिक मिलना चाहिये। कहने का सारांश यह है कि उसे यह जानना चाहिये कि उसका भविष्य उज्ज्वल है। कभी-कभी मुनाफे

का कुछ अंश और बोनस मजदूरों में विभाजित करना चाहिये। जो नियम कारखाने में लागू हों वे उदार हों।

निपुणता का विवेचन करते समय हम श्रमिकों के अधिपति के गुणों को विस्मृत नहीं कर सकते, क्योंकि उससे भी निपुणता की वृद्धि में मदद मिलती है। जो उत्तम प्रबन्धकर्त्ता है वह अपने मजदूरों को अच्छे-अच्छे यंत्र और साधन देगा। वह अति नये अनुसन्धानों, अन्वेषणों और ढंगों से लाभ उठाकर श्रमिकों को भी अधिक योग्य बनावेगा। वह श्रम-विभाजन और श्रम-संयोजन के नियमों को हृदयंगम करेगा। इनके द्वारा वह तो खुद लाभ उठावेगा ही, उसके मजदूर भी अधिक निपुण बन सकेंगे।

इतना ही नहीं, समाजिक तथा राजनीतिक वातावरणों का प्रभाव भी श्रम की निपुणता पर पड़ता है। सामाजिक निरापदता की योजनाएँ बेकारी के भय से (जो डेमोकल्स की तलवार की तरह मजदूरों की गर्दन पर सदैव लटकी रहती है) तथा अभाव के भय से मुक्त करके उनका नैतिक विकास कर उनकी निपुणता विकसित कर सकती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि श्रम की निपुणता कई बातों के ऊपर निर्भर करती है। मनुष्य का परिवार, जिसमें उसके मधुर बचपन की घड़ियाँ बीतती हैं और जो उसके भावी जीवन पर एक अमिट छाप छोड़ जाता है, अभिभावकों का लाड़-प्यार, उनकी चिन्ता और देख-रेख जिनकी शीतल छाया में वह पलता-पनपता है, आर्थिक सुविधाओं का अभाव या आधिक्य जो उसकी उन्नति का प्रधान निर्णायक है, वह वातवरण जिसमें वह काम करता है और जिसकी सुन्दरता या असुन्दरता, स्वच्छता या अस्वच्छता, आकर्षणशीलता या आकर्षण-हीनता अच्छा या बुरा प्रभाव डालती है. मिल-मालिकों का सुव्यवहार या दुर्व्यवहार, सरकार का मजदूरों के जीवन में दिलचस्पी लेना या उदासीनता दिखाना, समाज की औद्योगिक नीति जिसके द्वारा वैज्ञानिक-प्रबन्ध और "रैशनलाइजेशन", आदि का समुचित समावेश होता है, मजदूर-संघों (स्थानीय, देशीय तथा अन्तर्देशीय) का संगठन और

कार्य—इन बहुमुखी बातों की उपज होती है मजदूरों की निपुणता है। दिनों-दिन इन बातों की ओर सबका ध्यान बढ़ता जा रहा है। श्रम-वर्ग की शिक्षा-दीक्षा, दवा-दारू, वेतन-वृद्धि, कारखाने-संबंधी सुविधाओं का इन्तजाम होता ही जा रहा है। सरकारें मुनाफा में मजदूरों को एक छोटा-सा हिस्सा देने का इन्तजाम कर रही हैं। बोनस (भत्ता) का भी प्रबन्ध किया गया है। गर्भवती मजदूरिनों को छुट्टी और विशेष वेतन देने का, बीमार पड़े श्रमिकों को वेतन के साथ छुट्टी देने और उनके इलाज कराने की सुविधा देने का भी विधान हुआ है। कहाँ कारखाने खुलें और उनके अन्दर काम करने, आराम करने, पानी और हवा आदि का इन्तजाम ठीक हुआ है या नहीं इसकी जाँच सरकार कराने लगी है।

श्रम की निपुणता की प्रधानता का पता इस बात से चल जायगा कि निपुण श्रमिक-दल किसी भी देश के लिये वरदान है। वह उस देश का उत्थान और पुनरुत्थान कर सकता है। उसके शासन में कम खर्च होगा वे चीजों को नष्ट कम करेंगे। मशीनों पर उनका पूरा ध्यान रहेगा। वे होशियारी से काम करेंगे। वे अपनी जवाबदेहियों को भली-भाँति पहचानेंगे। वे देश की औद्योगिक उन्नति में व्यक्तिगत रुचि रखेंगे। देश की सम्पत्ति बढ़ने से वह देश अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में सफल होगा।

श्रम-विभाजन (The Division of Labour)

आधुनिक उद्योग के दो परस्पर प्रतिकूल सिद्धान्त हैं—विभाजन तथा संयोजन। हम कहावत सुनते हैं कि बीस आदमी की लाठी एक आदमी का बोझ। यदि कोई बड़ा काम करना है तो यदि बहुत-से लोग हिलमिलकर करें तो वह जल्दी से समाप्त हो जाय। एक आदमी उस काम के एक लघु अंश पर ही अपने श्रम और ध्यान को केन्द्रित करे। श्रम का विभाजन श्रमिकों की निपुणता को बढ़ानेवाला है। इसीलिये श्रम-विभाजन का दूसरा नाम विशिष्टीकरण (Spec-

ialisation) भी है, क्योंकि इससे एक व्यक्ति किसी कार्य में विशेषता प्राप्त कर लेता है। यदि एक ही आदमी सभी काम करे तो वह किसी काम में निपुणता हासिल नहीं करता। He will be a Jack of trades but Master of none. आर्थिक दृष्टिकोण से श्रम-विभाजन के चार वर्ग बनाये जा सकते हैं (१) सामाजिक (२) औद्योगिक, (३) टेकनिक सम्बन्धी, (४) भौगोलिक-श्रम का विभाजन ।

सामाजिक श्रम-विभाजन

(Adam delves and Eve spins)

बहुत ही आरंभ में थोड़ा श्रम-विभाजन विद्यमान था। यह परिवार-गत था। स्त्री-पुरुष के कार्यों में विभाजन किया गया था। पुरुष घर से बाहर निकल कर खेती-बारी करते, पशुओं का शिकार करते या मछली मारते थे। घर पर उनकी स्त्रियाँ भोजन बनाती, उन्हें खिलातीं, शिशुओं का लालन-पालन करतीं, कपड़े सूत कातकर बुनती थीं, आदि। पहले प्रत्येक परिवार को अपनी आवश्यक चीजों को खुद तैयार करना पड़ता था। अभी तक किसी एक काम में विशिष्टता प्राप्त करने की टेव नहीं पड़ी थी। लोहार, बढ़ई, जुलाहा कोई नहीं था। सभ्यता के विकास के साथ समाज में श्रम-विभाजन भी बढ़ चला। जितने वर्ग थे सभी अलग-अलग कोई-कोई काम करने लगे। परिवार से परिधि बढ़कर गाँव तक पहुँची। गाँवों में भी श्रम का विभाजन होने लगा। वे आपस में अपनी तैयार की हुई चीजों का आदान-प्रदान करने लगे। धीरे-धीरे आवागमन के साधनों का विकास हुआ। दोनों की कठिनाइयाँ दूर हुईं। आर्थिक क्षेत्र ने फैलकर देश को आच्छादित कर लिया। इतना ही नहीं आज सारी दुनिया एक आर्थिक बाजार के रूप में नजर आती है। इसके साथ श्रम का विभाजन बहुत ही तीक्ष्ण और जटिल हो गया है। औद्योगिक आन्दोलन हुए हैं।

श्रम के विभाजन के लिये दो चीजों की बहुत जरूरत है—(१) विस्तृत

बाजार और (२) अविराम उत्पादन। सूक्ष्म और जटिल श्रम-विभाजन के लिये बहुत-से लोगों को विस्तृत बाजार की जरूरत है जिससे उत्पादित चीजों की खपत और बिक्री जल्दी-जल्दी हो। आज किसी पदार्थ को तैयार करने के लिये उस कार्य को कितनी ही क्रियाओं में विभक्त किया जाता है। उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है। इसके लिये बिक्री में शीघ्रता होनी चाहिये। दूसरी बात यह है कि श्रमिकों को लगातार, बिना बेकारी के, बहुत समय तक काम मिलना चाहिये। यानी उत्पादन का कार्य बहुत ही सुचारु गति से सम्पन्न करना चाहिये। इससे बाजार की माँग बिना रुकावट के पूरी की जायगी और मजदूरों को भी वेतन ठीक रूप से मिलता जायगा। अदमस्मीथ ने लिखा था 'श्रम-विभाजन का प्रचार बाजार की विशदता या विस्तार द्वारा परिमित है।' श्रम-विभाजन मशीन की विशिष्टता और अधिकारी-वर्ग की योग्यता पर अधिक निर्भर करता है, बाजार के विस्तार पर कम। यह आधुनिक विचारधारा है।

—औद्योगिक श्रम-विभाजन—

इस औद्योगिक श्रम-विभाजन के अनुसार प्रत्येक श्रमिक-वर्ग किसी विशिष्ट वस्तु की उत्पत्ति में तल्लीन रहता है। यह वर्तमान युग का प्रभाव है।

—कलात्मक या विधानगत श्रम-विभाजन—

इसके अनुसार कोई व्यक्ति एक चीज को आदि से अन्त तक नहीं तैयार करता है। वस्तु के उत्पादन की क्रिया में बहुत-सी उपक्रियाएँ बना दी गई हैं। एक-एक उपक्रिया वस्तु के एक-एक लघु भाग को तैयार करती है। उपक्रिया में बहुत से लोग लगाये जाते हैं। जूता बनाने की क्रिया को १७२ उपक्रियाओं में विभक्त किया गया है। सभी लोग मिलकर आजकल जूते तैयार करते हैं। पहले के जैसा केवल एक ही आदमी जूते को आद्यन्त तैयार नहीं करता।

—भौगोलिक श्रम-विभाजन—

इसका दूसरा नाम उद्योगों का एक ही स्थान में स्थानीयकरण भी

(Localisation) है। आवागमन की सुविधाओं और विद्युत्-शक्ति उत्पन्न करने के साधनों ने भौगोलिक श्रम-विभाजन में बड़ी सहायता पहुँचाई है। इसके अनुसार प्रत्येक देश किसी अमुक चीज के उत्पादन में अपने श्रम और पूँजी को उन्मुख करता है। वह अपने देशगत उपादानों का बढ़िया उपयोग कर सकता है। बम्बई प्रान्त में कपड़े तैयार करने का उद्योग अधिक चलता है क्योंकि कपास मिलने की सुविधा, विद्युतोत्पत्ति के साधन, जलवायु की तरलता, मजदूरों की पूर्त्ति, आयात-निर्यात की आसानी, आदि सुविधाओं से इस उद्योग को प्रोत्साहन मिलता है। उद्योगों के स्थिरीकरण से एक तो मजदूरों की निपुणता बढ़ती है, दूसरे विशिष्ट चीजों का उत्पादन उन्नति करता है।

श्रम-विभाजन से लाभ

प्रथम तीन प्रकार के श्रम-विभाजनों से जो लाभ प्राप्त होते हैं वे निम्नलिखित हैं। पहले उत्पादन पर पड़नेवाले प्रभावों का (पीछे मजदूरों पर पड़नेवाले) असरों का उल्लेख किया जायगा।

(१) श्रम के विभाजन से जो आदमी जिस काम के योग्य होता है उसे उसी काम में लगाया जाता है। प्राकृतिक विशिष्ट प्रवीणताएँ और प्रतिभाओं को अच्छे कामों में प्रवृत्त किया जा सकता है। अश्वारोहण के लिये हलका हाथ, काँटी ठोकने, चीनी के दानों की जाँच के लिये दक्ष नेत्र, किसी यान के आगमन का पता लगाने के कान ईश्वरदत्त होते हैं। इस प्रकार के श्रम-विभाजन का यह परिणाम होता है कि मनुष्य की शक्ति का अपव्यय नहीं होने पाता। कम व्यय करके अधिक उत्पादन किया जाता है। इस तरह उत्पादन का मूल्य घटता है। फुलेलों और तैलों की परीक्षा लेने के लिये सुतीक्ष्ण नाक की जरूरत है। इस्पात के कारखानों के लिये युवकों की सशक्त बाहुएँ और कपड़े के करघों के लिए उनके बलिष्ठ चरण अनुपम होते हैं। टाईप करने के लिए युवतियों की सुकोमल उँगलियाँ, मोहक नृत्य के लिये उनको मसृण पग और नाट्य करने के लिये उनकी बाँकी चितवन अनुपम होती है!

(२) श्रम-विभाजन इस ढंग से किया जाता है कि मशीनों और विद्युत् या वाष्पशक्ति का सहारा लिया जा सके। इससे एक तो श्रम-व्यय कम होता है, दूसरे प्रति वस्तु का औसत मूल्य भी घटता है। भोक्ताओं पर इसका अच्छा असर पड़ता है।

(३) इससे समय और हथियार की बचत होती है। कोई आदमी एक ही काम करने में प्रवृत्त किया जाता है। इसलिये एक काम को छोड़कर दूसरे काम करने में समय की जो क्षति होती है वह इससे नहीं हो सकती। इस तरह विलम्ब नहीं होता। पुनः, एक ही आदमी को आद्यन्त चीज नहीं तैयार करनी पड़ती है। वह थोड़े ही हथियारों से अपना काम चला सकता है।

(४) जो चीज इस नियम के पालन करने पर तैयार की जाती है वह निहायत सुन्दर होती है, क्योंकि उसके सभी अवयव विशेषज्ञों की कारीगरी के फल होते हैं। भोक्ताओं के लिए यह अच्छा होता है।

(५) एक ही चीज में लगे रहने से अधिक पूर्णता प्राप्त होती है। कहा भी है 'Practice begets facility and perfection'। एक ही काम में प्रवीण होने से निपुणता भी विकसित होती है।

(६) इससे एक तो प्राकृतिक प्रतिभाओं का विकास होता है, दूसरे जो उससे अनभिज्ञ हैं उनकी चतुरता भी बढ़ती है। वर्तमान औद्योगिक शिक्षण का यही उद्देश्य है कि कम परिश्रम-व्यय से अधिक लाभ उठाया जाय और अधिक काम किया जाय। प्रवीणता उसी समय प्राप्त होती है जब कोई काम अज्ञात रूप से (unconscious) हो जाय और तथाकथित motor habit हममें उत्पन्न हो।

(७) किसी काम को सीखने की अवधि इसके द्वारा न्यून हो जाती है। इस तरह परिश्रम और समय दोनों की बचत होती है।

(८) श्रम-विभाजन के द्वारा श्रमिक ही नहीं, बल्कि उसके हथियार भी सुचारु रूप से कार्यरत किये जा सकते हैं। यदि तीन आदमी एक मशीन रखें और समय निश्चित कर बारी-बारी से उससे अपना काम करें तो मशीन बेकार पड़ी नहीं रहेगी।

(६) श्रम-विभाजन से मजदूर को अवकाश मिलता है कि वह अपनी खोई शक्तियों को पूरा कर सके। मशीन का सहारा लेने से उसके अंग-प्रत्यंग की नसें अधिक थकती नहीं।

(१०) मजदूर कभी-कभी कुछ अनुसन्धान भी कर सकता है। वह कुछ सुझाव भी रख सकता है। इसका कारण यह है कि उसे क्रिया के एक छोटे अंश पर अपनी समस्त दृष्टि और शक्ति को केन्द्रस्थ करना पड़ता है। इस तरह उसे चिन्तन तथा मनन का समय भी उपलब्ध होता है।

पिन बनानेवाले उद्योग को लेकर हम श्रम के विभाजन का महत्त्व समझ सकते हैं। अदमस्मीथ बतलाते हैं कि एक पिन को बनाने के लिये १८ स्पष्ट क्रियाओं का ईजाद किया गया है। १० व्यक्ति ४८००० आलपिनें एक दिन में तैयार कर सकते हैं और एक व्यक्ति इस प्रकार ४८०० आलपिनों को बना सकता है। यदि श्रम का विभाजन नहीं होता तो एक आदमी अधिक-से-अधिक एक दिन में २० आलपिनें कठिनता से तैयार कर सकता था। श्रम-विभाजन के द्वारा उत्पादन पूँजीवादी हो जाता है और समाज की इच्छाएँ विशेषरूप से पूर्त्त होती हैं। यह भी भोक्ताओं के लिये ठीक ही है।

(११) विकलांग व्यक्तियों को भी उनके लायक काम दिया जा सकता है। फोर्डगाड़ी की कम्पनी में हाथ-विहीन व्यक्ति भी काम पा लेते हैं।

श्रम-विभाजन से क्षति

श्रम-विभाजन से कल-कारखानों और मशीनों की बाढ़ आ जाती है। उनसे तो हानियाँ होती ही हैं, श्रम-विभाजन से भी बहुत नुकसान होता है।

(१) इससे चातुरी तथा दायित्व की भावना को धक्का पहुँचता है। मजदूर केवल हथियारों का दास बन जाता है। उसे निपुणता जरूर मिलती है, पर वह सम्पूर्ण योग्यता की बलि देकर प्राप्त की जाती है। श्रमिक को अपने कार्य में आनन्द या गौरव की अनुभूति नहीं होती

है क्योंकि जो वस्तु तैयार होती है वह केवल उसकी नहीं बल्कि बहुतों की तैयार की हुई रहती है और उनमें कुछ सुदूर देशों के अपरिचित निवासी हो सकते हैं।

(२) कार्य का सीमित क्षेत्र श्रमिक के मानसिक क्षितिज को संकुचित बना देता है। सभी मानसिक समर्थताओं के विकास का मार्ग खुला नहीं रहता। इसलिये उनमें बहुत अर्द्धविकसित ही रह जाती हैं।

(३) श्रमविभाजन से जी जल्दी ही ऊब जाता है। इसमें नूतनता का नाम नहीं। एक ही मशीन को हमेशा चलाना, अहर्निश एक ही कार्य-सम्पादित करना बुद्धि को पथरीली बना देता है। किसी काम में अग्रमुखी भाग लेने की प्रेरणाएँ सुप्त हो जाती हैं।

(४) किसी उद्योग या उद्योग के किसी भाग पर निर्भर होने के कारण जब वह काम खत्म हो जाता है तब श्रमिक को बेकार बैठना पड़ता है। व्यापार की अधोगति की अवस्था में इसकी कटुता समझ में बहुत आती है।

(५) श्रम-विभाजन की प्रचुरता से सामाजिक दलों का निर्माण होता है जो जनता की भलाई की अपेक्षा करके वर्गीय हित को बढ़ाने का प्रयास करते हैं।

(६) अति श्रम-विभाजन से बेकारी बढ़ती है। यह इसलिये कि जहाँ पहले चार आदमी कोई काम करते थे वहाँ एक आदमी वही काम कर लेता है। जहाँ पहले किसी काम को करने में चार घटे लगते थे वहाँ उसी काम को करने में एक घंटा से भी कम वक्त लगता है। इससे पहले की अपेक्षा कम लोगों की सेवा की जरूरत पड़ती है। बहुत-से लोग बेकार Misfit हो जाते हैं।

(७) श्रम-विभाजन का विस्तार बाजार के विस्तार पर निर्भर करता है (अदमस्मीथ)। इसका मतलब यह है कि श्रम-विभाजन उसी समय संभव हो सकता है जब बड़े पैमाने पर या मशीन के सहारे उत्पादन किया जाय। और बड़े पैमाने पर होनेवाले उत्पादन के

लिये किसी बाजार का बड़ा भाग उत्पादक के हाथ में रहना चाहिये तभी वह अपने द्वारा तैयार चीज की पूर्ति कर सकेगा। अगर बाजार का विस्तार ही संकुचित है तो उत्पादन भी कम होगा और इसलिये श्रम-विभाजन की भी गुंजाइश कम होगी।

(८) श्रम-विभाजन का पर्याप्त उपयोग या प्रयोग कृषि ऐसे कार्यों में नहीं हो सकता। श्रम-विभाजन का अर्थ होता है कि व्यक्ति किसी कार्य के खास भागों को सम्पन्न करेंगे। लेकिन कृषि में यह संभव नहीं है कि एक आदमी केवल खेत कोरना, दूसरा आदमी केवल हल चलाना, तीसरा आदमी केवल बीज छींटना, चौथा आदमी केवल निकौनी करना मात्र ही जाने और वही काम करे। खेती-बारी में तो एक ही आदमी को कई कामों को करने की कला जानना पड़ता है और यह अनिवार्य भी है।

(९) चैपमन ने ठीक ही लिखा है कि उत्पादन के साधन की उत्पादनशक्ति ही उसकी मान्यता की कसौटी नहीं है—बहुत-सी चीजों को प्राप्त करना ही जीवन का चरम ध्येय नहीं। यदि मनुष्य जूता बनाने की एक उपक्रिया का प्रवर्तक है तो इसका मानी यह है कि वह ५७३ आदमी है क्योंकि पहले एक ही आदमी जूता तैयार करता था। उद्योग की धमनियों से मानवता संचारित नहीं होती। उसमें मानव हृदय का सुपुलकमान स्पन्दन नहीं है। श्रम-विभाजन से कितनी जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। 'चार्ली चैपलीन' का चित्रपट "आधुनिक समय" श्रम-विभाजन के कुफल का प्रदर्शक है। पुनः श्रम-विभाजन का यह तात्पर्य हर्गिज नहीं कि श्रमिक उसी कार्य के लिये नियुक्त किया जाता है जिसके उपयुक्त वह सर्वरूपेण है। प्रवर्तक का लक्ष्य यही रहता है। पर यह सब माँग पर निर्भर करता है। श्रमिक बहुत काम करतेपाये जाते हैं और जैसी माँग होती है वे उसीके अनुसार आचरण करते हैं। फिर भी श्रमविभाजन से हानियों की अपेक्षा लाभ ही अधिक होते हैं और इसका भविष्य स्वर्णिम है।

———

चतुर्थ अध्याय

औद्योगिक निपुणता का प्रश्न

(Problem of Industrial Efficiency)

निपुणता लागत या व्यय से सम्बन्ध रखती है। उसके बढ़ने से लागत कम हो जाती है। लागत कई बातों पर निर्भर करती है—कच्चे मालों की प्राप्ति पर, व्यवसाय के पैमाने पर, मशीनों और औजारों की अति आधुनिकता और उपयोग पर, आनुषङ्गिक उपजों के उचित प्रयोग पर, बाजार के विस्तार पर आदि। बॉलफोर कमिटी ने बहुत ही सुन्दर ढंग से इस विषय के ऊपर प्रकाश डाला है। यह सोचना कि पूँजीगत सामान (Capital Equipment) उद्योग के लिये बहुत आवश्यक है, इसलिये औद्योगिक संस्थाओं को सबसे हाल के प्लांट (टेकनिक आदि) से परिपूर्ण करना चाहिये, गलत है। फिर यह सोचना कि चूँकि वृहत् पैमाने के उत्पादन से औद्योगिक निपुणता द्रुतवेग से बढ़ती है इसलिये सभी छोटे पैमाने के फर्मों को प्रोत्साहित या प्रेरित करना चाहिये कि वे संयुक्त हो जायँ, संगठित हो जायँ, भ्रमात्मक है। पिछले कुछ वर्षों के इतिहास को देखने से यह पता चलता है कि बहुत-से फर्मों—कनसर्न्स—ने वाणिज्य-व्यय तथा बाजार की परिमितताओं का ख्याल किये बिना ही इस तरह के कार्य कर डाले और अब पछता रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि फर्म उपस्थित परिस्थितियों से फायदा उठावें और बाजार एवं वाणिज्य-विषयक लागतों को कम कर अपनी निपुणता को बढ़ाने की कोशिश करें।

निपुणता का संबंध फर्म के साईज या विस्तार से भी है। कुछ व्यवसायी तो कहते हैं कि उद्योग को जितना चाहें उतना ही विशद बना सकते हैं। लेकिन जैसा कि हम देखेंगे किसी भी उद्योग के

प्रसारण की एक हद होती है जिसके बाद उसका विशदीकरण नहीं हो सकता। एक सीमा के बाद फर्म का संचालन करना दुश्वार हो जाता है। साधारणतया बहुत फर्म अर्द्धसीमान्त (Submarginal) अवस्था में ही पड़े रहते हैं। इन दोनों सीमाओं के बीच में जो फर्म स्थित होते हैं वे अच्छी तरह दिन काटते रहते हैं।

निपुणता का संबंध मजदूरों की काम करने की सामर्थ्य या योग्यता से भी होता है। इसके लिये औद्योगिक मनोविज्ञान का तथा दूसरी समान समस्याओं का अध्ययन करना जरूरी हो जाता है।—दूसरी समान समस्याओं में प्रमुख ये हैं—मजदूरों के रहने तथा काम करने की अवस्थाएँ, मजदूरी के देने की प्रणाली, तरक्की करने की उम्मीदें, प्रभृति। प्रो० लालवाणी के अनुसार "वैज्ञानिक प्रबन्ध" प्रबन्ध अथवा व्यवस्था के क्षेत्र में कम वैज्ञानिक सिद्ध हुआ है और उसने सिर्फ मजदूरों का शोषण किया है। यह भी एक कारण है जिससे मजदूरों के संगठनों ने वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा रैशनलाइजेशन का जी-जान से विरोध किया है।

वितरण के दृष्टिकोण से भी निपुणता का अध्ययन करना आवश्यक है। केनेडी ने बतलाया है कि आज के लिये वृहत् पैमाने पर भी खरीद-बिक्री सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इससे भी निपुणता के विकास में काफी मदद मिलती है।

सामान्य तथा वैधानिक (टेकनिकल) शिक्षा को भी प्रधानता निपुणता के दृष्टिकोण से है। वैज्ञानिक खोज-पड़ताल या अन्वेषण को —स्ट्रैटेजी—पर अधिक, ...टैकटिक्स—पर कम बल या जोर देना चाहिये। नई वस्तुओं और क्रियाओं के लिये खोज पड़ताल होनी चाहिये। साथ-ही-साथ मूलभूत नियमों की भी जाँच-परीक्षा होनी चाहिये।

औद्योगिक निपुणता को बढ़ाने में व्यावसायिक आँकड़ों (Statistics) का कम महत्व नहीं। विकसित देशों में तीन जरियों से आँकड़े उपलब्ध होते हैं—व्यक्तिगत फर्मों द्वारा, व्यापार या उद्योग के संगठनों द्वारा तथा कार्यालयों द्वारा।

इतना ही नहीं, औद्योगिक निपुणता को संवर्द्धित करने के लिये मजदूरों में गत्यात्मकता होनी चाहिये क्योंकि गत्यात्मकता आधुनिक व्यवसाय का मानों प्राण हो। व्यावसायिक ढंग (Tactics) बड़ी तेजी से बदलते जा रहे हैं। इसलिये अगर किसी व्यवसाय को अपनी प्रतियोगिताशील सामर्थ्य को धारण करके रखना है तो इसको काफी सतर्क होना चाहिये जिससे वह परिवर्तित परिस्थिति के साथ घुल-मिल सके। बॉलफोर कमिटीने लिखा है—"The vitality of modern industry like that of an organism is measured by its power of response to external stimulus and of self-adaptation to modified environment." गत्यात्मकता का अर्थ सतत परिवर्तनशीलता नहीं। इसका मानी होता है आर्थिक परिस्थतियों में उत्पन्न परिवर्तनों के प्रति तत्क्षण क्रियाशीलता। "It is a matter of supreme necessity. The qualities of initiative and flexibility of temperament, the power of re-adjustment and adaptation and the capacity for free and willing co-operation among all the partners in production and distribution should be maintained unimpaired."

एक ही उद्योग में की लागतों में फर्क पड़ता है। यह फर्क अग्र-लिखित कारणों से पड़ता है—भौगोलिक स्थिति, साधनों की निपुणता, संगठन और शासक-मंडली। इन कारणों की विभिन्नता यथेष्ट अर्थ रखती है। लागत के कई भाग हैं— कच्चेमाल, मजदूरी, वेतन, शक्ति, ईन्धन, आदि। इन भागों की प्रधानता उद्योग-उद्योग के अनुसार बदलती रहती है। मजदूरी को संचालित करनेवाली चार शक्तियाँ हैं—(१) शासन-मंडल (Personnel) में होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव (२) उत्पादित वस्तुओं में परिवर्तन (३) ढंगों में परिवर्तन (४) काम के घंटों को घटाने का प्रभाव।

लागत से तात्पर्य उत्पादन की लागत से ही नहीं। दाम को जो

लागत निर्धारित करती है उसमें वितरण की लागत भी सम्मिलित रहती है। वितरण की लागत खुदरा और थोक दोनों हो सकती है। आमतौर से कच्चेमाल पर खर्च की गई रकम और उसकी वजन तथा वितरण में लगा खर्च—ये ही उत्पादन की लागतों को निर्धारित करते हैं। इनके बारे में लोगों को पूरी जानकारी भी रहनी चाहिये।

प्रबन्ध का शनैःशनैः (क्रमिक) विकास होता रहा है। आज उसका महत्व उद्योग-धंधों में बहुत अधिक हो गया है। इसके बारे में हम प्रथम अध्याय में भी लिख चुके हैं और "छोटे बनाम बड़े उद्योग-धंधे" शीर्षक अध्याय में भी इसके ऊपर प्रकाश डाला गया है। हमारे युग तक आते-आते प्रबन्ध लगभग वैज्ञानिक बन चुका है। यह कार्यों के संगठन के आधार पर खड़ा किया गया है। व्यवसाय की गुत्थियाँ बढ़ती गई हैं, स्वामित्व और सचालनाधिकार में पार्थक्य हो गया है, नए-नए औजारों की होड़ मची है, हिसाब-किताब (Accountancy) में भी प्रचुर विकास हो चुका है—लाचार होकर औद्योगिक व्यवस्था को वैज्ञानिकता अपनानी पड़ी है। कार्यगत संगठन का सम्पर्क पंक्तिगत संगठन से हो रहा है। "In a sense, every functional element must be controlled by Line Organisation for otherwise responsibility would be divided, with results fatal to efficeincy." कार्यगत संगठन का भी संघन हो चुका है जिससे दत्तता (expertness) की संभवनीयता बढ़ सकी है इसे Staff Organisation की संज्ञा प्रदान की गई है। उसी प्रकार पंक्तिगत संगठन (Line Organisation is like the army with its generals, colonels and successive ranks down to the rank and file) का भी विभागों के आधार पर प्रसारण हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक विभाग सर्वव्यापक (All-embracing) और सर्वशक्तिमान् (All-powerful) होने के बजाय विभाजित हुआ है और प्रत्येक विभाजन को कार्यानुसार दीक्षित व्यक्तियों को सौंपा

गया है । "Staff Organisation is only a recent addition and is due only to the need for expertness" ।

आज उद्योग के संचालन या प्रबन्ध करने की शिक्षा के लिये चारो ओर से आवाज उठ रही है। कुछ व्यक्ति तो इसे "नव औद्योगिक क्रान्ति" कहते हैं। व्यावसायिक प्रबन्ध मनुष्य की योग्यता एवं ज्ञान के लिये बड़ी माँग करता है। प्रबन्ध की समस्या आज जटिल बन गई है। शेल्डन के शब्दों में "Management proper is the function in industry concerned in the execution of policy within the limits set up by administration and the employment of the organisation for the particular objects set before it"। आज कुछ निराशावादी (defeatists) हमें मिलते हैं जो प्रबन्ध के नाम पर हाय पीटते हैं और कहते हैं "There are so many imponderables entering into fitness for management that preparation in advance cannot be conducted even to a limited extent. Success in management is exclusively due to personality, by which presumably they mean that managers are borne, not made" ।

शिक्षा का ध्येय होना चाहिये व्यक्तियों को "व्यवसाय के लिये" तैयार करना, न कि "व्यवसाय में" तैयार करना। सरजेन्ट महाशय के शब्दों में महत्व वास्तव में दीक्षा का है, तथ्यों के विशिष्ट खंडों को हृदयंगम करके पैसा अर्जित करने का कोई महत्व नहीं" ।

उत्पादन की लागतों तथा उत्पादन के विस्तार में जो लगाव पाया जाता है उसकी रूप-रेखा बड़ी जटिल होती है। यह कई शक्तियों की अन्तःक्रीड़ा (interplay) की उपज होती है। आगे चलकर हम बतलाएँगे कि किस तरह प्रो० मार्शल को "प्रतिनिधि फर्म" (Representative Firm) की विवेचना करनी पड़ी जिससे सीमान्तगत विश्लेषण के बिना क्रमागत उत्पत्तिवृद्धि के नियम द्वारा

प्रभावित फर्म के उत्पादन-व्यय और दाम की अभिव्यक्ति हो सके। प्रो॰ पीगू ने "संतुलन-फर्म (Equilibrium Firm) का सिद्धान्त प्रतिपादित करके बतलाया है कि यह फर्म उस समय संतुलित दशा में होगा जब सम्पूर्ण उद्योग संतुलित दशा में है। रॉबिन्स आदि ने "ऑपटिमम फर्म" का प्रतिपादन किया है। जो हो, आज अर्थशास्त्र-वेत्ता इस बात को स्वीकार कर रहे हैं चाहे उद्योग सतुलित हो या असंतुलित कोई फर्म संतुलित हो सकता है बशर्ते कि वह उस अवस्था को प्राप्त कर ले जिस अवस्था में किफायतशारी सबसे अधिक होती है। यह कहना हरदम सत्य नहीं कि फर्म न्यूनतम विस्तार प्राप्त करने की उधेड़-बुन में ही रहते हैं और वे अधिकतम विस्तार नहीं करना चाहते। वे ऐसा भी चाहते हैं क्योंकि जैसा हम "छोटा बनाम बड़ा उद्योग" अध्याय में बतलायेंगे इसमें बड़ा फायदा भी होता है। हम उसमें चार प्रकार की अधिकतम प्रवृत्तियों (Optima) का उल्लेख करेंगे और जब उनके बीच में संतुलन स्थापित होगा तब वह स्थिति सबसे अधिक लाभदायिनी होगी। महाशय रॉबिन्सन ने इस तरह के संतुलन का वर्णन इन शब्दों में किया है—"The equilibrium may be similar either to that of the tug-of-war rope which is motionless because no one is yet pulling in either direction, or to the tug-of-war rope which is motionless because the two teams are for the moment equally matched"।

किसी उद्योग की क्षमता या निपुणता केवल उसके विस्तार या डीलडौल पर ही अवलम्बित नहीं बल्कि इस बात पर भी अवलम्बित है कि फर्मों का विभाजन स्थिति की नजर से किसी देश में किस तरह का है। यदि आवश्यकता से अधिक केन्द्रीयकरण या स्थिरीकरण कहीं होता है तो वह ठीक नहीं। फिर, यदि जितनी आवश्यकता है उतना केन्द्रीयकरण या स्थिरीकरण किसी उद्योग का नहीं होता है तो वह भी ठीक नहीं। जैसा कि हम "उद्योग-धंधों का स्थानीय-

करण" अध्याय में बतलायेंगे। स्थानीयकरण मुक्त प्रणाली में प्राकृतिक शक्तियों से रूपायित होता है और गैर-प्राकृतिक प्रभावों द्वारा भी। लेकिन अब सर्वथा मुक्त-प्रणाली नहीं रह गई। इसलिये हम पाते हैं कि अब जानबूझकर (deliberately) किसी स्थान में किसी उद्योग का स्थानीयकरण हो जाता है तो किसी स्थान में ऐसा नहीं होने पाता चाहे स्वतः ही या सरकार की अनिच्छा के चलते।

रैशनलाइजेशन (विवेचनीकरण) के ऊपर भी औद्योगिक निपुणता निर्भर करती है। इस पर हम एक स्वतंत्र अध्याय आगे लिखेंगे। यहाँ इतना ही कह देना अलम् होगा कि इसमें औद्योगिक टेकनिक विज्ञान तथा बुद्धि के ऊपर आधारित होता है। यह केवल "empirical, traditional or haphazard" क्रिया नहीं। इसके बारे में कहा जाता है कि इसमें "There will be no need for the troublesome and wasteful process of bankruptcy in order to separate the sheep from the goat—in order to determine who shall be able to decide how the community's capital is to be employed."। कोढ़ की तरह जो बहुत कमजोर फर्म मजबूत फर्मों के साथ लगे रहते हैं उनको हटाना भी अनिवार्य हो जाता है। इसीको ध्यान में रखकर बॉलफोर कमिटी ने लिखा था—"An operation of cutting out dead wood may be essential for the speedy restoration of prosperity and the resumption of growth for the more efficient branches"।

संगठित श्रम-दलों ने रैशनलाइजेशन का विरोध तीन वजहों के कारण किया है—(१) इससे टेकनोलोजिकल बेकारी बढ़ेगी। (२) यह मजदूरों का अधिकाधिक शोषण करता है। उनके ऊपर बड़ा भार पड़ता है ? वे बहुत थक जाते हैं। (३) इसके प्रयोग से आमदनी तो बढ़ती है लेकिन उससे मजदूरों को फायदा नहीं होता क्योंकि उनकी उत्पाद-

कता (Productivity) इसके कारण बढ़ती है जरूर लेकिन इस बढ़ती के लिये उन्हें विशेष मजदूरी नहीं दी जाती। उद्योगपति उत्पादकता की बढ़ती को मजदूरों की देन न बतलाते बल्कि टेकनिक में किये सुधारों की देन बतलाते हैं।

मजदूरों की क्षमता बढ़ाकर भी उद्योग अपनी निपुणता बढ़ा सकता है। मजदूरों की क्षमता – कितने घंटे काम किये जाते हैं, उनकी भरती-बहाली किस ढंग से की जाती है, वे कैसी हालतों में काम करते हैं, वे काम करते समय किन-किन साधनों से सहायता लेते हैं, उनके मालिक और मैनेजर होशियार हैं, काम लेना जानते हैं या नहीं, आगे तरक्की करने की कोई उम्मीद है या नहीं, आदि तत्वों पर निर्भर करती है। मजदूरों के मनोविज्ञान-साइकलोजी—का भी अध्ययन करना वर्तमान उद्योग-पद्धति में आवश्यक हो गया है। टायलर ने वैज्ञानिक प्रबन्ध के ऊपर लिखते बतलाया है—"We can see our forests vanishing, our water-powers going to waste, our soil being carried by floods into the sea. But our larger wastes of human efforts are less visible, less tangible and are but vaguely appreciated"। काल और गति (Motion) के अध्ययन से ऊपर लिखते हुए बारनीज ने लिखा है कि वह ढंगों, अवदानों, औजारों और मशीनों का विश्लेषण है। गिलब्रेथ महाशया तो गति-अध्ययन को कार्य का दर्शन, मस्तिष्क का रूख और एक साधन एवं ढंग बतलाती हैं। इस तरह की व्यवस्था से मजदूरों की निपुणता बढ़ जाती है। आज के यंत्र-संकुल युग में हम मानवीय तत्व की प्रधानता को कम नहीं समझ सकते।

औद्योगिक निपुणता के लिये शान्त वातावरण की भी बड़ी महत्ता है। मजदूरों और मालिकों के बीच मधुर व्यवहार रहना चाहिये। हड़तालों और तालाबन्दी (Lock-out) से बड़ी खराबी होती है और इससे औद्योगिक निपुणता घट जाती है।

उद्योगों की निपुणता बढ़ाने के लिये मजदूरों की भलाई को भी बढ़ाना होगा। प्रगतिशील देशों ने सामाजिक सुरक्षा की स्कीमें कार्यान्वित की हैं। छोटे पैमाने पर भारत में भी इस प्रकार की स्कीमों का श्री-गणेश हुआ है।

उद्योग की निपुणता हाट-बाट की सुन्दर और स्वस्थ व्यवस्था, वैज्ञानिक अन्वेषण की संभवनीयता, औद्योगिक गतिशीलता, वस्तुओं के गुणों के नियंत्रण, औद्योगिक तथा वाणिज्यगत कला की देखभाल, व्यावसायिक चक्रों के अध्ययन, आँकड़ों का एकत्रीकरण, मुनाफे की रकम की निश्चयता (अनुचित अधिकता नहीं), आदि पर भी निर्भर करती है। यह इस बात पर भी निर्भर करती है कि किसी राष्ट्र की सरकार किसी योजनाकरण के द्वारा वहाँ की औद्योगिक क्षमता को बढ़ाने की चेष्टा कर रही है या वह तटस्थता की नीति अपनाए हुए है। इतना सत्य है कि बिना आँसुओं के योजनाकरण हो ही नहीं सकता लेकिन दरिद्रता को मिटाने के लिये तो अधिकांश व्यक्तियों की प्रसन्नता (Cheers) के सामने कुछ लोगों के आँसुओं (Tears) की उपेक्षा करनी ही होगी। यदि पूँजीवाद सूर्यकला (sunsbine) है तो समाजवाद चन्द्रकला (moonshine)। पूँजीवाद चन्द्रमा पर व्यर्थ तीर चलाकर उसकी गोद से खरगोश को छीनना चाहता है। इसके विपरीत समाजवाद एक जादूगर की नाईं अपने टोप से ही खरगोश को पैदा करता है। एक में दम्भ और आडम्बर है तो दूसरे में सामर्थ्य और सेवा-भाव।

पंचम अध्याय

प्रामाणिकता तथा उद्योग-प्रवर्तक

(Standardization And the Entrepreneur)

तृतीय अध्याय में श्रम-विभाजन का सविस्तार वर्णन हुआ है। हमारी इच्छा है कि उद्योग-प्रवर्तक की विशेषताओं को बतलाने के पूर्व "प्रामाणिकता" पर कुछ लिख दें ताकि इससे पाठकगण अवगत हो सकें। वस्तुतः श्रम-विभाजन तथा प्रामाणिकता के बीच चोली-दामन का सम्बन्ध है। मशीनों की प्रसिद्धि का श्रेय प्रामाणिकता को भी प्राप्त है। वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management) में इस तत्त्व से प्रचुर सहायता मिलती है।

आधुनिक उद्योगों का झुकाव विशद श्रम तथा क्रिया-विभाजन की ओर है। उन्हें श्रम-विभाजन की बहुमूल्य क्रिया से यथेष्ट सहायता मिलती है। कोई आदर्शरूप श्रमिक किसी कला या कारीगरी की क्रिया को आद्यन्त नहीं जानता प्रत्युत वह उसकी लघु उपक्रिया से अभिज्ञ रहता है। श्रम-विभाजन से उद्भूत यह लाभ कि विशिष्ट एवं मूल्यवान यंत्र को सदैव कार्यरत रखा जाता है—उससे इसमें बड़ी गति प्राप्त होती है। संश्लिष्ट तथा विश्वासास्पद मशीनों का आविष्कार हो चुका है। वे भी मशीनों की सन्तानें हैं। वे एक बार क्रियावान् होने से अविराम अपना कर्त्तव्य पालन करती रहती हैं। आवश्यकता इतनी ही रह जाती है कि मानव-कर सूक्ष्म तथा कोमल संस्पर्शमात्र होवें। इसका परिणाम यह हुआ कि उच्चकोटि की चातुरी या कला की आवश्यकता कम हो गई है। अल्प बुद्धि और सतर्कता से सारा काम चल सकता है। औद्योगिक प्रगति उस साधन की ओर अग्रसर होती जा रही है जिसे हम Standardization की संज्ञा देते हैं। प्रामाणिकता का आविर्भाव डेढ़ सदियों

पूर्व ही हुआ था जब मशीनजात मशीनों ने आँखें खोलीं, जब विश्वयुद्ध का कोलाहल वैज्ञानिकों और उद्योगियों के कर्ण-कुहरों में प्रवेशकर उनके चिन्तन-गवाक्ष खोलकर इसके निर्माण के लिये उन्हें उत्प्रेरित कर रहा था। युद्ध-सामग्रियाँ (ब्रिटेन में) तथा जहाजों (अमेरिका में) की बहुल उत्पादन-शक्ति ने प्रामाणिकता को जन्म दिया। Ford motor-car की कम्पनियों में इसने पूरा भाग लिया है। वैज्ञानिक प्रबन्ध का प्रेरक यही है। शारीरिक श्रम में प्रामाणिकता का उपयोग मशीन में होने की अपेक्षा अधिक होता है। इसका ध्येय श्रम-विभाजनोत्पन्न लाभ को संचित और ठोस बनाना है। इसके अनुसार न्यूनतम-प्रयास द्वारा किसी कार्य को सम्पादित करने के लिये जिन-जिन गतियों की जरूरत होती है उन-उनका मनन किया जाता है। मजदूरों को उन्हीं गतियों को हृदयंगम तथा पूरा करने का आदेश किया जाता है। इसके आधार पर समय, शक्ति और विचार, आदि के व्यय में बचत करने का प्रयत्न किया जाता है। श्रमिकों की समर्थताओं तथा प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाता है। उन्हें योग्य कामों में लगाया जाता है। चतुर मजदूरों को शिक्षणापेक्षित काम सौंपा जाता है। इस प्रकार प्रयत्न किया जाता है कि मशीनें बेकार पड़ी न रहें बल्कि उनसे सतत काम लिया जाय।

प्रामाणिकता के सिद्धान्त की सफलता में कितने अवरोध हैं। कितने उत्पादक स्थितिपालक, सनातनी और उत्साहहीन होते हैं। वे प्रामाणिकता का उपयोग नहीं करना चाहते हैं। भोक्तावृन्द भी व्यक्तिगत इच्छानुसार चीजों की माँग करते हैं और अनुरूप चीजों के उत्पादन में रोड़े अटकाते हैं। कारीगर भी इससे द्वेष करते हैं। वे यह देखकर जल-भुन जाते हैं कि कहाँ पहले कलाविद् तथा कारीगर उत्पादन करते थे और कहाँ आज नौसिखुए और अल्प-बुद्धिमान मजदूर उसी काम को कर रहे हैं। फिर भी Standardization की विजय होती है। जबतक बढ़ती आबादी की माँगों

को समगति से पूरा करना है, जबतक सामूहिक उत्पादन की ओर उद्योगों की गति है, बिना प्रामाणिकता की सहायता के कोई काम ही नहीं चल सकता।

मशीनों तथा श्रम-विभाजन की प्रणाली के अनुसन्धान से परम्परागत उद्योग-धंधों को गति और प्रेरणा मिली और वे आज इतने वृहत् आकार में हमारे समक्ष उपस्थित हैं कि हमें देखकर सहसा आश्चर्य होता है कि उनके शासन का गुरुतर भार किसने लिया है जो वे अबाध-गति से एकदम एकाग्रचित्त होकर उत्पादन-कार्य में लीन हो गये हैं। मशीनों ने उत्पादन करने की कला में अनेकों गुणों का समावेश कर दिया है। जिससे उत्पादन-कार्य आज निखर उठा है। उसकी निपुणता में अभिवृद्धि हो गई है। श्रम-विभाजन से उत्पादन-कार्य में निपुणता आई ही है, उसमें ठोसता तथा समता भी कम विकसित नहीं हुई है। इस प्रकार उत्पादन-कार्य ने अमित प्रसिद्धि प्राप्त कर ली है। उसे चालू और सुसंयत रखने के लिये उत्तम संचालन की अनिवार्यता है। इन दिनों संचालन का काम एक रूप में नहीं चल रहा है। उसने बहुत-से रूप धारण कर लिये हैं। प्रत्येक ढंग से विशिष्ट लाभ होते हैं। उनका वर्णन आगे संक्षिप्त रूप में दिया जा रहा है।

वह व्यावसायिक प्रथा जिसमें एक प्रणेता या प्रवर्त्तक ही सर्वस्व हो
(The Single Entrepreneur Business System)

बहुत ही पहले जब संसार में औद्योगिक-क्रान्ति का शंख-नाद नहीं हुआ था, जब पूँजी का शिशु साधारण व्यावसायिक प्रणालियों के पालने में झूल रहा था, जब उत्पादन का काम अल्प पैमाने पर होता था, जब साधन कारीगर के हाथ से विनिर्मित होते थे तब वस्तुओं में एक प्रणेता द्वारा संचालित व्यावसायिक प्रथा विशेष रूप से प्रचलित थी। पहले परिमित रूप में उत्पादन किया जाता था। व्यवसाय ग्रामों और नगरों के बीच में स्थूल साधनों के द्वारा होता

था। चीजों की माँग और पूर्ति के लिये जो बाजार था वह संकुचित था। पूँजी का उपयोग साधारण परिमाण में होता था। बनाने के जो हथियार थे वे कम दामवाले थे। जब औद्योगिक क्रान्ति ने नये-नये वैज्ञानिक यंत्रों को हमारे पास रख दिया और आवागमन के व्यवधानों को भंग करके संकुचित बाजार का विशदीकरण किया तो उत्पादन-कार्य करने के लिये आवश्यक गुणों में विकास लाने की जरूरत छोटे-छोटे उत्पादकों को हुई। उन्होंने उन गुणों को सिखना आरम्भ किया और समय के साथ अपने को घुला-मिला दिया। अब मशीनों और अन्यान्य वैज्ञानिक ढंगों का उपयोग उत्पादन के कार्य में होने लगा। पूँजी को बड़ी रकमें जरूरी समझी जाने लगीं। उनको व्यापार और व्यवसाय में लगाना हानि को आशंका से परे न था। इस तरह उत्पादन की देख-रेख करना बहुत ही पेंचीदा हो गया। मनुष्यों को अपनी योग्यता का पूरा परिचय देना पड़ा। इस तरह उत्पादकों में पारस्परिक संघर्ष चलने लगा। एक उत्पादक दूसरे को परास्त करने का स्वप्न देखने लगा। फल अच्छा ही हुआ। आज बहुत से महान् उद्योग तथा व्यवसायों के प्रणेता उत्पन्न हो गये हैं जिनके सहयोग से सम्पत्ति का विकास हुआ है। ऐसे लोग बहुत नहीं हैं जो यथार्थ में व्यवसाय के प्रबन्ध करने की कला में निष्णात हों। इन विरल लोगों को प्रणेता, प्रबंधक, साहसी, अथवा उद्योग के नेता या सेनप कहते हैं।

उद्योग का प्रणेता सेनानी की तरह उद्योगरूपी सेना का शासन और संगठन करता है। उसका उद्देश्य उत्पादन-कर्म की निपुणता बढ़ा देना है। उससे वर्त्तमान-उद्योग तथा समाज का कल्याण होता है। उसके दो प्रधान काम हैं, (१) संगठन और (२) सम्पत्तियों और खतराओं का सामना करना। संगठनकर्त्ता के रूप में वह उद्योग की नीति को निश्चित करता है। वह चीजों का चयन करके उन्हें तैयार करने का प्रबन्ध करता है। वह उत्पादन के परिमाण को पहले से ही तय कर लेता है। वह साधनों को भी ठीक

करता है। चीजों की कीमत और बाजार की स्थिति पर वह दृष्टि-निक्षेप करता है। माँग की देखभाल करके वह उसीके अनुसार पूर्त्ति करने का प्रयास करता है।

संगठन-कर्त्ता के रूप में यह अन्य उत्पादन के साधनों का संतुलन करता है। भूमि, पूँजी और श्रम—ये तीन साधन हैं, जिनका उपयोग उसे करना पड़ता है। उसका बौद्धिक-स्तर इतना उन्नत होता है कि उसके पास तीनों साधन अपने उचित पारिश्रमिक को प्राप्त करने के लिये आते हैं। इसलिये उसे तीनों के परिमाणों का अध्ययन करना पड़ता है और वह उनके परिमाणों को इस ढंग से ग्रहण करता है कि उसका लाभ सबसे अधिक हो। वह तीनों साधनों की मात्राओं पर ही विचार नहीं करता, बलिक उनकी श्रेणियों का भी ख्याल करता है। इस काम में उसे प्रतिस्थापन के नियम की सहायता लेनी पड़ती है। यदि श्रमिकों को नियुक्त करने की अपेक्षा पूँजी का प्रयोग करना अधिक लाभदायी होगा तो वह पूँजी को ही अपनायेगा।

उत्पादन का सम्पूर्ण दायित्व उसके ऊपर रहता है। व्यवसाय की जोखिमों को वह स्वयं स्वीकार करता है। यदि व्यवसाय सफल हुआ तो उसे लाभ प्राप्त होगा और उसके असफल होने से उसको हानि होती है। ऐसी हालत में उसे ऋण लेकर श्रमिकों, पूँजी तथा भूमि का पारिश्रमिक देना पड़ेगा। वास्तव में वह उत्पादन के अलावा सम्पत्ति-विभाजन का केन्द्र है। अपनी संगठन-प्रवीणता से वह सम्पत्ति के उत्पादन से संबन्धित बड़े नुकसान को दूर कर देता है। सतर्कता का सहारा लेकर वह समाज का और अपना कल्याण करता है। समाज को सम्पत्ति की उत्पत्ति में नुकसान होने के बदले लाभ पहुँचता है और दूसरी ओर, स्वयं उसे मुनाफा भी मिलता है।

ऐसा प्रणेता समस्त कार्यों का केन्द्रबिन्दु होता है। वह आरम्भ करने के समय योजनाएं बनाता है, दूसरे लोगों की पूँजी आकर्षित

करने का प्रयास करता है। अपनी योग्यता का परिचय देने के लिये अधिक डिविडेन्ड देने की उत्कट चेष्टा करता है। शेयरवालों पर अपने गुणों—अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा, सच्चाई, आदि की धाक जमाना चाहता है। उन्हें पूरा रुपया देने का, पूँजी के नष्ट न होने का आश्वासन देता है। चीज़ों के बारे में विज्ञप्तियाँ निकालना, प्रचारकों को इधर-उधर भेजना, कर्मचारियों को बहाल करना, कच्चे मालों का उचित प्रयोग करना, रद्दी मालों का भी सदुपयोग करना, आदि उसे स्वयं करना या कराना पड़ता है। समय के परिवर्तन के साथ अपने कारखाने में रद्दोबदल करना और विकास के लिये नये अनुसंधान को व्यवहृत करना उसका ही काम है। उसे भावी माँग के दृष्टिकोण से चीज़ों का उत्पादन करना पड़ता है। इसलिये हानि की आशंका रहती है। चूँकि वस्तु के उत्पादन में कई उपक्रियाएँ रहती हैं, इसलिये समय विशेष लगता है और उस समय में भाव के घटने की आशंका रहती है इसलिये उसे गंभीर-मनन और भविष्य-दर्शन की जरूरत पड़ती है। यदि उसके अनुमान में नगण्य भूल भी हुई तो उसका व्यवसाय चौपट हो जायगा। उसे अन्य उत्पादकों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है जिसके लिये वह सचेत रहता है। इन्हीं आपत्तियों को अंगीकार करने के कारण उसकी प्रसिद्धि इतनी अधिक है।

उसके उत्साहमय, स्फूर्ति-सम्पन्न कर्त्तव्य पर ही समाज की भलाई अवलम्बित रहती है। यदि किसी देश में उसके समान उद्योगी लोग रहें तो जरूर ही वह एक बड़ा उद्योगी देश होगा। उसकी जादू-भरी शक्ति के प्रतिफल ही उद्योग बड़े पैमाने पर सम्पन्न होता है। यदि प्रणेताओं का सहसा लोप हो जाय तो वृहत् उद्योग-धंधे भी विनष्ट हो जायँ, पूँजीपतियों, भूमि, तथा श्रमिकों की सेना इतस्ततः हो जाय और क्या करना चाहिये उसे लोग निश्चित नहीं कर सकें। अमेरिका की अद्‌भुत उन्नति का श्रेय बहुत-कुछ उद्योगी लोगों को ही है। इसीको देखकर अर्थशास्त्रज्ञों ने उसे

व्यवसाय-क्षेत्र का अधिपति कहा है। प्रणेता वही पुरुष है जो दूरदर्शिता, विशद ज्ञान, साहस और उद्योग, मानव-प्रकृति का ज्ञान, आदि गुणों की पृष्ठभूमि पर विशाल उद्योगों की भव्य अट्टालिका उठाता है।

वृहत् उत्पादन और पूँजी एवं श्रम के विशद प्रयोग के निमित्त ऐसे इने-गिने प्रणेताओं की बहुत जरूरत है। उनका आविर्भाव दैवी कृपा का फल है। उनमें से अधिक ईश्वरीय गुणों को लेकर आविर्भूत होते हैं। वे केवल थोड़ी शिक्षा और उद्योग के द्वारा विकासकर समाज का हित करते हैं। प्रणेताओं का निर्माण कुछ बातों का सहयोग होने से सम्भव है। यदि देश में सच्चे अर्थ में आर्थिक स्वराज्य हो तो लोग अपनी योग्यताओं का आश्रय लेकर मनचाहे उद्योग-धंधे आरम्भ करके प्रणेता की कोटि में आ सकते हैं। सभी लोगों को समान अवसर मिलना चाहिये जिससे वे अपना विकास कर सकें। यदि सबको बराबर सुविधाएँ प्राप्त हों तो प्रजातंत्र के अस्तित्व से ईश्वर-दत्त व्यावसायिक गुणों का विकास हो सकेगा। वर्गगत सुविधा-असुविधा की भावना को मिटा देना होगा। शिक्षा का पूरा प्रसार होना चाहिये। विधान और विज्ञान के आधार पर जो शिक्षा दी जाती है इससे लोगों को व्यवसायी बनने में सहायता मिलती है। मशीनों के प्रयोग से सतर्कता, चतुराई, आदि गुणों का विकास हुआ है। अतः मजदूरों को भी यह अधिकार मिलना चाहिये कि वे भी व्यवसाय के शासन के गुप्त रहस्यों को जानें और उनसे लाभ उठा सकें। हो सकता है कि उनमें से अधिक कुशल और निपुण कर्मचारी अच्छे प्रणेता बन जायँ। किसी व्यवसायी का पुत्र अधिक सुगमता से कुशल उद्योग-प्रणेता बन सकता है। उसको दूसरे लोगों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त रहती हैं। व्यवसायी के पुत्र अधिकतर अच्छे व्यावसायिक बन जाते हैं। लेकिन कुछ आगे चलकर आलसी बन जाते हैं। अधिक लाभ उठाकर वे ऐयाश बन जाते हैं। इसलिये उनको दूसरे कर्मचारियों की सहायता जरूरी जान पड़ने लगती है। इसलिये वे इनको कुछ

हिस्सा देकर मालिकों की श्रेणी में दाखिल कर लेते हैं। इस तरह निम्न पद से कुछ लोग उच्च पद पर पहुँच जाते हैं। वे अच्छे व्यवसायी बनने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी छोटे उद्योगों के मालिक भी अधिक क्षमता प्राप्त कर लेने के कारण बड़े-बड़े कारखानों से लोहा लेने लगते हैं। सफल होने पर उनकी गणना उद्योग के कप्तानों में होने लगती है।

उद्योग में प्रणेता का जो महत्त्व है, उसकी जो आवश्यता है वह घटनेवाली नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि उद्योगों और व्यवसायों पर प्रजातंत्र की कोई छाप नहीं और वे प्रजातंत्र के प्रतिगामी हो रहे हैं। उनके सर्वेसर्वा मालिक होते हैं, मजदूरों का कोई बोलवाला नहीं। दूसरे लोग भविष्य को अनिश्चित मान कर कहते हैं कि हो सकता है कि श्रम और पूँजी के संघर्ष से, शिक्षा तथा सहयोग के विस्तार से उद्योग के क्षेत्रों में केवल प्रणेताओं का ही अधिकार न रहेगा बल्कि मजदूर भी शासन-समिति के प्रमुख सदस्य रहेंगे। इस तरह प्रणेताओं का महत्त्व कम हो जायगा। इस तरह की प्रवृत्ति कुछ-न-कुछ नजर भी आने लगी है।

उद्योग के प्रणेताओं में जिन गुणों का रहना आवश्यक माना गया है वे सभी एक ही प्रणेता में नहीं रहते। दूसरी बात यह है कि कुछ अर्थशास्त्रवेत्ता उन्हें समाज को बुराई करनेवाला भी मानते हैं। महाशय भेवलेन, जो समाजवाद के अनुयायी नहीं हैं, प्रणेताओं को समाज का अकल्याण करनेवाला, उत्पादन का गला दबानेवाला मानते हैं। समाजवाद के हिमायती इन्हें लुटेरा और शोषक मानते हैं जो समाज और श्रमिकों का शोषण करते हैं और अनुचित लाभ उठाकर अपनी जेब भरते हैं। कट्टर समाजवादी तो यह भी नहीं मानते कि उद्योग के प्रवर्तक लोग समाज की आवश्यकताओं को पूरा कर पारिश्रमिक के रूप में लाभ उठाते हैं। यूपटन और सिनक्लेयर ने उद्योग-प्रणेताओं के कार्यों का कृष्णमय चित्र खींचा है। लेकिन विश्वविख्यात लेखक एच० जी० वेल्स ने फोर्ड, एडीसन और रोकेफेलर को उच

निर्माता माना है। उन्होंने उनकी सामाजिक सेवाओं का उल्लेख किया है। पर साथ ही उनने अयोग्य, पर अपने को प्रणेता समझने का दम्भ करनेवाले, लोगों को भला-बुरा भी कहा है। फोर्ड ने अपनी पुस्तक में भोक्ताओं की सेवा करना, श्रमिकों को पूरा वेतन देकर सुखी बनाना प्रणेताओं का विशिष्ट कर्त्तव्य माना है।

इस प्रकार की प्रथा से कुछ विशेष लाभ होते हैं। प्रणेता बहुत ही मन लगाकर परिश्रम करता है। वह देर तक और अधिक मनोयोग के साथ काम करके विशेष लाभ उठाना चाहता है, क्योंकि जो कुछ लाभ होगा उसका पूरा उपभोग वह आप करेगा। इसलिये वह नये साधनों का प्रयोग करके व्यवसायगत सुविधाओं को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह अपने काम की उन्नति या अवनति के लिये स्वयं जिम्मेदार होता है। अतएव वह अपनी निपुणता को विवर्द्धित करके अपनी प्रगति के लिये अनवरत चेष्टा करता है। उसे किसी व्यक्ति से सम्मति नहीं लेनी रहती, इसलिये वह अपने विवेक-बुद्धि के मुताबिक अपना काम करता है। उसके कार्य उत्साह और उमंग पर भरे रहते हैं। वह कटिबद्ध और सन्नद्ध होकर अपनी स्वतंत्रता और विचार की मदद से उद्योग की उत्तरोत्तर उन्नति करता जाता है। शासन में बहुत दिक्कतें और परेशानियाँ नहीं रहतीं। बहुत किफायती ढंग पर शासन-सूत्र चलता है। सभी प्रकार की नुकसानियाँ दूर कर दी जाती हैं। उसे दूसरे व्यक्ति की मनाही उत्साहहीन नहीं कर सकती, उसका जोश बना रहता है। जो गुप्त बातें रहती हैं वे केवल उसे ही केवल मालूम रहती हैं। उन्हें दूसरा नहीं जान सकता। इसलिये उद्योग के एकाएक भंग हो जाने की आशंका नहीं रहती है। उसे बहुत हिसाब-किताब नहीं रखना पड़ता। वह अपने सौदागरों से मिल सकता है। उनकी व्यक्तिगत लालसाओं के पूरा करने का प्रयास कर सकता है। इस प्रकार उनके द्वारा अधिक बिक्री कर अपना उद्योग बढ़ा सकता है। बिना आवश्यक कष्टों के ही अल्प मूल्य पर वह सभीको प्रसन्न रखने की कोशिश कर सकता है। वह समय की गति के साथ अपने

काम को ले चल सकता है। रुचियों और फैशनों में परिवर्तन होने पर वह उनके अनुसार अपना उत्पादन भी बदल सकता है। स्थानीय और बदलनेवाली माँग को ऐसा उत्पादक आसानी से सम्पन्न कर पाता है। इसके कार्य में लोच और रवानी भरी रहती है। इस प्रकार का व्यवसाय सबसे सीधा होता है। यह सुविधापूर्वक आरंभ और स्थगित किया जा सकता है। इसको चलाने में अधिक पूँजी की जरूरत नहीं होती। थोड़ी पूँजी का भी सहारा लेकर यह दीप्तिमान हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने परिमित क्षेत्र में यह व्यावसायिक प्रथा निपुण होती है और किफायती भी उच्च दर्जे की।

फिर भी इसे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसे प्रणेता के पास सीमित पूँजी रहती है। अधिक पूँजी स्वयं संचित करना दुरूह है। वह अपने पैमाने को बहुत नहीं बढ़ा सकता। जो पूँजी रहती है उसे खोने का भी डर रहता है क्योंकि क्षति का पूरा असर केवल उसपर ही पड़ेगा, उसे सहनेवाला दूसरा कोई नहीं होता। इसके अलावा वह सभी कामों को करने में अपने को विवश पावेगा। किसी भी मानव की योग्यता की एक हद है। इसलिये उसे कतिपय सुविधाओं तथा लाभ उठाने के अवसरों को छोड़ना पड़ता है। वृद्धावस्था में इसकी और भी अधिक तीव्र अनुभूति होती है। यह पुरानी प्रथा है। केवल इसी पर आश्रित रहने से तो कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। अन्य प्रथाओं का सम्मिश्रण अनिवार्य है।

उद्योग-प्रवर्तक के कार्यों का विभाजन

(Differentiation of Entrepreneurial Functions)

पहले कहा गया है कि उद्योग-प्रणेता या निर्माता किसी भी उद्योग को आपूर्ण रूप से सम्पन्न करते हैं। वे सभी कार्यों की देख-भाल करते हैं। पर आजकल यह बात नहीं है। आज हम देखते हैं कि उसके बहुत-से कार्य कई आदमियों के हाथ में बँटे रहते हैं। पहले एक ही

उद्योग-निर्माता के हाथ में उद्योग का संचालन और स्वत्व रहता था। 'Risk went with control'.

पूँजीवाद का मूलगत नियम कि 'Where the risk lies, therein the control lies also" आज उतना चरितार्थ नहीं होता। हम देखते हैं कि चतुर आदमी जो उद्योग को चलाना जानता है, वह रुपया इकट्ठा करने में अधिक कठिनाई नहीं उठायगा। उसे हम "Company Promoter" की उपाधि देते हैं। वह अपनी पूँजी नहीं लगाता। बात यह है कि वह शासन करना भी जानता है। वह श्रम एवं पूँजी का सुन्दर समन्वय कर सकता है। उनका प्रयोग उत्तम दिशा में कर सकता है। किसी विचार को कार्यान्वित करने की क्षमता उसमें है। "push and go" के गुणों में वह बढ़ा-चढ़ा रहता है। वह नई इच्छाओं को खोजकर उनकी पूर्त्ति करने के साधनों का भी संधान करता है। वह फर्मों का सम्मिलन भी करता है। पुराने फर्मों में नूतन ओज का संचार करना उसके बाँयें हाथ का खेल है। उसे सभी बातों का गुप्त रहस्य ज्ञात रहता है। इस तरह वह अपने व्यवसाय की उन्नति करके अपने शेयर-मालिकों को पूरा डिविडेन्ड देता है। पर वह सदा स्थिर नहीं रहता। "Once his baby is out of its swaddling clothes, he is off to seek new worlds to conquer" वह उद्योगों की देख-रेख मैनेजरों, सेक्रेटरियों और डाइरेक्टरों के हाथ में छोड़ सकता है।

सम्मिलित-पूँजी की कम्पनियों के शेयराधिपति Risk से बिलग नहीं पर Control डाइरेक्टरों के हाथों में दे डालते हैं। यद्यपि डाइरेक्टरों का भी शेयर रहता है तथापि Risk तथा Control का पृथक्करण भी हो जाता है।

बीमा-कम्पनियाँ भी प्रणेता की बहुत-सी आपत्तियों को अपनी देख-रेख में ले लेती है। आग लगने पर, माल के जल-मग्न होने पर, प्रभृति घटनाओं के उपस्थित होने पर वे ही देनदार होती हैं। सट्टेबाजी या फटका के विकास से भी उद्योग-निर्माता दाम कम होने के पहले ही

मालों को दूसरे के हाथों बेच सकते हैं। कम्पनियों और कारखानों के मजदूर आपत्तियों में शामिल होते हैं पर शासन में नहीं। (आगे दिया गया है)।

पर सभी अवस्थाओं में पूँजीवाद का मूलगत सिद्धान्त "control goes with risk" अक्षत होकर निकलता है। जो आपदाओं को अपनाता है, वह शासन को भी अपनायेगा। व्यर्थ में कोई बला न मोल लेता है। भले ही उद्योग-निर्माताओं के बाह्य (extraneous) कार्यों का विभाजन हो, उनके आवश्यक कार्यों का, जिनसे उनका अविच्छेद्य संबंध है, पृथक्करण कदापि नहीं हो सकता।

षष्ठ अध्याय

व्यावसायिक संगठन के कुछ रूप

(Some Forms of Business Organisation)

साझेदारी या हिस्सेदारीवाली प्रथा

(The System of Partnership)

यह प्रथा साधारण ढंग के व्यवसायों में काफी रूप में देखी जाती है। ऊपर बतलाया गया है कि एक ही आदमी अकेले व्यवसाय करके कई क्षतियों से आशंकित रहता है। इस प्रथा के अनुसार तीन या चार आदमी जो एक दूसरे से पूर्णतया परिचित रहते हैं, मिलकर काम खोलते हैं और खतराओं में समान हिस्सा लेते हैं। वे व्यवसाय का शासन भी मिल-जुलकर ही करते हैं। वे यथाशक्ति पूँजी देते हैं और व्यवसाय का पैमाना बढ़ाते और उद्योग की प्रगति करते हैं। इसमें इतनी स्वतंत्रता रहती है कि कोई हिस्सेदार रुपया-पैसा न देकर केवल अपनी योग्यता से व्यवसाय में काम कर सकता है। सभी हिस्सेदार सामूहिक रूप से व्यवसाय के प्रबंध के लिये जिम्मेदार होते हैं। इसमें प्रत्येक की जिम्मेदारी अनिश्चित रहती है। व्यवसाय के कर्ज के लिये किसी को देनदार कायम किया जा सकता है। उसे रुपया दे देना पड़ेगा। अन्य साथियों के अपना ऋण-भाग देने से इन्कार करने पर पीछे वह कचहरी में नालिश करके उनसे रुपया वसूल कर सकता है। सभी हिस्सेदार एकमत होकर विधान तैयार करते हैं और जरूरत पड़ने पर सभी की सम्मति से उसमें परिवर्तन भी कर सकते हैं। इस प्रकार का व्यवसाय बहुत बड़ा भी हो सकता है, परन्तु वह आजकल मध्यम या मझोल विस्तार का पाया जाता है। आटा, चावल, तेल की मिलें, बने-बनाये वस्त्रों के कारखाने, बर्फ तथा बरतनों के कारखाने, बैंक, आदि इसी ढंग की संस्थाएँ हैं। बहुत बार देखा गया है कि कोई

प्रणेता एकाकी इस ढंग पर ही काम आरंभ करता है। उसके उच्च कर्मचारियों में यदि कोई अलग होकर काम खोलने की चेष्टा करता है तो वह उसे भी हिस्सा देने का प्रलोभन देकर हिस्सेवाली प्रथा का निर्माण करता है। प्रो० मार्शल ने ऐसा ही लिखा है।

इस प्रकार के व्यवसाय के बहुत-से गुण हैं। यह दृढ़ और परिवर्त्य होता है। एक ही आदमी सभी बातों का पारंगत-जानकर नहीं हो सकता है। पर दो-चार आदमी बहुत कुछ जानते होते हैं और एक साथ मिलकर उनसे लाभान्वित हो सकते हैं। यह जरूरी नहीं है कि जो दक्ष उत्पादक हो वह सौदागरों से मिलने-जुलने के कार्य में भी चतुर हो। यदि इस प्रकार की प्रथा हो तो ऐसा सम्मिलन संभव है। फिर एक आदमी बहुत बड़ी पूँजी नहीं लगा सकता। उसे क्षति होने पर अकेले ही सहन करना पड़ेगा। पर जब दो-चार आदमी काम खोलेंगे तो वे बड़ी रकम एकत्र कर सकते हैं और आशंकाओं में बराबर भाग बँटा सकते हैं। इसके अलावा उनकी शक्ति भी बढ़ जाती है। जिससे वे निर्भय होकर कोई साहसपूर्ण कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। पुराने फर्म में नये हिस्सेदार बनाकर शासन में नूतन-रक्त को उष्णता ला सकते हैं। इससे पैमाने की बढ़ती और सुविधाओं की प्राप्ति दोनों हो सकती है। सत्ता और शासन के सम्मिश्रण से कार्य की गति में अपूर्व वेग आ जाता है। सभी लोग मिलकर किसी बात का निश्चय बड़ी आसानी से कर सकते हैं और उनके निर्णय अधिक ठोस भी होंगे। चूँकि इसमें 'असीमित जिम्मेदारी' का भाव विद्यमान रहता है, इसलिये हिस्सेदार लोग सशंकित और अनुपयुक्त काम शुरू नहीं कर सकते हैं और न असत्य अनुमानों के फेर में पड़ सकते हैं। वे समय के साथ कदम मिलाकर बढ़ने की क्षमता भी रखते हैं। हाँ, एक बात है। यदि सभी हिस्सेदार एकता से काम करें तो निस्सन्देह यह प्रथा प्रगतिशील, प्रौढ़ और सुष्ठु होगा।

पर कहा गया है कि सभी हिस्सेदारों द्वारा किया हुआ निर्णय

जरूर ही ठोस होगा, पर इसके साथ यह भय है कि उसके पहुँचने में काफी तर्क-वितर्क हो और काम जल्द नहीं किया जा सके। यदि ईमानदार लोग ही रहें तब तो ऐसा नहीं हो सकता। बहुधा आपस में मत-भिन्नता होने से बड़ी गड़बड़ी मचती है। साथी-प्रेम की भावना दुर्बल होती है और आपसी विग्रह से काम बिगड़ता है। 'असीमित जिम्मेदारी' से नीति भीरु और निरुत्साह होती है। हिस्सेदार हानि के डर से कोई साहस का काम नहीं करना चाहते। तीसरी बात यह है कि यह प्रबन्ध-प्रथा दीर्घकालीन नहीं होती। किसी भी हिस्सेदार की मृत्यु, विक्षिप्तता अथवा दिवालिया होने पर यह काम भंग कर दिया जाता है। इसलिये व्यवसाय का क्रम जाता रहता है। फिर यह देखा जाता है कि प्रत्येक हिस्सेदार विशेष व्यक्तिगत लाभ उठाने की चेष्टा करता है। सब कम श्रम कर अधिक लाभ उठाना चाहते हैं। फलतः पारस्परिक कलह से वातावरण अशान्त बना रहता है। यद्यपि ये लोग मिलकर काफी पूँजी जमा कर सकते हैं पर वह इतनी नहीं होती कि कोई बड़ा व्यवसाय किया जा सके। इसलिये आधुनिक विशाल उद्योग-धंधे इस प्रथा का अनुसरण नहीं करते।

सम्मिलित पूँजी की कम्पनी

(The Joint-Stock Company)

आधुनिक व्यावसायिक प्रबन्धों की एक प्रधान विशेषता यह है कि किसी उद्योग या व्यवसाय के अधिकारी, कई साधनों से अपनी सामर्थ्य से अधिक पूँजी जमा कर सकते हैं। यह सम्मिलित-पूँजीवाली कम्पनी के प्रवर्त्तन से ही संभव होता है। सिद्धान्तानुसार तो इस कम्पनी के शासन तथा स्वत्व में विभाजन नहीं माना जाता। इंगलैंड में जब इसका जन्म हुआ था तो यह बहुत कुछ इसी ढंग की थी। पुराने जमाने के व्यापारियों ने मिलकर पूँजी जमा की थी जिससे वे दुस्साहसपूर्ण काम कर सकें। आरंभ में ऐसी कम्पनियाँ बनी थीं जिनको लोग अपनी बचतें देते थे, क्योंकि वे इन बचतों से

क्या करें, वे नहीं जानते थे। उन बचतों को अपनी पूँजी में मिला-कर कम्पनियों के अधिकारी काम करते थे।

सम्मिलित-पूँजी के व्यवसाय (Joint-Stock Company) में एक निश्चित पूँजी सरकार के द्वारा स्वीकृत रहती है। इन व्यवसायों या कम्पनियों का एक रजिष्ट्रार होता है। वही यह मंजूर करता है कि अमुक कम्पनी की पूँजी इतनी रहेगी। उसीके द्वारा स्वीकृत की गई पूँजी को निर्धारित पूँजी (Authorised Capital) कहते हैं। उससे ज्यादा पूँजी कोई कम्पनी अपने व्यवसाय में नहीं लगा सकती। लेकिन जितनी पूँजी मंजूर होती है उतने के शेयर (हिस्से) साधारणतया बिक नहीं जाते। बहुधा उससे कम पूँजी के शेयर ही लोग खरीदते हैं। इस तरह खरीदी पूँजी को बिकी पूँजी (Subscribed Capital) कहते हैं। फिर लोग जितने मूल्य के शेयर खरीदते हैं उतना मूल्य हाथोंहाथ जमा नहीं कर देते। वे कुछ बाकी लगा देते हैं और पीछे से उसे चुकती करते हैं। जितनी पूँजी वे शेयर खरीदते समय कम्पनी को दे देते हैं उसे प्रदत्त पूँजी (Paid-up Capital) कहते हैं। बहुत-सी कम्पनियाँ अपना शेयर अधिक खरीदने के लिये लोगों को आकर्षित करने के विचार से बिकी पूँजी और प्रदत्त पूँजी की वास्तविक रकमों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर समाचार पत्रों में, अपने कागजों में प्रकाशित करवाती हैं और अपने कर्त्ताओं (एजेन्टों) के द्वारा भी उनका प्रचार करवाती हैं। वे प्रति शेयर मिलने वाले डिविडेन्ड (बाँट या लाभ) की रकम को भी बढ़ा-चढ़ाकर घोषित करती हैं। बहुत-सी कम्पनियों में ऐसे उत्साही व्यक्तियों को, जिन्होंने उनके निर्माण में अपूर्व योगदान किया, पारिश्रमिक देने के विचार से बिकी हुई पूँजी और प्रदत्त पूँजी में से प्रत्येक को उतनी रकम से बढ़ाकर हिसाब-बही में रखते और आम जनता में भी प्रचारित करते हैं जितनी रकम पारि-श्रमिक में दिया जाता है। वास्तव में ये लोग कुछ देते तो नहीं लेकिन बही में उसकी गणना हो जाती है। इसी रकम या पूँजी को "Water

in capital" कहते हैं क्योंकि इस तरह की पूँजी का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। फिर भी व्यवहार और प्रयोग में इस तरह के तरीके से काम चल जाता है। जिस तरह ग्वाला दूध में कुछ पानी मिलाकर उसकी तौल बढ़ा देता है और कुछ वेशी पैसा कमा लेता है उसी तरह कोई-कोई सम्मिलित-पूँजी की कम्पनी बिकी पूँजी और प्रदत्त पूँजी की वास्तविक रकमों को बढ़ाकर बढ़ी रकम से अपने जन्म-दाता या जन्मदाताओं को पारिश्रमिक देने का एक रास्ता निकाल लेती है ।

सामूहिक पूँजी की कम्पनी का निर्माण कुछ शेयर-मालिकों द्वारा होती है। ये लोग अपनी-अपनी पूँजी मिलाकर एक व्यवसाय में लगाते हैं। वे कार्य की सफलता का भार अपनाते हैं। एक आवेदन-पत्र तैयार किया जाता है। उसमें कम्पनी की स्थापना के उद्देश्य, शेयरों का मूल्य और नियम, सम्पूर्ण पूँजी का ब्यौरा,आदि दिया जाता है। उसे सरकार की अनुमति के लिये पेश किया जाता है। जब कम्पनी की स्थापना सरकारी बही में दर्ज कर ली जाती है तब कम्पनी अपना काम शुरू कर सकती है। इस प्रकार की कम्पनी के दो रूप होते हैं। (१) वैयक्तिक सीमित कम्पनियाँ तथा (२) सार्वजनिक सीमित कम्पनियाँ । शेयर अंगरेजी शब्द है। लेकिन वह बोल-चाल में खूब व्यवहृत हो रहा है। उसका हिन्दी पर्याय "हिस्सा" होता है।

(१) निजी (Private) कम्पनियाँ—जब हिस्सेदारी का व्यवसाय इतना विस्तृत हो जाय कि नुकसानों को सहन करना कठिन हो जाय तो सदस्यगण इसे वैयक्तिक सीमित कम्पनी के रूप में परिणत करा सकते हैं। इससे व्यवसाय का शासन-सूत्र उनके हाथ में रहता है। वे लाभ के अलावा वेतन भी ले सकते हैं। उन्हें इस बात का सुभीता रहता है कि वे अपने संबंधियों को अच्छा काम दिला सकें। वेतन देने के बाद मुनाफे में जो बचता है उसे नये सदस्यों में बाँट दिया जाता है। ये नये सदस्य केवल पूँजी के दाता-मात्र रहते हैं। न तो शासन का भार उनके हाथों में रहता है और न वे यथेष्ट डिविडेन्ड ही पा सकते

हैं। इस प्रकार की कम्पनियाँ उक्त-वर्णित साझेदारी की-प्रथा के समान लाभ उठाती हैं पर उसके अवगुणों से भी बची रहती हैं। इन्हें कई बातों की स्वतंत्रता प्राप्त रहती है। पर ये सार्वजनिक पूँजी का लाभ नहीं उठा सकतीं।

(२) सार्वजनिक (Public) कम्पनियाँ : ऊपर कहा जा चुका है कि किस प्रकार कुछ लोग पहले पूँजी लगाते हैं। सरकार से स्वीकृति प्राप्त कर वे बाद में कम्पनी की स्थापना सुगमतापूर्वक कर सकते हैं। इसके उपरान्त कम्पनी सार्वजनिक चीज हो जाती है। जितने काम होते हैं वे सभी कम्पनी के नाम में। हिस्सेदारीवाला व्यवसाय किसी भी हिस्सेदार की मृत्यु, आदि पर विनष्ट हो सकता है, पर यह नहीं। यह चिरंतन है। शेयर-मालिकों की मृत्यु पर उनकी संतानें कम्पनी का अधिकार प्राप्त कर सकती हैं। बात यह है कि यह पूँजी की कम्पनी है। मनुष्य विशेष से इसका संबंध नहीं है। जबतक पूँजी है और शासन-भार चलाने वाले कर्मचारी हैं तबतक यह जीवित रह सकती है। हिस्सेदारीवाले व्यवसाय में हिस्सेदारों की जिम्मेदारी अनिश्चित रहती है, पर इसमें यह बात नहीं है। शेयर-मालिक शेयर की कीमत तक की रकम का देनदार है जिसे उसने देना मंजूर किया है। यदि कम्पनी विनष्ट हो जाय तो उसे अपनी शेयर के बराबर रकम खो देनी होगी। यह कम्पनी आम जनता से पूँजी ले सकती है। शेयरों को बेचकर पूँजी प्राप्त की जाती है। शेयर-क्रेता कम्पनी की सम्पत्ति का मालिक अपनी पूँजी के अनुपात में ही बन जाता है। उसे यह हक है कि वह अपने शेयर को जब चाहे और जिसके हाथ चाहे बेच दे। कम्पनी के कर्ज को चुकाने के लिये उसे बाध्य नहीं किया जा सकता। कम्पनी का शासक-भार शेयर के अधिकारियों द्वारा निर्वाचित डाइरेक्टरों (निर्देशकों) के हाथ में सौंप दिया जाता है। शेयर के अधिकारियों को शेयर की संख्यानुसार वोट देने का अधिकार रहता है। वे चुनाव के अतिरिक्त अन्य विषयों में भी

अपना मत दे सकते हैं। इस प्रकार के शेयर के दो रूप होते हैं:—साधारण और रियायती या विशिष्ट। साधारण (Ordinary) शेयर के अधिकारियों को कितना डिविडेन्ड (लाभ में हिस्सा) मिलेगा, निश्चित नहीं रहता; पर रियायती या विशिष्ट (Preferential) शेयर के अधिकारियों को तय किया हुआ डिविडेन्ड देना होता है। इनको साधारण शेयर के अधिकारियों को डिविडेन्ड देने के पहले ही तय मुनाफा बाँट देना पड़ता है। यदि कम्पनी को लाभ नहीं होता तो इन्हें भी तय डिविडेन्ड नहीं दिया जाता। एक पूर्वागत या पूर्वसंचित या विलम्बित (Cumulative or Deferred) शेयर होता है, जिसके मालिक को पिछला डिविडेन्ड देने पर ही साधारण शेयर के अधिकारियों में डिविडेन्ड बाँटा जा सकता है।

ऐसे विशिष्ट शेयर के अधिकारियों को कर्ज काढ़कर भी डिविडेंड देना पड़ता है। इन शेयरों के अतिरिक्त कम्पनी बोन्ड या डिबेनचर नामक कागजों को बेचकर रुपया जमा कर सकती है। जो इनको खरीदते हैं उनकी स्थिति दूसरी तरह की होती है। वे कम्पनी के ऋणदाता होते हैं, उनका स्वत्व नहीं होता। वे ठीक समय पर सूद लेने के मालिक होते हैं। वे चाहें तो अपनी पूँजी भी वापस कर सकते हैं, पर इसकी अवधि भी कभी-कभी ठीक रहती है। यदि कम्पनी उनका ऋण वापस करने से असमर्थ हो जाय तो वे उसकी चीजों को बेचकर या नालिश कर उसे वापस कर सकते हैं। उन्हें कम्पनी के शासन में बोलने का कोई अधिकार नहीं होता।

अँगरेजी रेलवे कम्पनियाँ इस प्रकार की कम्पनी के रूपक हैं। उनमें कम्पनी के शासन एवं उसमें लगाई पूँजी, दोनों में काफी पृथकता रहती है। शासन का काम डाइरेक्टरों के बोर्ड के हाथ में सपुर्द कर दिया जाता है। इन्हें नियमित ढंग से वेतन दिया जाता है। ये लोग अपना समय और ध्यान लगाकर कम्पनी के कामों को देखते-भालते हैं। इंगलैंड में चेयरमैन और अमेरिका में प्रेसिडेन्ट (सभापति) उपाधिवाला कोई आदमी और दो अन्य व्यक्ति जिन्हें प्रबंधकर्त्ता निर्देशक

(Managing Directors) कहते हैं। व्यवसाय का काम दिन-रात देखने के लिये नियुक्त किये जाते हैं। कम्पनी का सविस्तार काम तो वेतन पानेवाले मैनेजर के हाथ में रहता है और यह मैनेजर डाइरेक्टरों के इंगितों पर काम करता है। मैनेजर के नीचे अन्य बहुतेरे कर्मचारी रहते हैं। शेयर-मालिकों को सभाओं में सम्मिलित होने का पूरा अधिकार रहता है। वे प्रस्तावों पर अपना मत प्रकाशित कर सकते हैं। वे अपने शेयरों की रकम के अनुपातानुसार वोट भी देते हैं। डाइरेक्टरों के प्रस्तावों पर वे तर्क-वितर्क कर सकते हैं। यदि वे देखते हैं कि उनके हित में बाधा होने की संभावना है तो वे उचित यत्न भी कर सकते हैं। शेयर के अधिकारियों में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो स्वभावतः छले जाने की शिकायत बैठकों में किया करते हैं (cut up rusty) कुछ ऐसे भी अनुभवी होते हैं जो विशेष दिलचस्पी से काम की देखभाल करते हैं। वे कुछ प्रतिबन्ध भी उपस्थित कर देते हैं। फिर भी हम कह सकते हैं कि कम्पनी का अधिक शासन डाइरेक्टरों के हाथ में रहता है और उनके नीचे वेतन पानेवाले कर्मचारी होते हैं जो कम्पनी का काम चलाते हैं। डाइरेक्टरों के हाथ में ही शासन-सूत्र को केन्द्रीभूत करने का कुछ विशेष कारण है। अब भी कुछ लोगों का विश्वास है कि व्यावसायिक रहस्यों का भेद खुलना कम्पनी के हित में बाधक होता है। इन रहस्यों को डाइरेक्टर लोग ही जानते हैं। सभी शेयराधिकारी उन्हें नहीं जानते। हो सकता है कि कोई अन्य प्रतिद्वन्द्वी कम्पनी का आदमी एक साधारण शेयर खरीद कर शासन के गुप्त रहस्य जान कर कम्पनी को विनाश की ओर ले जाय। दूसरी बात यह है कि इस कम्पनी ने एक उत्तम टेकनिक को जन्म दिया है। पूँजी लगाने वाला अपने आशंकित खतराओं को बाँटकर, पृथक-पृथक कर रखना चाहता है। वह "Not to have all his eggs in one basket" सिद्धान्त का पोषक होता है। ऐसा देखा जाता है कि किसी कम्पनी के शेयर के अधिकारों में अधिक दूसरी-दूसरी कम्पनियों के शेयराधिकारी भी होते हैं। इसलिये उनसे परे काम तथा ध्यान की

अपेक्षा करना भ्रम-मात्र है। तीसरी बात यह है कि डाइरेक्टरों को ही शासक बना देने से उन्हें, योग्यताओं को प्राप्त करने की चेष्टा करनी पड़ती है, उन्हें कम्पनी के लाभालाभ का ध्यान रखना पड़ता है। वे इसके लिये जिम्मेदार भी ठहराये जाते हैं।

इस प्रकार की कम्पनियों से बहुत ही लाभ होते हैं। वे निम्नलिखित हैं:—(१) इस कम्पनी के द्वारा काफी पूँजी एकत्र की जा सकती है। बहुत-से लोग अपनी बचतों को कम्पनी के शेयर खरीदने में लगाकर लाभ भी उठा सकते हैं। शेयर खरीदनेवालों की जिम्मेदारी शेयर के मूल्य तक ही परिमित रहती है। इसके अलावा शेयरों के कई भेद होते हैं। वे मनोनुकूल भेद को स्वीकार कर सकते हैं। यदि वे अधिक साहसी नहीं तो केवल कर्ज के रूप में रुपया देकर सूद ले सकते हैं। (२) इस कम्पनी ने लोगों में बचत करने की प्रवृत्ति को बढ़ा दिया है। अब छोटी-छोटी बचतों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जाता बल्कि उन्हें कम्पनी में लगा कर लाभ भी उठाया जाता है। (३) यह कम्पनी व्यवसाय को उच्च पैमाने पर चला सकती है और उससे प्राप्त होनेवाली सुविधाओं को उठा सकती है। इससे उत्पादन का खर्च कम पड़ सकता है। भोक्तागण इससे लाभान्वित होंगे। (४) शेयरों के हस्तान्तरित करने की बड़ी सुविधा रहती है। स्टॉक के विनिमय के लिये अलग बाजार होता है। शेयर के अधिकारी जरूरत पड़ने पर शेयरों को बेचकर अपना रुपया वापस कर सकते हैं। जो मूर्ख और भीरु लोग हैं वे घबराकर शेयर चतुर और अनुभवी लोगों के हाथ से बेच देते हैं। इसलिये कम्पनी का अधिकार अच्छे शेयर के अधिकारियों के हाथ में रहता है। (५) किसी देश की उन्नति में ऐसी कम्पनियाँ बहुत ही सहायक होती हैं। प्रारम्भिक पूँजी को एकत्र करना बहुत ही सहज हो जाता है। इसलिये बड़े-बड़े व्यवसाय चल सकते हैं। (६) सीमित जिम्मेदारी की बात रहने से साहसपूर्ण कार्य भी किये जाते हैं। यदि असफलता होती है तो सभी लोग सम्मिलित रहते हैं। लोग अनुसंधानों और परीक्षणों में तत्पर हो सकते हैं। आज-

कल बड़ी-बड़ी खोजें ऐसी ही कम्पनियाँ द्वारा होती हैं। (७) यह कम्पनी अटल रहती है। इसका अन्त किसी शेयर-मालिक की मृत्यु, आदि से नहीं होता। शासन में लोच और रवानी रहती है। समय पर शेयरों के नये-नये अधिपति भी आ सकते हैं। इससे शासन-कार्य में नयापन आता है। कम्पनी सुयोग्य कर्मचारियों को नियुक्त कर सकती है। सफलता की पूरी उम्मीद रहती है। (८) व्यक्तिगत दृष्टि से भी कई लाभ हैं। कोई भी आदमी बहुत-सी कम्पनियों में रुपया लगा सकता है। इस प्रकार वह अपनी आशंकाओं को प्रसारित कर कम भी कर सकता है। इतना ही नहीं, जब उसकी इच्छा होगी वह रुपया निकाल भी सकता है। (९) यह जरूरी नहीं कि सभी शेयर-क्रेता व्यावसायिक बुद्धि से सम्पन्न हों। उन्हें निरीक्षण करने की भी अधिक आवश्यकता नहीं है। वे बेईमान डाइरेक्टरों को अग्रिम चुनाव में हटा भी सकते हैं। डाइरेक्टर लोग इस भय से अधिक ईमानदारी और निष्ठा से काम लेते हैं। इस तरह कम्पनी में प्रजातंत्र का भी कुछ भाव रहता है। (१०) पूँजी लगाने तथा शासन करने में विभाजन होने से कुछ शक्ति और निपुणता भी बढ़ गई है। पहले पूँजीपति के पास संचालन की बुद्धि नहीं रहती थी या कम रहती थी परन्तु आज दोनों का संयोग हो गया है। उसी तरह सुयोग्य संचालक भी आज पूँजी एकत्र कर सकते हैं। (११) इस कम्पनी में सीमित दायित्व रहता है। शेयर के अधिकारी उतनी ही रकम का देनदार है जितनी रकम का उसने शेयर खरीदा है। कम्पनी के कर्जदार उससे एक पैसा भी अधिक वसूल नहीं कर सकते। "He is not to throw good money after bad money".

सामूहिक पूँजी-कम्पनी से उपर्युक्त लाभ होते हैं, पर उससे कुछ हानियाँ भी होती हैं, जिनका विवरण नीचे दिया जाता है। (१) शेयरों के हस्तान्तरित करने के लाभ से अधिक हानियाँ ही उत्पन्न होती हैं। शासन का स्वत्व बेईमानों के हाथ में चला जा सकता है। जो कम्पनी के डाइरेक्टर और कर्मचारी हैं वे कम्पनी की आन्तरिक स्थिति से

परिचित होते हैं। जब वे हानि की आशंका देखते हैं तब अपने शेयरों और अपने संबंधियों के शेयरों को दूसरों के गले वेचकर मढ़ देते हैं। बेचारे खरीदनेवाले हानि उठाते हैं। इसी तरह जब वे देखते हैं कि लाभ होगा तो वे परोक्ष रूप से कम्पनी के अधिक शेयरों को मोल ले सकते हैं। इस तरह के सट्टेबाजी से वे विशेष लाभ उठाते हैं। (२) बहुत-से शेयर-मालिक शासन में दिलचस्पी नहीं लेते हैं। डाइरेक्टरों को निर्वाचित कर देने में ही वे अपना काम खत्म समझते हैं ऐसे डाइरेक्टर उन्हें धोखा देते हैं और कम्पनी की पूँजी को बुरी तरह से खर्च करते हैं। (३) यद्यपि लोगों की इल्मों का इस प्रथा द्वारा सम्मिलन होता है तथापि वे लोग आपस में मिल-जुल नहीं सकते। सभी शेयराधिपति एक दूसरे को नहीं जानते। इस तरह सह-भावना क्षीण हो जाती है। सभी अपने स्वार्थ-साधन में रत रहते हैं। सार्वजनिक हित की ओर वे ध्यान नहीं देते। (४) शासन में ढिलाई भी आ जाती है। विभिन्न विभागों का लयात्मक सम्मिलन नहीं होता। भले ही प्रत्येक विभाग के लिये प्रबंधकर्त्ता नियुक्त किये जायँ पर सभी विभाग एक रूप नहीं हो सकते। इस प्रकार संतुलनाभाव के कारण बड़ा ही नुकसान होता है। (५) डाइरेक्टर लोग आलसी भी हो जाते हैं। वे दुस्साहसपूर्ण कार्य करना नहीं चाहते। फिर भी उन्हें अपनी योग्यता सिद्ध करने के नाते कुछ करना ही पड़ता है। (६) कम्पनी के अनुशासन में भी शिथिलता आ जाती है। मैनेजर लोग कर्मचारियों की ईमानदारी पर या उनकी चरित्रगत विशेषता पर अवलम्बित नहीं कर सकते। (७) शेयर के अधिकारी कम्पनी के मजदूरों को नहीं जानते हैं। इसलिये वे उनकी भलाई का ख्याल नहीं रखते। फलतः डाइरेक्टर लोग श्रमिकों की शिकायतों को दूर करने की चेष्टा नहीं करते। इसके फलस्वरूप पूँजी तथा श्रम का संघर्ष तीव्र होता जाता है। (८) ऐसी कम्पनी के पास नैतिकता का कोई माप-दंड नहीं होता। इस-लिये सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से काम-धंधे चलाये ही नहीं जाते।

(९) कभी-कभी कम्पनियाँ मिथ्या प्रचार करके जनता को धोखा भी देती हैं। वे बढ़ा-चढ़ाकर अपनी स्थिति और लाभ का प्रकाशन करती हैं। (१०) डाइरेक्टर अधिकतर वकील या डाक्टर होते हैं जिन्हें व्यवसाय का पूरा ज्ञान नहीं होता और उन्हें टेकनिकल शिक्षण भी नहीं मिला रहता। इसलिये वे कम्पनी का सुन्दर संचालन नहीं कर पाते। कहा भी है "The choice of directors is a leap in the twilight"। (११) व्यवसाय में मानवता का स्पन्दन नहीं होता। सभी लाभ के पीछे लगे रहते हैं। यह बड़ी ही अपूर्व क्षति है क्योंकि व्यवसाय तो द्रव्य का खेल हो जाता है। (१२) Water in capital अथवा पूँजी को झूठ-मुठ बढ़ा-चढ़ाकर, लोगों को बिना पैसे का शेयर देकर कम्पनी प्रचार कर सकती है। यह ठीक नहीं है।

फिर भी हम यह कह सकते हैं कि विचार-तुला में लाभ का पलड़ा क्षति के पलड़े से भारी सिद्ध होता है। आधुनिक विशाल व्यवसायों के आविर्भाव का श्रेय इन्हीं कम्पनियों को है। बहुत-से व्यावसायिक क्षेत्रों में इनका ही प्रचलन है। अच्छी ऑडिटोङ्ग का इन्तजाम करके कुछ त्रुटियों को हटाया जा सकता है। सरकार भी नियम बनाकर सट्टेबाजी को रोक सकती है।

महाशय बोलडिंग ने संयुक्त पूँजी-कम्पनी को एक वैधानिक संस्था बतलाते हुए उसे छोटा Leviathan तक कह डाला है। उनके विचार से कॉरपोरेशन (यह संयुक्त-पूँजी-कम्पनी का दूसरा नाम है) स्थानीय आर्थिक शासन का एक शस्त्र है। मध्ययुग में राजाओं और उनके बैरनों के बीच जो संबंध था वही संबंध आधुनिक युग में किसी राज्य और उनके द्वारा स्वीकृत कॉरपोरेशनों के बीच है। वर्त्तमान जीवन के बैरन ये ही कॉरपोरेशन हैं। हमें याद है कि मध्ययुग में बैरन राजाओं को अपने इशारों पर घुमाने लगे थे। संभव है कि ये कॉरपोरेशन भी सरकार को अपनी मर्जी के अनुसार नचाने लगें। विधान मिथ्या है, शक्ति वैयक्तिक चीज है। इन कॉरपोरेशनों का एक पीरामीड समाज

में खड़ा होने लगा है। अमेरिका में ५०० कॉरपोरेशन वहाँ की ५० प्रतिशत पूँजी (Potential capital) पर कब्जा जमाये हुए हैं।

ऐसी कम्पनियों का बहुत ही प्रचार हुआ है। इनके स्वत्व और स्वत्वगत आशंकाओं का विभाजन-प्रसारण तो हुआ ही है साथ ही ये अधिक प्रजातंत्र भावनाओं से ओत-प्रोत हो चली हैं। वास्तव में समाज में महान् पूँजीपतियों की संख्या परिमित है। किसी भी व्यवसाय में काफी सम्पत्ति लगानेवाले और भी कम हैं। इस कम्पनी के द्वारा थोड़ी-सी रकमवाला भी किसी कम्पनी के अधिकारी होने का गर्व कर सकता है जो मार्ग उसके सामने है वह तीन गुणों के कारण व्यापक हो जाता है: (१) सीमित जिम्मेदारी (२) शेयरों का वर्गीकरण (३) उनके हस्तान्तरित करने की सुविधा। जो आदमी किसी व्यवसाय में रुपया लगाता है उसे चार प्रकार की आशंकाएँ रहती हैं। वे ये हैं: (१) उस पूँजी के सर्वथा खो-जाने की, (२) उससे मिलनेवाली आमदनी के परिवर्तन होते रहने की, (३) जरूरत पड़ने पर पूँजी के न बाहर निकलने की तथा (४) उसके नष्ट होने पर दूसरी रकम को लगाने या व्यय करने की। शुरू में ही कहा गया है कि किस प्रकार शेयर-क्रेता मनानुसार शेयर या बोन्ड, आदि खरीदकर अपनी आमदनी का आय—निर्णय कर सकता है। आज बाजार में शेयरों की खरीद-बिक्री भी खूब होती है। यद्यपि यह बाजार बहुत व्यापक तो नहीं है पर काम चलाने लायक है। शेयरों की बिक्री का रुख देखकर शेयर को खरीदा-बेचा जा सकता है। बैंक भी शेयर आदि मोल लेते हैं और इसलिये उन्हें रुपया-पैसा सदा रखना पड़ता है। पूँजी के नष्ट होने पर दूसरी पूँजी को लगाने या व्यय करने की जो बात है, वह तो एकदम लागू नहीं होती। पहले पेशावाले शेयर-क्रेता ही शेयरों को मोल लेते हैं। पीछे उनके द्वारा जनता कम्पनी में पूँजी लगाती है। इस प्रकार कम्पनी को रुपया मिलने लगता है।

———

सप्तम अध्याय

सम्मिश्रण या समन्वय

(Integration or Combination)

सम्मिश्रण की प्रवृत्ति के मूल कारण

(Prime Causes of Integration)

बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों के विकास को रोकने में दो चीजों का बड़ा हाथ रहता है—(१) बाजार के विस्तार का कम होना (२) बाजार की अवस्था का अपूर्ण रहना। यातायात के खर्च बाजार के क्षेत्र को कम कर देते हैं और इससे बड़े फर्मों को दिक्कत होती है। यदि बाजार को बड़ा बनाने की कोशिश की गई तो इसके लिये कीमतों को घटाकर प्रेरणा देनी होगी और इसमें काफी विक्रय-खर्च बैठेगा। यह खर्च इतना ज्यादा हो सकता है कि अधिक बाजार जो मिलेगा उसके लिये जो कुछ ज्यादा उत्पादन करना पड़ता है उसके प्रतिफल जो उत्पादन-व्यय में कुछ कमी होती है वह कमी उस विक्रय-खर्च से न्यून हो। इससे अन्ततोगत्वा उत्पादक को नुकसान ही होगा।

बाजार-संबंधी इस असुविधा को फर्म आपस में मिलकर एक संगठन बनाकर कुछ हद तक कम कर सकते हैं। व्यवहार में भी ऐसा ही होता देखा जाता है। इस प्रकार के संगठन के बाद कोई फर्म न केवल टेकनिकल यंत्र-प्रणाली (इक्वीपमेन्ट) से लाभ उठाता है, बड़े पैमाने से पैदा हुए लाभों को अर्जन करता है बल्कि उसे बाजारगत लगावों और भोक्ताओं की सद्भावना से भी फायदा पहुँचता है। फर्म अपने क्रेताओं को संगठन के बाद भी अपने जिम्मे रख सकते हैं, संगठन को सुपुर्द नहीं कर सकते हैं या वे उस संगठन को अपने क्रेताओं को हस्तान्तरित कर सकते हैं।

संगठनों या समन्वयों की उत्पत्ति उन सभी कारणों (फैक्टर) से भी हो सकती है जिनसे फर्मों की उत्पत्ति होती है। कुछ हालतों में तो संगठन विस्तार की मितव्ययिताओं के साथ संगठित बाजार के चलते अत्यधिक उत्पादन तैयार करने के लाभ को उठाने के लिये भी संगठनों का निर्माण होता है।

आवागमन और यातायात के साधनों में जो आशातीत उन्नति जो गत कुछ दशाब्दियों में हुई है उसने खासकर कच्चे मालों की प्राप्ति में पूरी सुविधा प्रदानकर काफी प्रशस्त बाजारों के निर्माण को संभव बना दिया है। पूर्त्ति के सीमित क्षेत्रों में गहरा कार्य (intensive working) मुमकिन हो गया है और ऐसा बड़े फर्म ही कर सकते हैं जो खुद यातायात के साधनों की व्यवस्था कर सकते हैं। वे अपने बाजार के इर्द-गिर्द में बिखरे हुए छोटे-छोटे फर्मों को भी अपने में समन्वित कर सकते हैं, लेकिन ऐसा बहुत धीरे-धीरे ही संभव है। इन छोटे फर्मों को प्रसित (Squeeze) करना जरूरी है। क्योंकि ऐसा नहीं करने पर ये छोटे फर्म स्थानीय बाजारों में बड़े फर्म की महत्ता को कम बना सकते हैं और वे पूर्त्ति के बाजार के कुछ ऐसे छोटे भागों को भी अधिकृत कर सकते हैं जो बड़े फर्म के लिये परम अनिवार्य हैं।

डा० रॉबर्टसन ने भी उन प्रवृत्तियों की ओर इशारा किया है जिनसे पता चलता है कि शिल्प-कार्य (Manufacture) कृषि-कार्य (Agriculture) के साथ और यातायात एवं शिल्प के बीच समन्वय या सम्मिश्रण कायम होने लगा है। इससे उनके निर्माताओं को विशेष लाभ होता है। शिल्पी-उद्योग अपने कच्चे मालों के स्रोतों या उद्गमों पर नियंत्रण रखने लगे हैं। शिल्पी-उद्योग यातायात के अपने साधन रखते हैं जिनसे याता-यात खर्च में यथेष्ट बचत होती है। फिर भी रॉबर्टसन के शब्दों में शिल्पकार और कच्चेमाल के उत्पादक में अभी भी काफी फर्क है। कच्चे मालों और पक्के मालों को संचित करके रखने (Storing) और उनको बेचने (Selling) का काम भी कभी-कभी समन्वित हो जाता है।

इन्होंने संगठन होने के चार उद्देश्यों (Motives) के उल्लेख किये हैं—(१) वृहत् पैमाने के संगठन से उद्भूत होनेवाले फायदों को उठाने के लिये (२) बाजारों के संयुक्त या सम्मिलित नियंत्रण के लिये (३) संयुक्त पूँजी की कम्पनी के माध्यम (Mechanism) के द्वारा काम करके (४) सरकार के द्वारा उद्योग-धंधों के आधिपत्य और स्वामित्व (Collectivism) के चलते भी।

उनका उपसंहार है कि आत्यंतिक संगठन से औद्योगिक शक्ति तो बढ़ती ही है, साथ ही साथ उसका केन्द्रीयकरण भी होता है। संगठनों का नियंत्रण दाम तथा पूर्ति पर हो जाता है। वे चाहें दाम को घटा-बढ़ा सकते हैं या पूर्ति को। पर किसी एक को कम-वेश करने का अचूक असर दूसरे पर पड़कर ही रहेगा। अगर वे अपने क्रेताओं को कष्ट देने, सताने की मंशा नहीं रखें तो वे एक सुन्दर और स्वस्थ, तीक्ष्ण और प्रभावोत्पादक (Level-headed) नीति को कार्यान्वित कर मशीन, आदि का समुचित विकास कर सकते हैं और समाज का ज्यादा हित कर सकते हैं जो कि छोटे छिन्न-भिन्न फर्मों के लिये संभव नहीं है। "In any case, an industry in which comb nation has been carried to great lengths is "governed" in a sense in which an ordinary industry is not".

संयुक्त-पूँजी के व्यवसाय से (जो सीमित उत्तरदायित्व पर आधारित है) इस तरह के संगठन-आन्दोलन को उत्तेजना मिली है, प्रोत्साहन मिला है। कोई बड़ा फर्म छोटे फर्मों की ५० प्रतिशत समर्थ पूँजी (Voting Capital) को खरीदकर उनका नियंत्रणकर्त्ता, शासक बन जा सकता है और कभी-कभी तो ५० प्रतिशत से भी कम पूँजी लगाने की जरूरत पड़ सकती है। ऐसा उस समय होगा जबकि छोटे फर्मों की पूँजी का आधिपत्य बहुत-से लोगों में फैला है जिन्होंने साधारणतया कम-कम पूँजी उनके स्टॉकों या शेयरों में लगाई है। बेंचम महाशय के शब्दों में "The cost of combination to the

absorbing undertaking would, therefore, be much lessened, and it would in return obtain most of the advantages of outright ownership of the absorbed firm"। यदि छोटा फर्म बड़े फर्म के साथ स्वयं मिलना चाहता है तब वह उस बड़े फर्म की प्रतिभूतियों (सेक्यूरीटिज) के बदले ही अपनी प्रणीधि (Assets) दे सकता है। "The ease with which firms may be combined with a limited or negligible expenditure of cash has undoubtedly provided a considerable stimulus to the amalgamation movement".

एक दूसरा कारण जो संगठन को motivate—उत्तेजित—करता है वह है बाजार के ऊपर एकाधिकारगत नियंत्रण स्थापित करने की संभवनीयता। जो कोई भी फर्म विकसित होता जाता है वह अपने को अधिकतर सबल हालत में रखता जाता है जिससे वह बाजार व्यापी कीमत को प्रभावित करके अपनी चीजों को पूरे लाभ पर बेच सकता है। लेकिन ऐसे विकासवान फर्म को भी प्रभावशाली फर्मों की स्पर्द्धा से धक्का पहुँच सकता है।

अतएव जो फर्म अपने प्रतियोगिताओं को अपने में समाविष्टकर विकास करता है उसे दूसरे फर्मों द्वारा धक्का पाने की कम आशंका हो सकती है। वह एकाधिकारवत् मुनाफा भी (पूर्त्ति रोककर और दाम बढ़ाकर) हस्तगत कर सकता है। जो फर्म बच जायेंगे, संगठन में शरीक नहीं हो सकेंगे वे अगर अधिक प्रभाववाले हैं तब दाम को फिर से प्रभावित कर सकेंगे और वे दाम को कम भी कर सकते हैं। इतना ही क्यों ? समर्थ एकाधिकारगत स्थिति कईएक फर्मों के संगठित कार्य (Collusive Action) पर निभर करती है। ऐसा उस समय भी संभव है जब कोई बहुत विशाल फर्म बाजार में आवे और वह अन्य कतिपय फर्मों के साथ पूर्त्ति करे। वह उन फर्मों का नेता बन सकता है। वही दाम ठीक करेगा जिसपर दूसरे फर्म

चुपचाप या पूर्व मीमांसानुसार अपना माल बेचेंगे। वह दाम-नियंत्रण के पक्ष में प्रचार भी कर सकता है और अपने आहत पद को छोटे प्रतियोगी उत्पादकों को अपने में मिलाने का एक साधन बना सकता है जिससे एक नीति कायम हो सके अथवा एकाधिकार-गत रीतियाँ चल सकें।

यह भी कहा जाता है कि व्यापार-नियंत्रण या अवरोध (Tariff) की नीति बरतने से भी फर्मों का संगठन बढ़ता है। अगर बाह्य प्रतियोगिता से आन्तरिक या गृह-बाजार को संरक्षित करने की चेष्टा की जायगी तो इससे उत्पादक मिल-जुलकर तज्जन्य संभवनीयताओं से बेमुनासिब लाभ उठाने की कोशिश करेंगे। वे ऐसा नहीं कर पाते अगर बाहरी उत्पादकों को भी गृह-बाजार में अपनी वस्तुओं को बेचने की सुविधा दी जाती। लेकिन यह कारण उतना मार्के का नहीं है क्योंकि व्यापार पर कोई अवरोध नहीं रहने पर और बाहरी प्रतियोगिता से मुकाबला होने पर भी तो संगठनों की बढ़ती हो सकती है। "Trust is the child of Tariff."

फिर, यह भी कहा जाता है कि सरकार की ओर से व्यवसाय के ऊपर जोर या दबाव डालकर भी संगठनों की सृष्टि होती है। उदाहरण में ग्रेटब्रिटेन में बनी चार प्रधान रेलवे कम्पनियों की ओर संकेत किया जाता है। सरकार खुद ऐसे संगठनों को पनपाती है क्योंकि ऐसा करने से लाभ (economies) होता है। ऐसे लाभ केन्द्रीय-करण की उपज हैं और केन्द्रीयकरण प्रभाव-प्रदर्शन (Compulsion) के चलते होता है। १६३० के Coal Mines Act ने Coal Mines Reoraganization Commission की स्थापना की जिससे कोयले की खानों के व्यवसायों का केन्द्रीयकरण कर सके। उसी तरह गैस के उद्योग के लिये एक हेयवर्थ कमिटी १६४५ में कायम हुई थी जिसने यह सिफारिश की थी कि गैस के व्यवसायों को स्थानीय आधार (Regional basis) पर बलपूर्वक संगठित किया जाय। लेकिन सरकार बल का प्रयोग उसी समय कर सकती है जब उसे विश्वास हो

जाय की असंख्य छोटे फर्मों की पारस्परिक प्रतियोगिता फिजूल और बर्बादी पैदा करनेवाली है तथा वृहत् पैमाने पर जो काम होगा उससे बहुत ही लाभ हासिल हो सकेंगे, जिस उद्योग से ताल्लुक है वह मौलिक (Key) उद्योग है, तथा जब संगठनों के द्वारा उत्पादन होगा तब उपभोक्ताओं का एकाधिकारगत शोषण नहीं हो सकता।

यों तो अकसरहा संगठनों के पनपाने में व्यक्तिगत कारण का बड़ा हाथ है। बेचम के शब्दों में "The comparative ease with which units may be brought together and the desire of some financier or industrialist to extend the limits of his power explains many fusions which cannot be satisfactorily explained on purely economic grounds"। आर्थिक लाभ से अधिक आकर्षक वह यश और राजनैतिक लाभ है जो किसी बड़े संगठन के शिरोमणि बन जाने पर किसी-किसी व्यवसायी को मिलता है।

जिन उद्योगों में ज्यादा पूँजी लगी रहती है उनमें संगठन का आधिक्य होता है। ऐसे उद्योग पूँजीगत या पूँजी-नियोगगत (Capital or Investment) सामान तैयार करनेवाले होते हैं। इन सामानों की माँग घटती-बढ़ती रहती है। उनमें सम्पूरक या ऊपरी व्यय (Supplementary or overhead costs) ज्यादा बैठते हैं। जब माँग कम होने लगती है तब कीमतें बहुत गिर जाती हैं और वे प्रमुख व्यय (Prime cost) के ही बराबर हो जाती हैं। ऐसी हालत में विवश होकर उद्योगों को संगठन स्थापित करना पड़ता है। इस तरह के संगठन को "Revulsion against risk" कहा गया है। इससे नुकसान की आशंका कुछ कम हो जाती है। छोटे फर्म भी एकत्रित होकर उत्पादन तथा कीमत के बारे में एक मत प्राप्त कर सकते हैं। ह्रासोन्मुख माँग भी संगठित कार्य से भी सुधारी जा सकती है। इससे बाजार की बदली दशाओं के साथ उद्योग का वेगपूर्ण और निपुण संतुलन हो पाता है। जैसा

कि बेचम ने लिखा है "In so far as large comibinations are capable of supporting prices during a depression they may impart a valuable stabilizing influence to the economy as a whole" ।

किसी चीज की अति ठीक नहीं । गहरी दाम-प्रतियोगिता भी ठीक नहीं । उसके चलते बहुत फर्म विनष्ट हो जा सकते हैं । जिन फर्मों के पास कम पूँजी रहती है वे प्रतियोगिता का सामना ठीक तरह से नहीं कर सकते और वे उन फर्मों द्वारा आहत हो जाते हैं जिनके पास विपुल पूँजी रहती। 'The potentially efficient firms may not have survived. An old "convserva-tivly financed but technically efficient firm may have survived the form by living on its reserves. A more progressive firm already committed to exten-sive and development work may have been "caught short" and eliminated by the competitive struggle".

बहुत-से फर्म किसी नए टेकनिक से लाभ उठाने के लिये संगठित हो जाते हैं और उस टेकनिक पर एकाधिपत्य स्थापित कर लेते हैं जिससे कि दूसरे प्रतिद्वन्द्वी उसपर अपना सिक्का न जमालें। एकबार उस टेकनिक पर उनका अधिकार हो जाने पर वे उत्पादन-खर्च को उसकी मदद से कम कर लेते और अपने प्रतियोगियों को हरा डालते हैं। संगठन के जरिये आर्थिक प्रसाधनों को एक साथ मिलाकर (pool) नए विकास-कार्य को चलाने में अपूर्व सहायता मिलती है। बैंक और अन्य मौद्रिक संस्थाएँ भी उन्हीं फर्मों को उधार देना चाहती हैं जिन्हें दाम के संबंध में तीव्र संघर्ष का भय नहीं ।

अतएव कुछ संगठन तो आर्थिक कारणों के बदले मौद्रिक (finan-cial) वजहों द्वारा प्रेरित होकर स्थापित होते हैं। English Steel Corporation, Lancashire Steel Corporation और Lan-cashire Cotton Corporation बैंक के मालिकों के दबाव के

कारण पैदा हुए। उन्होंने ऐसा इसलिये किया कि इससे उत्पादन-व्यय कम हो जाता है।

"Too many cooks spoil the broth" अथवा "अधिक मंत्री मठ उजारन" की जो हम कहावत सुनते हैं वह इसी वैज्ञानिक प्रणाली "Integration" (समन्वय) से संबंधित है। ऐसा देखा जाता है कि यदि किसी काम में आवश्यकता से अधिक लोग तल्लीन हो जायँ तो वह जरूर ही खराब हो जायगा। हम अकसर यह सुनते हैं कि यदि कोई अपना काम ठीक तरह पूरा होना चाहता है तो उसे स्वयं वह काम देखना या करना चाहिये। समन्वय के नियमानुसार एक ही स्वत्व के नीचे पृथक और विशिष्ट कार्यों को लाया जाता है। आज बाजार में जो चीज देखी जाती है उसका जन्म तितली की तरह ही अनेकों दशाओं से गुजरने पर होता है। यदि एक ही शासक के हाथ में किसी पदार्थ को आद्यन्त तैयार करने का भार सुपुर्द कर दिया जाय तो यहाँ सम्मिश्रण का सिद्धान्त चरितार्थ होगा। मशीनों, शारीरिक श्रमिकों तथा मानसिक श्रमिकों की नीची कोटियों में श्रम-विभाजन की व्यवस्था जरूर होगी। जो लोग उद्योगों की विभिन्न क्रियाओं के बड़े अधिकारी हैं उन्हीं के हाथों में अबतक के विभक्त कार्यों को एकत्रित करने की ओर झुकाव बढ़ रहा है। जूता बनाने के काम में समन्वय का कोई स्थान ही नहीं है। ऊन के कपड़ों को तैयार करने में जिन-जिन उपक्रियाओं की—ऊन कातने, बुनने, प्रभृति—आवश्यकता पड़ती है उनमें समन्वय की जगह है। रूई के व्यापार में बुनाई तथा कताई के कर्म विशेषतया विभक्त हैं। लोहे और इस्पात के व्यापारों में जो शक्तियाँ काम करती हैं उनका झुकाव समन्वय की ओर होता है। एक तो मध्यस्थ सभी दशाओं की चीजों का एक दूसरे के बाजार से तारतम्य रहता है। लोहे के घर और तम्बू बनानेवाले तथा मशीन की दूकानों को लोहे तथा कोयले की जरूरत पड़ती है, लोहे तथा कोयले की खानों को रेल और मशीनों की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे, एक क्रिया से दूसरी क्रिया में संबंध होने से धातु के गलाये अंश

बिना शीतल हुए काम में लाये जा सकते हैं और भेजने मँगाने का खर्च भी कम हो सकता है। तीसरी बात यह है कि इस प्रकार के कारखानों की चीजों की माँग कम-बेश होती रहती है। आपस में समन्वय होने से लाभ-हानि को पूरा किया जा सकता है। इस तरह के समन्वय (Vertical Integration) के अलावे दूसरे प्रकार का भी समन्वय होता है जिसके अनुसार (By-products) से प्रधान उत्पत्तियों की तैयारी में सहायता मिलती है (shell) मिट्टी-तेल की कम्पनियाँ कुँआ खोदकर ही तेल निकालती हैं। कुँए से बहुत (Shale) शेल यों ही निकलती है। इस Shale को सिमेन्ट में परिणत किया जा सकता है। जो मिट्टी निकलती है उससे जो ईंटें बन सकती हैं वे इसके काम में आ सकती हैं और बेची भी जा सकती हैं, इस प्रकार के सहायक उद्योग को शुरू कर देने से छोटे उत्पादक को बड़ा उत्पादक बड़ी आसानी से परास्त कर सकता है। टोप बनाने वाली कम्पनियों ने पैकिंग के लिये टोकरियाँ भी बनाना आरंभ कर दिया है। इधर एक ही शासन-छाया के भीतर विभिन्न उद्योगों का काम लाया जाता है। इससे विधान और बाजार-संबंधी लाभ होते हैं। रसायनिक शास्त्र की शाला टारकोयला से इत्र, रंग आदि चीजों को उत्पन्न कर सकती है। एक ही कम्पनी साईकिलें, मशीनें और जहाजी इंजिनें तैयार कर सकती है। फाड़ (plough share) और तलवार बनाने के ढंग भी अनुरूप हैं।

आज आवागमन के साधनों में भी समन्वय हो रहा है। रेलवे कम्पनी यात्रियों को नदी पार कराने के लिए अपनी कम्पनी की स्टीमर रखती है। वह उनके भोजन के लिये अपनी ओर से होटलें खोल देती है। शिल्पकारों ने बहुत-से उपनिवेशों को शुरू में ही जीत लिया और वे उन्हीं में कच्चे माल उत्पन्न करते थे। अपने देश में कच्चे मालों को लाकर उद्योग-धंधे चलाते थे। इस प्रकार कृषि तथा शिल्प का समन्वय हो गया था और मौजूद भी है। तैयार माल को रखने और बेचने का काम कितनी कम्पनियाँ

खुद करती हैं। इस तरह दोनों कार्यों में कुछ सम्मिश्रण भी हो गया है।

"समन्वय या सम्मिश्रण की बनावट"

(Structure of Combinations)

समन्वय के भेद दो प्रकार के होते हैं यथा शीर्ष (Vertical) और क्षैतिज (Horizontal)। हमने समन्वय या सम्मिश्रण (Integration) के अनुच्छेद में इनका उल्लेख कर दिया है। यहाँ दो-चार शब्द कह देते हैं। Vetical Combination में उत्पादन के सभी स्टेज कच्चे माल की प्राप्ति से लेकर तैयार माल तक आ जाते हैं। श्रम-विभाजन की सुविधा से प्रत्येक क्रिया का सम्पादन निश्चित कारखानों के द्वारा किया जाता है। The United States Corporation के पास अपनी लौह-खानें, कोयले की खानें हैं और वह स्वयं इस्पात की तैयारी करने तक की सभी मध्यस्थ उपक्रियाओं को प्रणीव करता है। भारतवर्ष का The Taca Iron and Steel Company इसीका ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रकार के गठन या सम्मिश्रण का उद्देश्य शासन के खर्च को कम करना, उपक्रियाओं के करनेवाले फर्मों के लाभ को कम करना, बाजार करने तथा विज्ञापन प्रकाशित करने का व्यय न्यून करना, अत्युत्पादन की आशंका का निराकरण करना तथा कच्चे मालों की अनवरत पूर्ति पाना है। Horizontal Combination के अनुसार एक ही तरह के अनेकों कारखानों को सम्मिश्रित करके एक शासन-सूत्र की छत्र-छाया में लाया जाता है। इस प्रकार के समन्वय का उद्देश्य शासन में किफायतशारी लाना, भंयकर प्रतियोगिता को दूर करना, उच्च पैमाने पर उत्पादन करना है। इसके द्वारा छोटे-छोटे उत्पादकों को उत्पादन-क्षेत्र से वहिष्कृत कर दिया जाता है या अधिक लोहे की कम्पनियों और दो या अधिक कोयले की खानों को एक शासन में लाना ही Horizontal Combination कहलाता है। इस प्रकारका सम्मिश्रण अन्तर्राष्ट्रीय तक हो सकता

है। The American Sugar Refining Company और The Standard Oil Company इसके प्रधान उदाहरण हैं।

बॉलडिंग क्षैतिज समन्वय को शीर्ष समन्वय से कम उपयोगी बतलाते हैं। वे कहते हैं कि समन्वयों की अपेक्षा उनके सदस्य फर्म ही अधिक सफल जान पड़ते हैं। समन्वय अर्थ के नेताओं के लिये युद्ध-भूमि हैं।

अतः प्राकृतिक वस्तुओं की संरक्षण (Protection) की नीति जो समन्वयों की जननी ही कही जाती है, कारखानों को नगण्यता प्रामाणिकता का संबल, देश की परम्परागत Combinations के उद्भव के कारण है।

ऊपर जिस तरह के समन्वय का वर्णन किया गया है उसे शीर्ष समन्वय (Vertical Integration) कहते हैं। दूसरे प्रकार के समन्वय को क्षैतिज समन्वय (Lateral or Horizontal Integration) कहते हैं। (देखिये "एकाधिकार" शीर्षक अंश) पहले समन्वय के अनुसार किसी एक चीज के तैयार करने के लिये जितने मध्यस्थ अवस्थाओं (Stages) हैं उन सभी का समन्वय होता है। उदाहरण के लिये लोहा और इस्पात के विशाल कारखानों में खानों से लोहा और कोयला निकालने से लेकर लोहा और इस्पात के निर्यात करने तक के सभी कार्यों को मिला दिया जाता है। दूसरे समन्वय के अनुसार किसी एक ही उद्योग के कई फर्मों की एक गुट-बन्दी होती है और यह गुटबन्दी अधिकतर कार्टेल, ट्रस्ट या मर्जर, होल्डिङ्ग कम्पनी या इन्टरलॉकिंग ऑफ डाइरेक्टरेट का रूप धारण करती है। (इन संस्थाओं का भी वर्णन "व्यवसाय के रूप" शीर्षक अध्याय में हुआ है।) अगर नमक या साबुन बनानेवाले कुछ फर्म, पोटास या नील के कुछ उत्पादक, चीनी, तेल, शराब या इस्पात बनाने के कुछ कारखाने गुटबन्दी बनावें तो उसे क्षैतिज समन्वय कहेंगे।

क्षैतिज समन्वय के लाभ ये हैं : (१) बहुत से मदों में दुबारा

खर्च नहीं होने पाता। इससे उत्पादन-व्यय कम हो जाता है। (२) अलग-अलग फर्म के लिये अलग-अलग लेखन और अनुसन्धान-विभाग होने के बदले एक लेखन-विभाग से काम चल जाता है। (३) अपेक्षाकृत कम कर्मचारियों से ही काम चल जाता है। (४) विक्रय-खर्चों की आवृत्ति नहीं होने पाती। (५) प्रतियोगितार्थ विज्ञापन की जरूरत नहीं मालूम पड़ती। थोड़े विज्ञापकों और एजेन्टों से ही काम चला लिया जाता है। (६) प्रतियोगी यातायात (cross-hauling) की आवश्यकता नहीं रहती। स्थानीय माँग को स्थानीय फर्म ही पूरा कर लेते हैं। (७) मन्दी के समय अधिक निपुण फर्मों में ही उत्पादन किया जाता है और कमजोर फर्मों को बन्द कर दिया जाता है लेकिन उनको भी मुनाफा में निश्चय हिस्सा देते हैं। इससे मन्दी में भी उत्पादन पूरी सामर्थ्य के साथ होता है।

शीर्ष समन्वय के *लाभ* ये बतलाये जाते हैं—(१) तैयार माल उत्पादित करनेवाले फर्म को कच्चे माल की पूर्ति बिना रोक-टोक के मिलती रहती है। (२) उसे दाम भी कम देना पड़ता है। (३) बिचली अवस्थाओं में विक्रय-खर्च नहीं उठाना पड़ता। (४) इस तरह के समन्वय द्वारा उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं को अन्तर्बद्ध किया जाता है और सभी फर्म अपनी-अपनी चीजों का उत्पादन शीर्षस्थ फर्म (जो तैयार माल का उत्पादन करता है) की माँग और पूर्ति के अनुसार करते हैं। इससे फालतू खर्च नहीं होने पाता। काम किफायत में ही चल जाता है।

शीर्ष समन्वय के अग्रलिखित *अवगुण* बतलाये जाते हैं (१) चूँकि निचले फर्मों को तैयार माल के उत्पादन करने वाले फर्म की माँग के अनुसार उत्पादन करना पड़ता है इसलिये ऐसा कभी हो सकता है कि अगर वह अच्छी तरह से अपने कुल माल को बेच नहीं सका और अपने उत्पादन को घटाने लगा तब निचले फर्मों को भी अपने उत्पादन को विवश होकर कम करना होगा। इस तरह नीचे के फर्मों की उत्पादन-शक्ति सर्वोपरि फर्म की उत्पादन-शक्ति

पर निर्भर करेगी। (२) सस्ती के समय कच्चे मालों के दाम घट जाते हैं। और दाम हर फर्म का भिन्न होता है। लेकिन दाम की भिन्नता से शीर्ष समन्वयवाले फर्म लाभ नहीं उठा सकते क्योंकि उन्हें तो आपस में ही खरीदना पड़ता है और विक्रेता-फर्म का जो दाम होगा उसी दाम पर उन्हें कच्चा माल खरीदना पड़ेगा। (३) यह सब समय के लिये संभव नहीं कि शीर्ष समन्वय में सभी अवस्थाओं में माँग और पूर्ति 'का' संतुलन ही हो सके। निचला फर्म अपने उपरोक्त फर्म की आवश्यकतानुसार उत्पादन करता है लेकिन "आवश्यकता" शब्द खुद अनिश्चित अर्थ (Vague) वाला है। (४) इस प्रकार के समन्वय में कोई फर्म जो आदर्श विस्तार प्राप्त करना चाहता है ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि जब तक उसके साथी फर्म आदर्श विस्तार नहीं प्राप्त करते तब तक वह खुद ऐसा नहीं कर सकता।

क्षैतिज समन्वय के भी कुछ *अवगुण* हैं। वे ये हैं—(१) अगर प्रत्येक फर्म निराले रंग-रूप या गुण की वस्तु का उत्पादन करे तब बेचने में काफी दिक्कत होगी। (२) अगर भोक्ताओं के दल विभिन्न तरह की चीजें चाहते हैं तब भी काफी कठिनाई होगी। (३) यह जरूर है कि इस तरह के समन्वय में कम कर्मचारियों से ही काम चल जाता है लेकिन ऐसा हो सकता है कि निपुण कर्मचारी ही हटा दिये जायँ और अनिपुण कर्मचारो रह जायँ। उस हालत में समन्वित फर्मों की कमजोरी बढ़ जायगी।

जो भी हो, आधुनिक युग में क्षैतिज समन्वय की ही प्रधानता है और सरकार के भी सारे प्रयास जो उनकी वृद्धि को रोकने के लिये कार्यान्वित होते हैं उनकी चालों के समक्ष विफल हो जाते हैं।

समन्वय का विपरीत विशिष्टीकरण (Specialisation) या विभाजन (Disintegration) या श्रम-विभाजन है। इसके भी दो भेद होते हैं—शीर्ष विशिष्टीकरण और क्षैतिज विशिष्टी-करण। क्षैतिज (Latarel) विभाजन के अनुसार कोई फर्म

किसी चीज का एक ही खास टाईप तैयार करता है। कपड़े के फर्मों से कोई केवल धोतियाँ तैयार कर सकता है, कोई केवल कमीजें तैयार कर सकता है, आदि। शीर्ष (Vertical) विभाजन में किसी उद्योग को कई खंडों में बाँट दिया जाता है। इसमें उद्योग से ताल्लुक रहता है, पृथक फर्मों से नहीं। प्रत्येक फर्म एक-एक काम करता है। अगर कपड़े के उद्योग में शीर्ष विभाजन हो तब कुछ फर्म केवल सूत काटने का काम करेंगे, कुछ कपड़ा बुनने का, कुछ रंग-साजी का, आदि। अगर मोटरगाड़ियों का उद्योग है तब कुछ फर्म मोटरगाड़ी की बॉडी बनाएंगे, कुछ कोच बनायेंगे, आदि। इस तरह के विभाजन का उपयोग उस समय किया जाता है जब किसी उद्योग का विस्तार बढ़ जाता है और उसका इन्तजाम करना कठिन हो जाता है। पहले प्रकार का विभाजन उत्पादन को वृहत् पैमाने पर करने के विचार से किया जाता है और उससे काफी बचतें होती हैं।

गुटों या समन्वयों के कतिपय रूप

(Various Forms of Combinations or Integration)

(१) पूल Pool के द्वारा बाजारों के विभाजन, लाभ के बँटवारे तथा उत्पादन को सीमित करने में कितने फर्म एक राय ठीक करते हैं। पूल का काम अधिकतर उत्पादन को ही कम करना है, दाम को बढ़ाना नहीं, बर्फ के कारखानों में यह बहुत ही प्रचलित है। प्रत्येक फर्म को एक सामूहिक फंड में अपना हिस्सा (quota) और रसीदें देनी पड़ती है। एकत्र फंड को सभी फर्मों में उनके हिस्सों के अनुपात में बाँट दिया जाता है। कुछ पूल बाजार तयकर फर्मों को व्यापार करने की मंजूरी दे देते हैं। इनका प्रचार इनकी लोच के कारण बहुत है। इन्हें आसानी से कायम किया जाता है। फिर भी पूल अस्थायी होते हैं। उनके प्रबन्ध में ठोसता नहीं होती। आपस में बहुत ही वाद-विवाद उठ खड़ा होता है। पूल शीघ्र ही भंग किये जाते हैं।

(२) Ring—जहाजियों के समन्वय को रिंग कहते हैं। अपने

द्वंद्वी को जहाजी कम्पनियाँ Deferred rebate की प्रथा द्वारा परास्त करती हैं।

(३) Corner :—किसी सौदे की पूर्ति को नियंत्रित करने के प्रयत्न को ही कॉर्नर कहते हैं। यदि कोई आदमी किसी फसल के समय कोई अन्न खरीद ले ताकि वह पीछे उसे अधिक दाम पर बेचे तो ऐसी हालत में यह कार्य कॉर्नर होगा।

(४) Holding Company—यह वह साधन है जिसके द्वारा समस्त या अधिक कम्पनियों का शासन और स्वत्व किसी पृथक एवं बिलकुल नई कम्पनी के हाथ में चला जाता है। इस नई कम्पनी के शेयर आरंभिक कम्पनियों में बाँटे जाते हैं। The Standard Oil Company ने बारह वर्ष तक यही रूप धारण किया था। The United States Steel Corporation (१९०१) में कायम हुआ, यह भी होल्डिंग कम्पनी ही था। लेकिन १९११ में यह नष्ट हो गया। (१) इसका जन्म ट्रस्टों को अमेरिका में अवैध घोषित करने पर हुआ था। इस तरह कम्पनी से समन्वय संबंधी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। अन्य कम्पनियों के वैधानिक और वित्त कर्मचारी-वर्ग को सहायता की जाती है। स्टोर और चीजों को खरीदने में आसानी होती है। शासन-भार हल्का हो जाता है। पेटेन्ट का सार्वजनिक बनाया जा सकता है। इसमें स्थायित्व और प्रबलता के गुण विद्यमान रहते हैं। (२) ट्रस्ट या मर्जर की तुलना में होल्डिंग कम्पनी में सद्भावना, स्वतंत्रता, अन्वेषण को सुविधा, परिवर्तनशीलता अधिक और भावी प्रतियोगिता का भय कम रहता है। सभी लोग मिलकर लाभ उठाना चाहते हैं। पर कभी-कभी कम शेयरवाली कम्पनियों के प्रति इसका कुव्यवहार रहता है। थोड़ी शेयर की अधिकता के कारण बहुतों के हित पर कुठाराघात ऐसी कम्पनी कर सकती है जो अनुचित और अग्राह्य है। यह कम्पनी अपनी गौण सहायक कम्पनियों के लेखा-पत्र (Balance-sheet) को गलत रूप में प्रस्तुत कर सकती है और जनता का रुख उनके प्रति खराब कर सकती है। मर्जर या ट्रस्ट कायम होने के पहले

कुछ फर्म होल्डिंग कम्पनी बना लेते हैं और बाद में मर्जर या ट्रस्ट में रूपान्तरित हो जाते हैं।

(५) Inter-locking of Directorality :—कुछ लोग बहुत-सी कम्पनियों के Directors Board में डाइरेक्टर का पद पाकर या उनके अधिक शेयरों को मोल लेकर, या दोनों साधनों से उन कम्पनियों का प्रभावशाली शासन कर सकते हैं। यह अधिक लोचपूर्ण संस्था है। कम्पनियाँ शासन के अतिरिक्त अन्य बातों में एक दूसरे से अलग रहती हैं। सिलाई की रुई और सीमेन्ट के व्यापारों में इंगलैंड में इस तरह की संस्था की प्रधानता है।

(६) Trust :—इसके अनुसार पृथक कम्पनियों के शेयराधिकारी अपनी सभी पूँजी कुछ ट्रस्टी लोगों (विश्वासपात्र) के हाथ में दे देते हैं। इन ट्रस्टियों को प्राप्त अधिकार के अनुसार अपने विचार को कार्यान्वित करना पड़ता है। बदले में ये लोग विश्वास सार्टिफिकेट देखते हैं। इन विश्वास सार्टिफिकेटों पर ही डिविडेन्ड बाँटा जाता है। इस प्रकार नाम भर का स्वत्व और प्रभावशाली नियंत्रण इन लोगों के हाथ से चला जाता है। प्रतिद्वन्द्वी कम्पनियों के एक में मिल जाने पर ही ट्रस्ट का आविर्भाव होता है। इस प्रकार नियंत्रण और व्यवस्था की एकता स्थापित हो जाती है। इसे Merger भी कहते हैं। इन दिनों इसी महान् सम्मिश्रण को Trust कहा जाता है।

(७) Kartel:—यह फर्मों की वह संस्था है जिसका निर्माण, उत्पादन तथा मूल्य को नियमबद्ध करने के लिये किया जाता है। इसका संगठन एक विक्रेता-व्यूरो के नाम पर होता है। सभी फर्म अपनी व्यक्तिगत सत्ता को कायम किये रहते हैं। वे संस्था के मत का अनुमोदन करते हैं। व्यूरो के हाथ में प्रत्येक फर्म के उत्पादन-भाग (Quota) को निर्धारित करना, बिक्री दरों को ठीक करना तथा समस्त बिक्री संबंधी काम का प्रबंध करना पड़ता है। जितने सदस्य उत्पादक हैं वे एक सार्वजनिक एसेम्बली में एकत्र होते और अपने

उत्पादनों का मूल्य-निर्णय करते हैं। तदुपरान्त वे अपने मालों को सिन्डोकेट के हाथ कुछ अधिक दाम पर, जो एसेम्बली निर्धारित करती है, बेच देते हैं। सिन्डोकेट उन चीजों को भोक्ताओं के हाथ बेच देती है। यदि वह कुछ लाभ उठा सका तो उसका विभाजन सदस्यों में होगा। भारतीय चीनो मिलों ने १६३६ में भारतवर्षीय चीनी का सिन्डोकेट कायम किया जिसे चीनी के बेचने का कार्य सौंपा गया।

ट्रस्ट और कार्टेल में कुछ मोटामोटी विभेद हैं। ट्रस्ट में फर्म अपना व्यक्तिगत अस्तित्व खो देते हैं, एक नई संस्था कार्य-भार लेती है, परन्तु कार्टेल में वे अपना पृथक अस्तित्व बनाये रहते हैं। ट्रस्ट में उत्पादन तथा वितरण दोनों एक केन्द्रित शासन में रहते हैं। कार्टेल केवल वितरण को ही एक शासन-मंडल के हाथों में केन्द्रित में किया जाता है। जहाँ ट्रस्ट स्थायी संस्था है, वहाँ कार्टेल अल्प-जीवी। कुछ दशाओं में कार्टेल ट्रस्ट की अपेक्षा अच्छा है। कार्टेल स्थानीय और ट्रस्ट राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं। ट्रस्ट को अति पूँजी प्रदर्शन का डर बना रहता है। कार्टेल में Over-capitalisation का डर नहीं रहता।

इन विभिन्नताओं के अतिरिक्त कुछ और भी विभिन्नताएँ हैं। वे ये हैं—कार्टेल की अपेक्षा ट्रस्ट में विस्तार संबंधी बचतें बहुत अधिक होती हैं। कार्टेल छोटे फर्मों के लिये एक सहारा होता है। कार्टेल ट्रस्ट की तुलना में कम खर्चालू होता है और उसके बनाने में ट्रस्ट के बनाने से कम झंझट है। कार्टेल ट्रस्ट से अधिक व्यापक हो सकता है। ट्रस्ट में किसी उद्योग के सभी फर्म शायद ही सम्मिलित होते हैं परन्तु कुछ ऐसे कार्टेल हैं जिनमें किसी उद्योग के सारे फर्म सम्मिलित हैं। जहाँ कार्टेल की शक्ति उसकी लोच और व्यापकता में है वहाँ ट्रस्ट की शक्ति का निवास उसकी एकता में है। कार्टेल भावी प्रतियोगिता की उत्पत्ति (arisal) से बचा रहता है, क्योंकि वह बहुत लोचपूर्ण और व्यापक होता है और अपने सदस्य फर्मों को भरपूर स्वाधीनता दे पाता है। दूसरी ओर, ट्रस्ट को भावी प्रतियोगिता की बड़ी आशंका

रहती है। "The United States Steel Corporation" आरंभ में ट्रस्ट था। बाद में वह कार्टेल में परिणत हो गया। उसी तरह ग्रेट ब्रिटेन में "The Salt Manufacturing Association" पहले एक ट्रस्ट था। बाद में वह कार्टेल हो गया।

जर्मनी में "व्यापार-निरोध" (Restraint of trade) पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया था। कार्टेल की स्थापना के लिये फर्मों में समझौता की जरूरत पड़ती है। समझौता का माना व्यापार-निरोध ही है। यही कारण है कि जर्मनी में कार्टेलों की भरमार थी।

अमेरिका में "व्यापार-निरोध" सरकार द्वारा निषिद्ध कर दिया गया था। इसलिये वहाँ कार्टेलों का विकास नहीं हो सका। इसका नतीजा यह हुआ कि फर्मों को अपने पृथक अस्तित्व को खोकर ट्रस्ट या मर्जर में रूपान्तरित हो जाना पड़ा।

ग्रेटब्रिटेन में "व्यापार-निरोध" अवैध तो जरूर था लेकिन वहाँ के न्यायाधीश पुरी कठोरता के साथ इस नियम को लागू नहीं करते थे। इसलिये वहाँ कार्टेल और ट्रस्ट दोनों थे।

अमेरिका में ट्रस्टों की अभिवृद्धि का दूसरा कारण यह था कि वहाँ फर्म बड़े आकार के थे और उनमें वृहत् पैमाने पर उत्पादन होता था। कार्टेल उनके लिये उपयुक्त नहीं था। जैसा कि लेवर महाशय ने कहा है—अगर "व्यापार-निरोध" अमेरिका में निषिद्ध भी नहीं होता तब भी कार्टेल नहीं बढ़ सकते थे।

जर्मनी में २० वीं शताब्दी के आरंभ के पहले कार्टल खूब बढ़े, लेकिन २० वीं शदी के आरंभ से जब फर्मों का आकार बड़ा होने लगा तब उनकी उपयोगिता कम हो गई। जर्मनी का पोटास-उद्योग पहले कार्टेल था लेकिन बाद में जब उसे दुर्द्धर्ष प्रतियोगिता का मुकाबला करना पड़ा तब उसे सरकार से सहायता लेनी पड़ी।

इंगलैंड में १९ वीं शताब्दी के अन्त होते-होते कार्टेल की जगह ट्रस्टों की धूम मच गई। लेभर-ब्रदर्स ने अपने साबुन का उद्योग

कार्टेल के रूप में चलाया था लेकिन, बाद में उसे ट्रस्ट का परिधान पहनाना पड़ा।

इ० ए० जी० रॉबिन्सन ने ट्रस्ट और कार्टेल की उत्पत्ति को समझाने का एक न्यारा कारण निकाला है जिसे वे "मन की मर्जी" (Idiosyncrasy) कहते हैं। कार्टेल जहाँ कहीं भी अधिक बढ़े, इसलिये बढ़े कि उद्योगपतियों के मन की मर्जी थी कि कार्टेल ही स्थापित किये जायँ। ट्रस्ट जहाँ कहीं भी अधिक बढ़े वे इसलिये बढ़े कि उद्योगपतियों के मन की मर्जी यही थी कि ट्रस्ट कायम किये जायँ। लेकिन गंभीरतापूर्वक विचार करने से हमें यह ज्ञात होता है कि ट्रस्ट या कार्टेल की स्थापना उद्योगपतियों के मन की मर्जी की उपज नहीं है। मन की मर्जी एक गौण कारण हो सकता है, लेकिन प्रधान कारण आर्थिक शक्तियाँ थीं।

ट्रस्ट तथा कार्टेल पैमाना संबंधी सुविधाओं का लाभ उठाते हैं। उनका प्रबंध विशिष्ट और विज्ञ लोगों द्वारा होता है। श्रमिकों तथा मशीनों का सुन्दर श्रम-विभाजन हो सकता है। क्रय-विक्रय में लाभ और बचत होती है। चीजों के प्रचार-प्रसार कार्य आसानी होती है। ये अति आधुनिक मशीनों को खरीद तथा अनुसंधान और निरीक्षण करा सकते हैं। बुरे समय का सामना चातुरी से कर सकते हैं। सम्मिलित पूँजी कम्पनी होने के नाते वे बहुत लाभ उठाते हैं। इसके अतिरिक्त वे एकाधिकार प्राप्त संस्थाएँ भी हैं। वे अधिक दाम वसूल करते हैं। वे महान् उत्पादक हैं। इसके कारण ऊँचे दर्जे की निपुणता प्राप्त करने में उन्हें सुविधा होती है। वितरण के क्षेत्र में उन्हें कितनी सुविधाएँ प्राप्त हैं। पर उनके एकाधिकारी होने के कारण बहुत ही सामाजिक नुकसान उत्पन्न होते हैं। वे अपने प्रतियोगी को कुचल देते हैं और समाज इन परमर्दित फर्मों के द्वारा संभव भलाई से वंचित रह जाता है। सौदागरों को अनुचित मूल्य देना पड़ता है! भोक्ता-गण कष्ट पाते हैं। वे कुछ मुँह देखा काम भी करते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता का संभवनीयता में रोड़े अटकाकर वे आर्थिक प्रगति में बाधक होते हैं। प्रभृति।

अष्टम अध्याय

एकाधिकार की कुछ समस्याएँ

(Some Problems of Monopoly)

श्री वेनहम ने इस विषय पर चर्चा करते हुए लिखा है कि मान लीजिये किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन, जिसके लिये कोई समकक्ष स्थानापन्न पात्र-वस्तु नहीं है, किसी एक फर्म या फर्मों के एक संगठन-संस्था द्वारा जो एकाधिकारी है, नियंत्रित होता है। हमें यह दिखाना है कि इसका अन्तर उस स्थिति से जिसमें अनेकों फर्म एक-दूसरे से संघर्ष करते हैं, कितना है। एक ही plant (unit of production) अर्थात् उत्पादन की एक अदद से समस्त बाजार की माँगों को पूरा करने के प्रयास से जितनी आर्थिक सुविधाएँ उपलब्ध हो सकती हैं उनके विचार से एकाधिकार का होना अवश्यंभावी है। सार्वजनिक उपयोगिताओं को प्रदान करने वाली कम्पनियों को आपस में संघर्ष करने का पूरा अवसर दे दिया जाय तो कुछ जरूर ही एकाधिपत्य प्राप्त कर लेंगी। ऐसी हालत में दाम भी कम होगा। हाँ, यह जरूरी है कि यह दाम सीमान्त-व्यय से अधिक होगा।

कहा जाता है कि एकाधिकार से सम्पत्ति का वितरण अधिक विषम हो जाता है। यह सर्वथा सत्य बात नहीं कि एकाधिकारी जिन भोक्ताओं को ठगता है, शोषित करता है उनसे अधिक सम्पत्ति सम्पन्न है। एकाधिकार आविष्कारों का, जो नई पूँजीगत सामग्री चाहते हैं, प्रयोग रुद्ध कर सकता है। मान लिया जाय कि कोई फर्म किसी चीज का एकाकी उत्पादक है। उसे ऐसे ही आविष्कार का मुकाबला करना पड़ रहा है। फर्म उसी हालत में नये साधन का प्रयोग करेगा। जब उसे अपेक्षाकृत कम खर्च हो और फलतः कुछ लाभ हो। यदि उसे नये साधन के प्रयोग से बचत होने की उम्मीद

नहीं तो इसे नहीं अपनायेगा जिसके कारण भोक्ताओं को निपुणतर उपाय का लाभ नहीं प्राप्त होगा। यदि एकाधिकार नहीं रहता तो नये फर्म नूतन आविष्कार से फायदा, उठाते। जब एकाधिकार उत्पादन को रोकता है तब जो क्षतियाँ होती हैं उनका वर्णन आगे किया जाता है। तीन प्रकार से कुल उत्पत्ति को रोका जा सकता है।

कुछ उत्पन्न वस्तुओं को नष्ट किया जा सकता है। १९३१-१९३४ तक ब्रेजिल के कॉफी इन्सटीच्यूट ने करीब २० लाख टन साधारण कॉफी को नष्ट कर दिया। एकाधिकार अपने उत्पादक साधनों (Resources) का अकर्मण्य रख सकती है। कुछ रबर के पेड़ों का रस नहीं उतारा जा सकता है, कुछ खेत को परती छोड़ दिया जाता है, आदि। पूरी प्रतियोगिता की उपस्थिति में उत्पादक साधनों से जब तक कुछ भी लाभ हो, उनका उपयोग किया जाता है। किन्तु एकाधिकार में उनका सर्वथा नहीं या कम उपयोग हो सकता है जिससे भाव कम न हो और न लोभ ही घटे। कोई दृष्टिगत नाश नहीं हो सकता है। परन्तु स्वतंत्र पूँजी और उत्साह को एकाधिकार प्राप्त उद्योग में प्रवृत्ति होने से रोका जा सकता है। इसलिये आवश्यक परिमाण में वस्तु का उत्पादन नहीं हो सकता है। उतना ही उत्पादन होगा जितने से एकाधिकारी को इच्छित लाभ प्राप्त हो सके।

एकाधिकार द्वारा पूर्ण उत्पादन को न्यून करने से बहुतेरे प्रभाव पड़ते हैं। एकाधिकार में उत्पादन के प्रवर्तक साधनों (factos of production) की माँग अपेक्षाकृत कम रहती है जिससे उनका पारिश्रमिक भी कम मिलता है। "बचत हुई समर्थता" का उपयोग करने के लिये एकाधिकार आतुर रहते हैं। जब एकाधिकार के द्वारा समस्त उत्पादन कम हो जाता है तो उत्पादित सौदाओं और कार्यों का यूथ (assort-ment) भोक्ताओं के यूथ से विभिन्न होता है। इसके द्वारा सभी साधनों का भोक्ताओं की लालसाओं के अनुसार उपयोग नहीं होता। कहने का मतलब यह है कि एकाधिकार भोक्ता की स्वतंत्रता को सीमित कर देता है। कुछ राज्य-शासक एकाधिकार

पर कड़ी नजर रखते हैं। कुछ और भी बाधाएँ हैं जिनसे एकाधिकार बहुत अधिक सबल नहीं हो सकते। एकाधिकार "eccess capacity की जननी है। इससे मूल्यवान् उपजों का विनाश होता है। भोक्ताओं और उद्योग-मालिकों की इच्छाओं को लयमान करने के लिये दाम की जो परिपाटी है वह कमज़ोर और छिन्न-भिन्न हो जाती है।

एकाधिकारों का जो आर्थिक प्रभाव पड़ता है उसे इन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। वे नीचे वर्णित होते हैं :—

(१) शेयराधिकारी पर इनका प्रभाव : व्यवसाय का स्वत्व उद्योग-प्रणेता से एक कॉरपोरेशन के अधीन चला जाता है। शेयर-मालिक ही सच्चे अधिकारी होते हैं। ये लोग अपनी पूँजी को समन्वितकर प्राप्त लाभों को बाँट लेते हैं। हानि का भय इन्हें रहता है, पर शासनभार कॉरपोरेशन के हाथ में जिसके संचलाकों की ईमानदारी और योग्यता पर लाभ होना निर्भर करता है।

(२) मजदूर पर इनका प्रभाव : एकाधिकारों से उत्पादक के साधनों की शक्ति बढ़ जाती है। इन्हें बहुत लाभ प्राप्त होता है। अतः मजदूरों को अधिक मजदूरी मिल सकती है। उनकी दशाओं का परिष्करण किया जा सकता है। पर जैसा कि देखा जाता है, ये उत्पादन को कम कर देते हैं, शक्ति की कमी से वेतन भी कम हो जाता है। इसी तरह अन्य साधनों की माँग कम होने से उनका पारिश्रमिक कम हो जाता है।

(३) स्वतंत्र उत्पादक पर प्रभाव : स्वतंत्र उत्पादक अपनी सीमित पूँजी से एकाधिकारों का सामना नहीं कर सकता। इसलिये उसे अन्त में वहिष्कृत होना पड़ता है। उसे नौकरी करनी पड़ती है।

(४) एकाधिकार के सदस्य फर्म पर सदस्यों को इतना कम उत्पादन करना पड़ता है कि उनकी शक्ति मारी जाती है। इसलिये उनके कुछ उपादान यों ही पड़े रहते हैं। अधिक सक्षम अदर्दें कम काम करतो हैं।

(५) Surplus Capacity की उत्पत्ति इस प्रकार होती है। प्रत्येक सदस्य अपना कोटा (थोक) बढ़ाने की धुन में रहता है। इस लिये चुपके से विशेष सामान स्थापित कर लिये जाते हैं।

(६) किस प्रकार उपादानों का पूरा व्यवहार नहीं होता, किस प्रकार भोक्ता कष्ट भोगते हैं—यह ऊपर कहा गया है।

(७) कच्चेमाल के प्रदान कर्त्ता पर अधिकतर औद्योगिक संगठित संस्थाएँ अल्पमात्रा में प्राप्त कच्चे मालों पर अधिकार किये रहती हैं। पर पुनः उत्पन्न की जानेवाली चीजों को वे स्वतंत्र उत्पादकों से मोल लेती हैं। इस तरह कच्चे माल के विक्रेताओं को कम दाम देकर सभी माल एकाधिकारवाले खरीद सकते हैं।

(८) एकाधिकारी किस प्रकार नये अनुसंधानों, नये व्यक्तियों को स्थान नहीं दे सकते हैं यह ऊपर कहा जा चुका है। वे नूतन रक्त का संचार रोक कर समाज की महती क्षति कर सकते हैं।

(९) भोक्ताओं पर प्रभाव : इसका भी हमने वर्णन कर दिया है। यद्यपि—एकाधिकारी को सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हैं, तथापि वह अधिक दाम ले सकता है। भोक्ताओं को भद्दी चीजें भी मिल सकती हैं।

(१०) व्यवसाय पर प्रभाव : एकाधिकार से पहला लाभ यही है। (ऊपर देखिये)

(११) बेनहम ने एकाधिकारों की स्थिति-प्रियता का वर्णन किया है कि किस प्रकार वे टेकनिकल प्रगति को रोक सकते हैं। पूरी प्रतियोगिता के अभाव में वे इनका व्यवहार नहीं करना चाहते।

(१२) सम्पत्ति के विभाजन में इनके द्वारा कितनी विषमता उत्पन्न होती है, हम लिख चुके हैं। ये दिनोंदिन धनी होते जा रहे हैं। आदि।

(१३) प्रशस्त बेकारी की उत्पत्ति का कारण एकाधिकार है। यदि यह नहीं रहता तो सभी कारखाने एक साथ नहीं बन्द होते।

एकाधिकारों से लाभ

(१) इनसे उत्पादनगत किफायतें हासिल होती हैं। महाशय रॉबर्टसन ने बाजारों के समन्वय के कारण ही एकाधिकारों की प्रगति संभव कहा है। उत्पादन कार्य के टेक्निक (तरीका) में भी विशेष लाभ होता है। श्रम-विभाजन, प्रामाणिकता, समन्वय, विशिष्टीकरण, प्रभृति सिद्धांतों के पालन से उत्पादन बड़े पमाने पर संभव हो सकता है और इससे लाभ उठाया जा सकता है। प्रत्येक फर्म को चरम उन्नति प्राप्त करने की सुविधा है। वितरण और उत्पादन के काम बड़े ही सतर्क आधार पर हो सकते हैं।

(२) इनसे क्रियात्मक काम करने में सुविधा होती है। फर्में आपस में उलझते और जूझते नहीं रहते। बाजार-प्रसूत सुविधाओं से राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़ती है। उत्पादन अनवरुद्ध गति से चलता रहता है। वस्तुओं के भाव में अधिक उथल-पुथल नहीं मचती। इस प्रकार स्थिरता का गुण प्राप्त किया जाता है। पर यह कार्य संदिग्ध है।

(३) ये प्रतियोगिताओं की विनाशक क्षतियों से वंचित रहते हैं। इन्हें प्रचार और विज्ञापन में बहुत धन व्यय नहीं करना पड़ता। इसके अलावे व्यापारियों को भी क्रय-विक्रय की सुविधा रहती है। यातायात का व्यय कम होता है। एकाधिकारी प्रत्येक फर्म के व्यापारियों के रहस्यों, अनुभव और ज्ञान से लाभ उठा सकता है।

(४) कुछ ऐसे व्यवसाय हैं जिनमें एकाधिकारों का होना समाज के लिये बहुत ही हितकर है। सामाजिक और प्राकृतिक एकाधिकारों का निर्माण ही इसके निमित्त होता है। (Octopoid Industries) के एकमात्र निदान ये ही हैं। गैस, प्रकाश, जल, डाक-तार, प्रभृति ऐसे ही क्षेत्र हैं। यही गुण एकाधिकारों को अभिशाप (curse) बनने से बचाता है।

(५) एकाधिकारों की निपुणता (Efficiency) प्रतियोगितावाले व्यवसायों की तुलना में अधिक होती है, क्योंकि उनके पास पैसे

अधिक रहते हैं और वे नई-से-नई मशीनों को खरीद कर उत्पादन कर सकते हैं। वे वृहत् पैमाने पर उत्पादन कर शीघ्रता से बाजार की माँग को पूरा कर सकते हैं।

(६) एकाधिकारों में पूर्त्ति और दाम की स्थिरता (Stability) बनाये रखने की पूर्ण क्षमता रहती है। वे मन्दी में भी स्वाभाविक उत्पादन कर सकते हैं। इससे बाजार की माँग पूरी हो सकेगी। वे मन्दी में अपने मजदूरों को और उत्पादकों की अपेक्षा अधिक मजदूरी दे सकते हैं। महँगी में वे अधिक लाभ उठाकर अपनी कमी को पूरा कर ले सकते हैं। इस तरह पूर्त्ति स्थिर रहेगी। चूँकि वे बाजार के सबसे बड़े पूर्त्तिकर्त्ता होते हैं इसलिये उनके द्वारा निश्चित दाम ही मान्य होता है और वे दाम को अधिकतर स्थिर ही रखते हैं।

प्रोफेसर पीगू ने एकाधिकारों का विशद अध्ययन अपने ग्रन्थ "Economics of welfare" में किया है। उन्होंने इस बात पर विचार किया है कि क्यों एकाधिकारों की इतनी धूम है। उनके मतानुसार एकाधिकारों को बहुत-से लाभ होते हैं। वे ये हैं—(१) वे वृहत् पैमाने पर उत्पादन करते हैं। इससे भी उनको बहुत-सी बचतें होती हैं। (२) उनमें प्रबन्ध भी सुचारु ढंग से चलता है और इससे भी काफी बचत होती है। (अ) मशीनों का समुचित उपयोग होता है। (ब) आनुषंगिक उपजों का सदुपयोग होता है। (स) बाजार में क्रय-विक्रय से फायदा होता है। (द) उन्हें सुविधापूर्वक रुपये भी उधार मिल जाते हैं। (३) उनमें अनुसंधानों की ज्यादा संभावना रहती है। (४) उत्पादन और लाभ में स्थिरता रहती है। (५) विज्ञापन तथा विक्रय-कार्य पर अनुपाततः कम खर्च होता है। 'अभाव' की निरंकुशता उनमें सबसे अधिक रहती है और इससे भी उनको लाभ होता है।

एकाधिकारों से क्षति

(१) ऊपर कहा गया है कि एकाधिकार प्रतियोगिता के व्यर्थ

व्यय को कम कर देता है। पर यह पहले नहीं, पीछे होता है। पहले तो शक्ति प्राप्त करने के लिये वे आपस में प्राणपण से लड़ते हैं। इससे राष्ट्रीय पूँजी का ह्रास होता है। छोटे-छोटे उद्योगों को नष्ट करने के उद्देश्य से वे अनुचित साधनों को अधिकृत करते हैं और गुप्त सुलहें भी करते हैं। इससे समाज में अशान्ति और दरिद्रता का समावेश होता है। (२) अपने प्रतिद्वंद्वी उत्पादकों को एकबार बाहर हटा देने से वे भोक्ताओं को भी नाना प्रकार की यातनाएँ दे सकते हैं। अधिक दाम लिया जा सकता है। वे सनातनी (Conservative) हो सकते हैं और परिवर्तन से घृणा कर सकते हैं। (३) उनको परिस्थिति से मोह हो जाता है। वे शिथिल और आलसी बन जाते हैं। नये साधनों का प्रयोग जल्दी से नहीं कर सकते हैं। (४) वे विधान-परिषद् के सदस्यों को घूस देकर उनकी नैतिकता को भ्रष्ट कर सकते हैं। वे अपनी सत्ता रक्षा के लिये कानून पास करा सकते हैं। भोक्ताओं को इसमें बड़ी क्षति होती है। (५) उनका शासन-भार संचालकों के हाथों में सौंप दिया जाता है। वे जोखिम लेना नहीं चाहते, फलतः वे सट्टेबाजी किया करते हैं। गलत सट्टेबाजी से उन्हें लाभ के बदले हानि ही होती है। जैसे-जैसे व्यवसाय बढ़ता जाता है वैसे-वैसे देख-भाल करना कठिनतर होता जाता है।

(६) 'Water in Capital' एकाधिकारों का प्रधान लक्षण है। व्यवसाय का उज्ज्वल भविष्य पूँजी की बड़ी रकमों को आकर्षित कर सकता है जो व्यवसाय में लगाये जाने पर अधिक लाभ नहीं दे सकती हैं।

(७) Dumping और Discrimination से समाज को बहुत कष्ट होता है, क्योंकि एकाधिकारी इन दोनों कर्मों में अभ्यस्त होते हैं।

(८) एकाधिकार साधनों के उचित वितरण को विकृत कर डालता है। वे समाज के लिये अधिक हितकर उद्योगों से साधनों को विमुख कर अपने उद्योगों में प्रवृत्त करते हैं और चूँकि उनके उद्योग

समाज के सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से कम उपयोगी होते हैं, इसलिये उनके इस कार्य से समाज का नुकसान होता है। दूसरी ओर वे ऐसे उद्योगों में कम साधन लगाते हैं और उनमें कम उत्पादन करते हैं जो समूचे समाज के हित की दृष्टि से अधिक आवश्यक होते हैं। इस प्रकार वे मनमाना दाम वसूल करते हैं। वे साधनों का शोषण करते हैं। वे अनुचित मुनाफा कमाते हैं। बॉलडिंग ने एकाधिकारी की तुलना उस लालची लड़के से की है जो अपने साथियों के साथ टेबुल पर बैठा हुआ केवल अपने हिस्से की मीठी रोटियों से ही संतोष नहीं करता, बल्कि अपने साथियों के हिस्सों से भी कुछ छीन लेता है और इस छीना-झपटी में कुछ रोटियाँ चूर-चूर भी हो जाती हैं। ऐसे दुष्ट लोभी लड़के को सजा मिलनी चाहिये। अदमस्मीथ ने कहा था कि पूर्णप्रतियोगिता और पूर्ण गतिशीलता रहने पर जब लोग अपने-अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये काम करते हैं तब उससे सामाजिक स्वार्थ की भी सिद्धि होती है। दूसरे शब्दों में वैयक्तिक स्वार्थ का कूड़ा (dross) भी सामाजिक कल्याण के स्वर्ण (gold) में परिणत हो जाता है। लेकिन पूर्ण प्रतियोगिता और पूर्ण गतिशीलता नहीं रहती तब इस तरह की आशा करना ही व्यर्थ है।

(६) एकाधिकारी अपनी चीजों को बेचने लिये भयंकर प्रतियोगिता करते हैं। वे गलाघोंटो विज्ञापन करते। 'मुख-दर्पण की लाल रानी' (Red Queen in the Looking Glass) की कहानी में लालरानी जिस तेजी में दौड़ती बतलाई गई है उसी तेजी में ये अपनी चीजों को बेचने के लिये खर्च करते हैं। जब इससे उनके अभीष्ट की पूर्त्ति नहीं होती तब वे दाम घटा-घटाकर अपनी चीजों को बेचने लगते हैं। उस समय दाम के मोर्चे पर लड़ाई होने लगती है और विज्ञापन का मोर्चा ढीला पड़ जाता है।

आदमी मशीन का दास बन गया है। सम्पत्ति की पूजा इस तरह हो रही है मानो वह देवी हो। समानता की चर्चा की जाती है, लेकिन सभी जगह असमानता का ही राज्य है!

एकाधिकारों का नियंत्रण किस प्रकार किया जाय ?

(Control of Monopolies)

प्रतियोगिता के आधार पर बनी आर्थिक प्रथा में भोक्ताओं को घटते हुए दाम पर वस्तुओं को खरीदने की सुविधा प्राप्त रहती है, क्योंकि जो अक्षम उत्पादक रहते हैं वे बड़े उत्पादकों के द्वारा पराभूत होते हैं। क्योंकि नये-नये वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग कर सकते हैं। लोगों को अधिक-से-अधिक राष्ट्रीय डिविडेंड उपलब्ध होता है। भोक्ताओं के संतोष की मात्रा भी बढ़ जाती है। श्री राबिन्स ने वर्त्तमान पूँजीवादी समाज से पूर्ण प्रतियोगिता को घटते देखकर बहुत ही पश्चात्ताप किया है। अतः समाज तथा भोक्ताओं के हितार्थ यह अनिवार्य है कि पूर्ण प्रतियोगिता का प्रतिष्ठापन किया जाय। Dumping के कारण भी (अर्थात् व्यवसाय को वृहत् बनाकर पहले छोटे-छोटे उत्पादकों को बाजार से निकाल बाहर करने के लिये कम दाम लेने की और बाद में दाम को बढ़ाकर घाटा पूरा करने की प्रथा) समाज को अपूर्त्य क्षति होती है। अतः यह उचित है कि सरकार एकाधिकारों पर अंकुश रक्खे तथा समाज की भलाई करे। सरकार द्वारा गृहीत उपायों का नीचे उल्लेख किया जाता है।

(१) राज्य प्रत्यक्ष रूप से मोनोपोलियों की उत्पत्ति को रोक सकता है। वह ऐसा विधान पास करता है कि 'व्यापार में अवरोधक' संस्थाओं को गैरकानूनी करार कर दिया जाय। जो लोग व्यापार में अवरोध लाना चाहते हैं उनके कार्यों और प्रबन्धों के लिये दंड दिया जाय। संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) ने ५० वर्षों तक इसी नीति का अवलम्बन किया था। पर इससे जो परिणाम निकले वे उत्साहवर्द्धक नहीं हैं। बात यह है कि यह बड़ी कठिन नीति है। एकाधिकार के आविर्भाव को एकदम रोक देना बहुत ही कठिन है। हाँ, इसकी रूप-रेखा में परिवर्तन हो सकता है। इतना ही नहीं Ociopoid उद्योगों में तो एकाधिकार का होना समाज के लिये

लाभदायक है। पूर्त्ति का यही सुन्दर ढंग है। इसके द्वारा उत्पादन विषयक मित्रताएँ प्राप्त होती हैं। चीजें सुन्दर और अबाधगति से विनिमित होती हैं। सन् १८६० में Sherman Antitrust Act पास किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में एकाधिकार लाने के कार्य को दंड-पात्र माना गया। सन् १६१४ में उसी कानून के अनुसार मुँह देखा (discrimination) काम को अवैध ठहराया गया। पर सफलता पूरी न मिल सकी। The Clayton Act ने भी व्यवसायों के समन्वय को बन्द कर दिया। फिर भी इन दोनों कानूनों से पूरी प्रतियोगिता नहीं लाई जा सकी।

(२) राज्य अपरोक्ष रूप से प्रतियोगिता को उत्तेजित कर सकता है। वह ऐसे आचरणों का निराकरण कर सकता है जो एकाधिकार के हाथ में सशक्तशस्त्र बने रहते हैं। कभी-कभी एकाधिकार अपने खुदरा-क्रेताओं (retailers) को अपने प्रतिद्वन्द्वियों का माल न खरीदने के लिये बाध्य करता है। वह दाम को इतना कम कर देता है कि उनके प्रतियोगी ठहर ही नहीं सकते। पीछे दाम को बढ़ा दिया जाता है। अमेरिका में ऐसे ढगों को गैरकानूनी मुकर्रर कर दिया जाता है। यह इच्छित साधन है। पर यह कठिनता पूर्वक व्यवहृत हो सकता है। सरकार इस सिलसिले को बन्द कर सकती है। वह ऐसा आदेश कर सकती है कि एक बार यदि मूल्य कम कर दिये जायँ तो उन्हें पुनः नहीं बढ़ाया जाय। इस बात से आशंका अवश्य है कि एकाधिकारी दाम कम करने के लिये परीक्षण या वैज्ञानिक चिन्तन न करावेगी।

(३) सरकार समाज के कल्याण के लिये अनुचित मूल्यों को रोक सकती है और उचित दामों को निर्धारित भी कर सकती है। नहीं तो वह एकाधिकारी के लाभ को भी सीमित कर सकती है। वह लाभार्जन की सर्वाधिक दर को ठीक कर सकती है। यदि लाभ अधिक है तो मूल्य कम हो जाना चाहिये। इसके लिये एकाधिकारी की पूँजियों का ज्ञान होना अनिवार्य है पर इसे प्राप्त करना दुरूह है।

वस्तुओं का अधिक-से-अधिक और कम-से-कम दाम निश्चित किया जा सकता है। पर जब उनके उत्पन्न करने का विधान या ढंग उन्नत होगा तो फिर उन्हें बदलना पड़ेगा।

(४) सरकार ख़रीददारों की संस्थाओं को कायम कर एकाधिकारों की शक्ति को न्यून कर सकती है।

(५) सरकार यह समझकर कि "Light is the sovereign antiseptic and the best of all police men" एकाधिकारों की जाँच-पड़ताल कर सकती है। ऐसे अधिकार संभव हैं। The United States Fedral Trade Commission अथवा The British Railway Rates Tribunal को ऐसा अधिकार सरकार की ओर से दिया गया है। इस उपाय से एकाधिकार पराकाष्ठा का अतिक्रमण नहीं कर सकता।

(६) सरकार मोनोपोलियों में स्वयं शेयर लेकर या विधान पासकर शासन का आंशिक अधिकार प्राप्त कर उनको प्रभावित कर सकती है। इस प्रसंग की चर्चा हमने "सरकार द्वारा चलाये जानेवाले व्यवसाय" शीर्षक में कर दी है।

(७) कर लगाकर या मदद देकर एकाधिकारों के प्रभाव को कम किया जा सकता है। अत्युन्नत उद्योगों में उत्पादन के उपादानों को न लगाया जाय इसके लिये सरकार इनपर कर लगा सकती है पर अत्युन्नत उद्योगों को सहायता देकर उनका उन्नयन भी वह कर सकती है। इस तरह वह सभी उद्योगों में उत्पादन के साधनों की सीमान्तक शक्ति को समान करने की चेष्टा कर सकती है। इसी तरह सभी व्यवसायों को "चरम प्रसार" (Optimum size) प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया जा सकता है।

(८) यह भी कहा जाता है कि एकाधिकारगत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो। नियमित और बाजार प्राप्त एकाधिकारों को सरकार स्वायत्त कर सकती है। सार्वजनिक हित के जितने उद्योग हैं, उन सभी को तो सरकार को अपना लेना चाहिये। एकाधिकारों की

बुराइयों के जितने और साधन हैं सभी असफल होते हैं। केवल यही एक साधन इस कार्य में सफल हो सकता है। एकाधिकार शासित उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिये। दूसरे उपायों से एकाधिकारों को रोकने या दंडित करने का सरकार द्वारा प्रयत्न उसी तरह निरर्थक है जिस तरह चन्द्रमा में अपना स्वरूप देखकर किसी कुत्ते का भूकता रहना।

एकाधिकारों की शक्ति के अवरोधक (Obstacles)

ऊपर के विवेचन से जान पड़ता है कि एकाधिकारों की शक्ति को बहुत ही अधिक बढ़ गई है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। उनकी शक्ति में कुछ कंटक हैं जो नीचे दिये जाते हैं।

(१) पूर्ण एकाधिकार का होना कठिन है। एकाधिकारों को भी बाहरी या भीतरी समर्थ प्रतिद्वंद्वियों का भय बना रहता है। नये प्रतिद्वंद्वी भी उत्पन्न हो सकते हैं और उन्हें पदच्युत कर सकते हैं। इसलिये वे अत्याचार नहीं करने पाते हैं।

(२) बाहरी एकाधिकार भीतरी एकाधिकार को चौपट कर सकते हैं, उनके बाजार को आत्मसात् कर सकते हैं।

(३) भोक्ताओं में भी सहन करने की एक हद होती है। यदि उस सीमा से अगर एकाधिकार आगे बढ़ना चाहेंगे तो उन्हें भोक्ताओं के विप्लव और विरोध का सामना करना पड़ेगा। एकाधिकारों को इसका ख्याल करना पड़ता है।

(४) एकाधिकारों की "सामाजिक चेतना" भी स्वयंमति आचरण करने से उन्हें रोकती है। उन्हें समाज को प्रसन्न रखना पड़ता है। भोक्ताओं को वे जितना ही अधिक संतोष दे सकेंगे, उन्हें उतना ही विशेष लाभ होगा। एकाधिकारी ऐसा आदमी नहीं जो बहुत ही मोटा हो जिसकी बड़ी मूछें हों और जो सिगार पीता हुआ चारो ओर घूमता हो और समाज के नियमों का उलंघन करता फिरता हो।

(५) यह जरूरी नहीं है कि एकाधिकार के अन्तर्गत जितने फर्म हों सभी सतत एकमत रहें। हो सकता है कि आपसी फूट के कारण उन्हें क्षीण शक्ति होकर समाज के शासन के समक्ष नतमस्तक होना पड़े।

(६) एक ही वस्तु के समकक्ष दूसरी वस्तुएँ भी रहती हैं। इन Substitutes की उपस्थिति से एकाधिकार दाम बढ़ाने से डरते हैं क्योंकि यदि किसी वस्तु का भाव बढ़ जाय तो उसके इच्छित भोक्ता उसके समकक्ष अन्य चीजों से जो कम दाम पर मिलती हैं, अपना काम चलालेंगे।

(७) सरकार भी (ऊपर लिख चुके हैं) चुप नहीं बैठी रहती। वह भी नए-नए कानूनों के द्वारा एकाधिकारों की शक्ति और बाढ़ को रोकना चाहती हैं।

(८) एकाधिकार के हाथ में पूर्त्ति का अधिकार रहता है, माँग को प्रभावित करने का नहीं। ऐसी हालत में यदि किसी वस्तु की माँग लोचवती है तो वह अपनी शक्ति को कम पावेगी।

इस प्रसंग को समाप्त करने के पहले एक बात की ओर इंगित कर देना अच्छा होगा। इधर एकाधिकारों को पहले-जैसा बुरा नहीं समझा जाता। इन्हें Rationalisation के आन्दोलन में अनिवार्य समझा गया है। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी ने सभी फर्मों को एकाधिकारों में परिणत कर दिया था। नए साधनों का उपयोग किया गया। सभी अधिकारों का केन्द्रीयकरण भी हुआ। फल भी सुन्दर ही हुआ। अमेरिका तथा जापान में भी इस आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। सन् १९२९ से आरम्भ होनेवाले व्यापारिक अधःपतन ने इसकी गति बढ़ा दी। हमारे देश में भी एकाधिकारों का (सीमा के अन्दर) कायम होना अच्छा समझा जा रहा है।

ऊपर विक्रेता फर्मों के एकाधिकारों का उल्लेख किया गया है। क्रेताओं के एकाधिकार जिन्हें "Monoposony" की संज्ञा प्रदान

की जाती है विरल हैं। बिखरे हुए क्रेताओं को संगठित करना बहुत ही कठिन है। क्रेताओं का संगठन बहुत ही थोड़े समय के लिये दाम को प्रभावित कर सकता है। यदि वह अधिक करे तो उद्योग-व्यवसाय ही बन्द कर दिये जायँ। जीवन की जरूरी चीजों के कारण भोक्तागण अपने एकाधिकार शायद ही निर्मित कर सकते हैं। उन्हें तो दूसरे प्रकार के संगठन का आश्रयण स्वीकार करना पड़ेगा।

नवम अध्याय

"छोटा उद्योग बनाम बड़ा उद्योग"

(Small Vs. Big Business)

प्रोफेसर मार्शल ने लिखा है कि किसी व्यवसाय या उद्योग का विस्तार सुविधाओं की सम्पूर्ण मात्रा पर निर्भर करता है। बचतों—सुविधाओं (Economies) को दो खंडों में विभक्त किया है—आभ्यन्तरिक या आन्तरिक (Internal) और बाह्य (External)। आन्तरिक सुविधाओं से तात्पर्य उन सुविधाओं से है जिनका सीधा संबंध किसी उद्योग के भीतरी मामलों से होता है। भीतरी प्रश्नों में मशीन द्वारा उत्पादन और संचालन अग्रगण्य हैं। यदि अच्छे ढंगों से उत्पादन किया जाय और कारबार की देख-रेख सुन्दर ढग से हो तब लाभ का परिमाण अधिक होगा। अगर इन बातों में ढिलाई होगी तो उससे मुनाफा कम हो सकता है। बाहरी प्रश्नों में उद्योग की चहारदीवारी से बाहर की बातें आती हैं। इनसे केवल एक उद्योग का संबंध नहीं बल्कि उद्योगों के एक समूह का संबंध है। ये उस समूह के द्वारा निर्धारित होतीं या गढ़ी जाती हैं और उस समूह के सभी उद्योगों को प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिये मशीनों का अत्यधिक उत्पादन होना, अच्छी और बढ़िया मशीनों का निर्माण होना जिनके उपयोग से अपेक्षाकृत कम खर्च पर चीजें अधिक मात्रा में तैयार हो सकें, यातायात एवं आवागमन के साधनों में समुचित सुधार और विकास होने से उनसे संबंधित व्यवसायों और उद्योगों का ज्यादा फायदा हो सकता है।

उद्योगों को अपना विस्तार करने में दो प्रबल आकर्षण होते हैं। पहला आकर्षण तो यह है कि वे अधिकाधिक लाभ कमाना चाहते हैं और यह उसी समय संभव है जब वे अधिकाधिक उत्पादन भी करें। दूसरा आकर्षण बाजार में अपना स्थान स्थापित करने का है।

यह उसी हालत में संभव है जब वे बाजार में अपने माल को अपेक्षाकृत कम दाम पर बहुत बड़े परिमाण में बेच सकें। बाजार के अत्यधिक अंश पर उनका आधिपत्य होना चाहिये। वे बाजार की माँग की ज्यादा पूर्ति करते हों। बाजारगत प्रतियोगिता उद्योगों के विस्तार की वृद्धि में बहुत सहायक होती है। जब उत्पादन की औसत लागत न्यूनतम होती है तब उत्पादक का मुनाफा अधिकतम होता है।

किसी भी उद्योग को अपने पैमाने के विस्तारीकरण में सफलता प्राप्त करने के लिये कुछ विशिष्ट अवस्थाओं की अपेक्षा है। प्रो॰ मार्शल और अन्य क्लासिकल अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने इसके ऊपर पूरा प्रकाश डाला है। सर्वप्रथम बात तो यह है कि आर्थिक प्रणाली में पूर्ण और स्वतंत्र प्रतियोगिता रहनी चाहिये। एक ही तरह की वस्तु तैयार करनेवाले उद्योग-धंधे आपस में स्पर्द्धा रखें और उनमें से प्रत्येक दूसरे से बढ़ने की लालसा और चेष्टा करे। द्वितीयतः प्रत्येक उद्योग का प्रवेश बाजार के एक बड़े भाग में हो। अदमस्मीथ ने बहुत पहले बतलाया था कि श्रम-विभाजन की सीमा बाजार की सीमा द्वारा परिमित होती है। किसी उद्योग-द्वारा अधिकृत बाजार जितना ही बड़ा होगा उतना ही अधिक वस्तु का उत्पादन होगा और उद्योग का डीलडौल उतना ही वृहत् होगा। तीसरी शर्त यह है कि उद्योग के प्रणेता (Captain) की कार्य-क्षमता अक्षुण्ण रहनी चाहिये। उद्योग का स्वामी उसकी आत्मा है। वह उद्योग का केन्द्र है। वह उस पर चतुर्दिक दृष्टि रखता है। उसकी इच्छाओं की नींव पर उद्योग का पट बुना जाता है। अगर वह आलसी और कमजोर साबित हुआ तो सारा उद्योग चौपट हो जायगा। उसकी शक्ति से समस्त कारोबार अजस्र प्रेरणा ग्रहण करता है। उद्योगों के लिये चौथी आवश्यक वस्तु उत्पादन-साधनों की पर्याप्त गत्यात्मकता भी है। कहा जाता है कि पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली में उत्पादन के साधनों की गत्यात्मकता प्रचुर होती है। बॉलडिङ्ग ने उत्पादन के साधनों के इस गुण (उनकी गतिशीलता) की काफी प्रशंसा की है और यहाँ तक लिख मारा है कि पूँजीवाद को

दृढ़ता और जिन्दगी इन साधनों की गतिशीलता पर ही निर्भर करती है। वे उन्हीं स्थानों या उद्योगों में योग-दान करना चाहते हैं जो उन्हें अधिकतम पारिश्रमिक देना चाहते हैं। अगर एक स्थान या उद्योग में मजदूरी कम मिल रही हो और दूसरे स्थान या उद्योग में मजदूरी की दर अधिक है तब मजदूर उस स्थान या उद्योग में चले जायेंगे। माँग के अनुरूप साधनों की पूर्ति में हेर-फेर होता है। यदि पूँजी की माँग अधिक हो रही है तो उसकी पूर्ति बढ़ाई जायगी लेकिन सूद की दर भी उसी मात्रा में बढ़ जायगी। पाँचवीं खास अवस्था किसी उत्पादन-साधन की इकाइयों की विभाज्यता है। उत्पादन-साधन की मदें ऐसी हों कि उनको आवश्यकतानुसार कम या अधिक मात्रा में खरीदा और प्रयुक्त किया जा सके। अगर उनकी मदें प्रतिस्थापन के योग्य न होंगी तो बड़ी दिक्कत होगी और किसी उद्योग का आकार बड़ा नहीं होने पायगा। छठी बात कि उद्योग के प्रणेता और उसमें काम करनेवाले साधनों को बाजार संबंधी सभी बातों का पूरा ज्ञान हो और वे आवश्यक बातों से अनभिज्ञ न हों। बाजार की ठोस और व्यापक जानकारी बहुत ही जरूरी अवस्था है। अन्तिम अवस्था यह है कि बाजार की समूची माँग में समय और मूल्य की दृष्टि से बड़े परिवर्तन सहसा न हों। अगर ऐसा होगा तब उद्योग के ऊपर बड़ा खराब प्रभाव पड़ेगा और वह तत्क्षण परिवर्तित अवस्था से नाता नहीं जोड़ सकेगा। इस तरह उद्योग की सामर्थ्य तथा बाजार की माँग में गहरा भेद उत्पन्न हो जायगा।

उपर्युक्त अवस्थाएँ ऐसी हैं कि उनमें सभी का या अधिकांश का भी व्यावहारिक जीवन में विद्यमान रहना सर्वदा संभव नहीं और न उन्हें उपलब्ध करना ही सुलभ है। इन सभी अवस्थाओं को वर्तमान कल्पना कर मार्शल और पीगू—जैसे क्लासिकल अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने उद्योग-धंधों का अध्ययन किया है। लेकिन उन लोगों के काल में जो वस्तु-स्थिति थी वह आधुनिक वस्तु-स्थिति की तुलना में काफी बदल चुकी है। सब से पहली बात तो यह है कि आधुनिक आर्थिक-

प्रणाली पूर्णतया पूँजीवादी रही भी नहीं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में जहाँ पूँजीवाद का सितारा अभी बुलन्द है वहाँ भी उन्नीसवीं सदी के पूँजीवाद की कल्पना करना स्वप्नवत् ही कहा जायगा। वहाँ की संघीय सरकार ने व्यक्तिगत मामलों में काफी हस्तक्षेप किया है और "न्यूडील" आदि यत्नों के द्वारा योजनाकरण का प्रबन्ध राष्ट्रपति रूजवेल्ट के समय में ही किया गया और उसको "फेयर डील" "टी० भी० ए०" "मार्शल ऐड", आदि साधनों द्वारा अभी भी स्वीकार किया जा चुका है। १९ वीं शताब्दी प्रतियोगिता का युग था, २० वीं शताब्दी एकाधिपत्यों का युग है। आये दिन बड़े-बड़े उद्योग या मूल्य-समूहों का सामना और अनुभव करना पड़ता है। पूर्ण और स्वाधीन प्रतियोगिता को १९वीं शदी का मरण-गान (Swan song) कहा जा सकता है। जब हंस अपनी अन्तिम साँसें तोड़ता है तब वह दीर्घ निःश्वास से भरा गान अलापता। उसी प्रकार १९वीं शदी के अस्त होते अर्थशास्त्रियों की चिरघोषित प्रतियोगिता ने विदा ली और २०वीं शदी के प्रभातकाल से ही एकाधिपत्यों की गुत्थम-गुत्थी ने पदार्पण किया। ऐसी दशा में छोटे-छोटे उद्योगों और व्यवसायों को विशालकाय प्रतिद्वंद्वियों का कठिन मुकाबला करना पड़ रहा है और उन्हें वे सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं जिनकी पहले लोग स्वाभाविक कल्पना कर रहे हैं। उनके जीवन का ताना-बाना सरल-सीधे धागों से पिरोया न होकर बड़ा टेढ़ा-मेढ़ा हो गया है। उन्हें बड़े-बड़े उद्योगों की दुलत्तियाँ सहनी पड़ती हैं और बड़ी विवशतापूर्ण जिन्दगी बसर करने के लिये बाध्य होना पड़ रहा है। पूर्ण और स्वतंत्र स्पर्द्धा की अनुपस्थिति से इनको अपनी महत्वाकांक्षापूर्ण चेष्टाओं में आहत होना पड़ता है। समय बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ है और छोटे पैमाने के उद्योग भी कोई दूसरा चारा नहीं देखकर धीरे-धीरे एकाधिपत्य का अधिकाधिक निर्माण करते जा रहे हैं। इस चीज का प्रभाव बाजार के विस्तार पर भी पड़ा है। छोटे उद्योगों के हाथों से उनका बाजार निकलता और बड़े उद्योगों के हाथों में फँसता जा रहा है। जब

बाजार की माँग जिसे पहले पूरा करना पड़ता था वही न्यून होती जा रही है तब उत्पादन की मात्रा को भी बरबस कम करना पड़ता है। इससे तो एक ओर छोटे पैमाने के उद्योगों का विस्तार घटता जा रहा है और दूसरी ओर बड़े पैमाने के उद्योगों का विस्तार बढ़ता जा रहा है। अंकगणित में दो और दो मिलकर चार होते हैं लेकिन अर्थशास्त्र में वे हरदम चार हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतएव इस तरह की घटनाओं से समाज का बड़ा नुकसान हो रहा है।

उद्योग के प्रणेता की भी शक्ति बराबर एक समान नहीं रहती। जैसे-जैसे उसकी उम्र बढ़ती जाती है। उसकी काम करने की स्फूर्ति भी कम होती जाती है। युवावस्था में उसकी कार्य-क्षमता अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है। लेकिन उसके पश्चात् उसका तिरोधान आरंभ होता है। उस दशा में उद्योग का भी आकार बढ़ने नहीं पाता और अगर अन्य सहयोगियों या अपनी योग्य सन्तानों का साहाय्य प्रणेता को प्राप्त नहीं हुआ तब निश्चय ही उसका विस्तार भी पहले से छोटा हो जायगा। हो सकता है जब उद्योग के संचालन का सूत्र प्रणेता की कुशल सन्तान या सन्तानों के हाथों में आ जाय तब वह पहले की अपेक्षा अधिक प्रगति कर सके। परन्तु सिद्धान्त की नजर से तो यह अवस्था नई कही जायगी क्योंकि पहले प्रणेता के स्थान में दूसरा प्रणेता या प्रणेता आ गये।

जहाँ तक उत्पादन के साधनों की गत्यात्मकता का प्रश्न है हम यह निश्चयतापूर्वक कह सकते हैं कि उनकी गत्यात्मकता एकदम पूर्ण नहीं। पहले भूमि को ही लीजिये। भूमि की पूर्त्ति निश्चित है। यदि उसकी माँग किसी ऐसी जगह बढ़ जाय जहाँ उसकी नितान्त कमी है तब दूसरी जगह से जहाँ भूमि की अधिकता है भूमि उसको पूरा करने के लिये नहीं आ सकती। भूमि को इसलिये अपरिवर्त्य (Invariable) साधन कहा गया है। उसी प्रकार सभी श्रम गतिशील नहीं होता। श्रम को अवस्था की दृष्टि से तीन खंडों में विभाजित किया जा सकता है—शिशु श्रम, युवक श्रम और वृद्ध श्रम। शिशु श्रम इतना दुर्बल

होता है कि वह एक परिवेष्टन को त्यागकर दूसरे परिवेष्टन में आसानी से नहीं जा सकता। युवक श्रम उत्साहपूर्ण होता है और वह घर-बार छोड़कर अधिक मजदूरी के लोभ में देश के किसी भाग में या विदेश में भी जा सकता है। लेकिन वृद्ध श्रम उमर ढलने के कारण और बाल-बच्चों की फिक्र से इतना क्षुब्ध रहता है, उसे अपने परिचित आवेष्टन का इतना जबरदस्त मोह होता है कि वह दूसरी जगह अधिक पारिश्रमिक मिलते रहने पर भी शीघ्र और बहुधा वहाँ जाने के लिये तैयार नहीं दिखाई पड़ता। लिंग की दृष्टि से श्रम को पुरुष और स्त्री श्रम में बाँटा जा सकता है। मजदूर जहाँ चाहें आ-जा सकते हैं। इन्हें लोक-लाज का उतना बंधन नहीं जितना मजदूरिनों को रहता है। इन्हें प्रवास में अकेली रहने में कितनी जोखिमों की आशंका रहती है। इसलिये वे ज्यादातर अपने आस-पास के उद्योग-धंधों में ही काम करती हैं। जहाँ पर्दा का रिवाज है वहाँ यह बंधन बहुत अधिक होता है। जहाँ स्त्री-शिक्षा का ज्यादा प्रसार-प्रचार है वहाँ इसका वेग कम होता है। इतना ही नहीं अब मजदूर-संघों का ज्यादा जोर है। मजदूरों को किसी न किसी मजरदू-संघ का सदस्य बनना पड़ता है। इससे वे बिना अपने संघ की पहले अनुमति प्राप्त किये अपना पेशा नहीं बदल सकते। फिर पेशाओं की प्रकृति ऐसी हो गई है कि मजदूरों को अपने-अपने पेशाओं में पूरी तरह विशिष्ट बन जाना पड़ता है और श्रम-विभाजन के फलस्वरूप वे अपने पेशा के एक अंग या कुछ अगों को जानते होते हैं जिससे उन्हें पेशा बदलने में बड़ी कठिनाई होती है तथा कुछ दशाओं में तो यह असंभव भी हो जाता है। पूँजी के विषय में कहा जाता है कि वह अन्य साधनों का पिछलगुआ (Camp-follower) है। यह अधिकांशतः ठीक हो सकता है लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पूँजी दूसरे साधनों को अपने समीप आकर्षित करती है। जिस जगह बैंकों की संख्या अधिक रहती है, अधिक मालदार लोग रहते हैं वहाँ उत्पादन के अन्य साधन सूद की कम दर से लाभ उठाने के लिये पहुँच जाते हैं। ऐसे

व्यक्ति जो रोजगार चलाना जानते हैं परन्तु पूँजी के अभाव से ग्रस्त रहते हैं वे ऐसी जगह में जाकर अपना काम खोला करते हैं।

उद्योग-धंधों में जो साधन सम्मिलित होते हैं वे सभी बाजार-गत बातों को जानते ही हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। बहुत-से उद्योगपति ऐसे होते हैं जो दुनिया की हलचल से एकदम अछूते रहते हैं और उन्हें यह मालूम नहीं रहता कि कहाँ क्या हो रहा है। इससे वे मूल्य की कमी-वेशी से फायदा नहीं उठा पाते और न अति आधुनिक यंत्र-तंत्रों की उपादेयता से ही अवगत हो सकते हैं। इस तरह की अनभिज्ञता से व्यवसाय में त्रुटि रह जाती है और उसका विस्तार उतना नहीं होने पाता जितना होना चाहिये। इसका एक कारण और भी है। बाजार की कुल माँग में व्यापार-चक्रों की उलट-फेर के कारण बहुत भारी परिवर्तन यदा-कदा होता रहता है। मन्दी आते ही बाजार में लोगों की माँग घट जाती है। चीजों का उत्पादन पहले जैसा नहीं होने पाता। तब चीजों की माँग भी बढ़ जाती है। जब महँगी का प्रवेश होता है, जाती है और उनका उत्पादन भी। ऐसा भी होता है, कि स्थान-स्थान के बीच माँग में परिवर्तन होता है। किसी जगह की माँग बढ़ जाती है तो दूसरी जगह की माँग घट जाती है। इससे भी उद्योगों के विशदीकरण में अड़चन पैदा होती है।

(नोट—इन पाँच परिच्छेदों को विशुद्ध सिद्धान्त की दृष्टि से भी स्मरण रखना चाहिये क्योंकि ये एकाधिकार के अतिरिक्त प्रतियोगिता-गत दामों के व्यवधानों की ओर संकेत करते हैं।)

जैसा कि पहले कह आये हैं किसी उद्योग का विस्तार आन्तरिक और वाह्य सुविधाओं द्वारा निर्धारित होता है। आन्तरिक सुविधाओं को पहले लीजिये। इन्हें महाशय रॉबिन्सन ने पाँच खंडों में विभक्त किया है। वे हैं—यंत्र-संबंधी (Technical) बातों से उत्पन्न सुविधाएँ, संचालन-संबंधी कारण (Managerial Factors), बाजार या वाणिज्य-विषयक कारण (Marketing or Commecial

factors), आर्थिक कारण (Financial factors) और प्रवर्त्तन-संबंधी बातें (Entrepreneurial factors) ।

यंत्र संबंधी बातें (Technical Factors) : जो उद्योग जितने ही अच्छे यंत्रों का व्यवहार करेगा उसका आकार उतना ही बड़ा होगा। उत्कृष्ट-टेकनिक का उद्योग या व्यवसाय में बहुत महत्व होता है। उससे बहुत से फायदे होते हैं। इससे लाभ उठाने के लिये अधिकांश उद्योग अपना विस्तार बढ़ाना चाहते हैं बिना विस्तार बढ़ाये अधिक उत्पादन करनेवाली मशीनों का इस्तेमाल हो ही नहीं सकता। छोटे-छोटे उद्योगों की इतनी पहुँच नहीं कि वे भारी-भारी मशीनों को खरीदकर प्रस्थापित कर सकें।

बड़े पैमाने के उद्योग में श्रम-विभाजन या विशिष्टीकरण (Specialisation) की बड़ी गुंजाइश है। उसमें अधिक विशिष्ट श्रम से काम लिया जाता है। इस प्रकार के प्रबन्ध से कम खर्च और कम समय में अधिक अच्छी और ज्यादा परिमाण में चीजें तैयार की जाती हैं। छोटे पैमाने के उद्योगों में यह संभव नहीं है। उत्पादन की क्रिया को कई उपयुक्त भागों और उपभागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक छोटा भाग अलग-अलग उपयुक्त यंत्रों द्वारा सम्पन्न होता है। इस तरह उत्पादन का काम बड़े सुन्दर ढंग से और अपेक्षाकृत कम समय में पूरा हो जाता है। बड़े उद्योग-धन्धों में प्रयोगशालायें स्थापित की जा सकती हैं क्योंकि उनके पास प्रचुर पूँजी रहती है। औद्योगिक अन्वेषण से कुछ ऐसे-ऐसे यंत्रों का निर्माण अचानक हो जाता है जिससे प्रति इकाई वस्तु की लागत न्यून हो जाती है। छोटे उद्योगों में इतनी पूँजी नहीं रहती कि वे वैज्ञानिक प्रयोगशालायें कायम कर सकें। अतएव इस तरह की व्यवस्था उसके लिये स्वप्नवत् है। इतना ही नहीं बड़े-बड़े उद्योगों में मजदूरों के लिये रहने और काम करने की दशायें बहुत दुरुस्त रहती हैं। उनके मनोविनोद, विश्राम, आदि का इन्तजाम रहता है। इससे उनको भारी काम करने और अधिक देर तक मिहनत करने में अधिक कठिनाई नहीं महसूस होती। आँकड़े

से पता लगाया गया है कि अमेरिका जर्मनी और इंगलैंड जैसे अति उन्नत देशों में इस तरह के साधन प्रस्तुत किये गये हैं। उनसे श्रमिकों की तबीयत जल्द उचटने नहीं पाती। छोटे उद्योगों में आमोद-प्रमोद के उपकरण उपस्थित करने में द्रव्याभाव के कारण बड़ा व्यवधान मालूम होता है। बड़े उद्योग आनुषंगिक उपजों (By-products) से भी लाभ उठाते हैं। लोहा और इस्पात के कारखानों में गलाये हुये रद्दी लोहे से भी ढलाई द्वारा कढ़ाइयाँ और साधारण पुर्जे तैयार किये जाते हैं। चीनी की बड़ी-बड़ी मिलों में फेंके हुये छोआ से शराब और तम्बाकू बनाने का प्रबन्ध रहता है। इस तरह के सहयोगी उद्योगों को अँग्रेजी में (Subsidiary) उद्योग कहते हैं। बड़े पैमाने के उद्योगों को वृहत् आकार ग्रहण करने पर जो सम्भवनीय सुभीते हैं वे भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिये मान लीजिये कुछ दवा बनाने के लिये एक हजार रुपये की कीमत की मशीन की जरूरत है। दुगुनी मात्रा दवा तैयार करने के लिये पहले से बड़ी मशीन की जरूरत स्वभावतः होगी परन्तु दुगुने साईज की मशीन का दाम दो हजार रुपये से कम ही होगा और ऐसा हम व्यावहारिक जीवन में देखते सुनते हैं। दो औंस की दवा के बोतल का दाम जितना देना पड़ता है उससे अनुपाततः चार औंस की दवा के बोतल के लिये कम दाम देना पड़ता है। यदि 'बस' की इन्जिन को कुछ बड़ा खरीदा जाय तब उसको 'बॅडी' के अन्दर दोहरी पटरी का भी इन्तजाम किया जा सकता है और दुगुनी संख्या के यात्रियों के आवगमन का सवाल भी हल किया जा सकता है। इससे 'बस' के मालिक को फायदा होगा। इसे अंग्रेजी में ("Benefit of Increased Dimensions") कहते हैं। इससे औसत उत्पादन खर्च घट जाता है।

बड़े उद्योगों में केवल उत्पादन-क्रियाओं या उपक्रियाओं का पृथक्करण ही नहीं होता बल्कि उनका समन्वय भी होता है। उत्पादन की क्रियाओं की शृंखला बँधी रहती है। एक छोटी उपक्रिया के बाद दूसरी छोटी उपक्रिया बिना विलम्ब आती है। इसे अँगरेजी में

"Linking of Processes"—उपक्रियाओं का समन्वय—कहते हैं। इससे समय और शक्ति की बचत होती है और लाभ की रकम बढ़ जाती है। उदाहरण के लिये किसी लोहा इस्पात के कारखाने को लीजिये। उसमें लोहा को गलाने के बाद उसकी गर्मी के खत्म होने के पहले ही उससे इस्पात के बिलेट बनाये जाते हैं और इन बिलेटों से रॉल बनते हैं। इस तरह उपक्रियाओं का ताँता बँधा रहता है। लोहा या इस्पात को हर बार गर्म नहीं करना पड़ता। अगर उपक्रियाएं एक दूसरे से पृथक रहतीं तब लोहे को दुबारे-तिबारे गरम करने में खर्च पड़ता। इस तरह के सिलसिले से दूसरा लाभ यह है कि यातायात के व्यय में बचत होती है। कच्चे माल की अवस्था से लेकर पक्के माल के मध्य की समस्त उपक्रियाएँ अन्तर्बद्ध रहने के प्रतिफल माल को अपरिपक्व हालत में दूसरी जगह परिपक्वता के लिये नहीं भेजना पड़ता। इस तरह आन्तरिक और बाह्य सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। छोटे उद्योगों में यह संभव नहीं है।

लेकिन बड़े उद्योगों के पक्ष की इन सुविधाओं का यह मतलब कतई नहीं कि छोटे उद्योगों को कोई यन्त्र-विषयक फायदा होता ही नहीं। बड़े फर्मों को छोटे फर्मों की सहायता और सहयोग लेना पड़ता है। कुछ उद्योग इतने बड़े हो जाते हैं कि उन्हें अपनी कुछ उपक्रियाओं का विकेन्द्रीयकरण करना पड़ता है। यहीं छोटे उद्योगों की बन आती है। मिसाल के लिये मान लीजिये घड़ी का कोई भारी फर्म है। उसे घड़ियों के चलन करने के लिये छोटे छोटे बक्सों की जरूरत होगी और बक्सों को बनाने के लिये एक छोटा-सा फर्म अलग खुल सकता है। बेतार के तार के उद्योग में सेटों के बनाने का एक फर्म हो सकता है और वल्वों के बनाने का फर्म दूसरा हो सकता है। वल्वों के बनाने वाले विशिष्ट फर्म होते हैं। उनसे सेट बनाने वाला फर्म किफायत दाम में ही जरूरी वल्वों को खरीद सकता है। यदि वह खुद उन्हें बनाने लगे तो अपेक्षाकृत ज्यादा खर्च बैठेगा। सूती कपड़ों के उद्योग में साधारणतया फिनीशिङ्ग का काम (जिसमें सफाई, रँगाई और

छपाई के काम आते हैं) कुछ खास निपुण फर्म जो कपड़ा के फर्म मालिकों या व्यापारियों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं करते हैं।

दूसरी बात यह है कि बड़े आकार द्वारा प्राप्त लाभ की भी हद होती है और उस हद के बाद लाभ की जगह नुकसान हो सकता है। ऊपर बस का जो दृष्टान्त दिया गया है उसमें दुगुने साईज की इंजिन खरीद लेने से तीन डेकों का इन्तजाम उसको बसों में नहीं हो सकता। उस दशा में बस इतना बोझिल और भाराक्रान्त हो जायगा कि उसका चलना मुश्किल हो जायगा और उसके उलटने की बड़ी आशंका रहेगी। तृतीयतः लोहा और इस्पात के कारखाने का जो उदाहरण पहले दिया जा चुका है उसमें उपक्रियाओं को एक साथ मिलाने से उसी समय तक लाभ हो सकता जिस समय तक उनके बीच संतुलन हो, लय हो। यदि ब्लास्ट फर्नेस, स्टील फर्नेस और रॉलिङ्ग मिल के बीच संतुलन नहीं तो इनको एक ही उद्योग में गुम्फित करने से जो फायदा होगा वह संतुलनाभाव से हुई क्षति से कम होगा। उपक्रियाओं में प्रत्येक उपक्रिया का एक चरम (आप्टिमम) होता है। सभी चरमों का जो लघुतम समापवर्तक होगा वहीं उद्योग की संतुलित अवस्था का निर्णायक होगा। उक्त कारखाने के संचालक भरसक इस लघुतम समापवर्तक को प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे लेकिन जैसा कि ऊपर कहा गया है यह कठिन काम है। छोटे उद्योगों में इसके विपरीत बहुत आसानी से संतुलन स्थापित हो जाता है।

यह कहना कि बड़े उद्योग हर हालत में टेकनिक-संबंधी सुधार करते हों गलत है। अब ऐसा बहुत देखा जा रहा है कि जब वे एकाधिपत्यात्मक स्थिति पर पहुँच जाते हैं तब उनका मोह वर्तमान मशीनों और साधनों से हो जाता है। उनका दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है। उन्हें डर रहता है कि नये अनुसन्धानों के कारण अबकी मशीनों को बदलना पड़ेगा। इसलिये वे अनुसन्धान करनेवाली संस्थाओं और प्रयोग-शालाओं पर भी नियंत्रण करने लगते हैं। इससे प्रगति में बाधा होती है। प्रो० पीगू ने बड़े उद्योगों के दकियानूसीपन-

(Vested Interests) की कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि वे नये अनुसन्धानों को रोकते हैं और इन्हीं के कारण वैज्ञानिक खोजों और अनुसंधानों की प्रगति में असंयतता पैदा हो जाती है। इन्हें भोक्ताओं की बचत का कोई ख्याल नहीं रहता। वे भोक्ताओं से अधिकाधिक दाम ऐंठने की कोशिश किया करते हैं। फलतः भोक्ताओं की शिकायतें उनके विरुद्ध बढ़ती जा रही हैं। इससे छोटे उत्पादकों की बन आती है। उन्हें असंतुष्ट भोक्ताओं का सहयोग मिल रहा है वे अपने ग्राहकों को खुश करने में कोई कोर-कसर नहीं रखते। वस्तुओं को कलापूर्ण और सुन्दर बनाने की ओर उनका ध्यान रहता है

संचालन संबंधी बातें (Managerial Factors):—कहा जाता है कि बड़े पैमाने के उद्योगों को संचालन संबंधी सुविधाएँ मिलती हैं। वे अच्छे और कुशल व्यक्तियों को संचालन करने के लिये नियुक्त कर सकते हैं। क्योंकि उनके पास इतना पैसा रहता है कि वे ज्यादा वेतन दे सकते हैं. लेकिन इसकी कुछ त्रुटियां हैं। सार्वजनिक कम्पनियों में ऐसे लोग संचालक बहाल किये जा सकते हैं जो उस काम के लिये उपयुक्त नहीं हो सकते हैं। सरकार दलबन्दियों द्वारा बनती है और प्रभावशाली दल अपने आदमियों को सार्वजनिक कम्पनियों में पदयुक्त करा लेते हैं भले ही उनमें अपेक्षित योग्यता न हो। ऐसा भी बहुत होता है कि सार्वजनिक सेवामंडल के सदस्य (Civil servants) सार्वजनिक फर्मों के मैनेजर या निरीक्षक बना दिये जाते हैं और इनमें से बहुत लोगों का व्यवसाय या वाणिज्य संबधी ज्ञान अधूरा रहता है। इससे भी काफी क्षति पहुँचाती है। छोटे उद्योगों में परिवारिकता का भाव अधिक रहता है। लेकिन उनकी कमजोरी यह है कि वे नये जोश के व्यक्तियों को अधिकतर अपने कारबार में शामिल नहीं कर सकते। दूसरी ओर बड़े-बड़े फर्म सुगमतापूर्वक ऐसा कर सकते हैं। कुछ वर्षों से छोटे उद्योग भी उत्साही व्यक्तियों को जिन्हें रोजगार की अच्छी जानकारी होती है अपनी साझेदारी में रखने लगे हैं।

प्रथम कोटि के व्यवसाइयों का अभाव भी है। इनसे उनका वेतन बहुत होता है। दूसरी ओर साधारण व्यवसायिओं की कोई कमी नहीं। वे अपनी सन्तानों और परिचित लोगों को व्यवसाय की शिक्षा भी देते हैं। इस प्रकार छोटे उद्योगों की शिक्षा-संबंधी मान्यता बड़ी है। वे अपने आवेष्टन के साथ जल्दी घुल-मिल जाते हैं। उनके मालिक सारी चीजों पर देख-रेख रखते हैं। क्या होना चाहिये, क्या नहीं होना चाहिये, सोचने-विचारने का कुल अधिकार उनका है। ऐसा कि मार्शल महोदय ने कहा है "छोटे मालिक की आँखें चारो ओर रहती हैं।" जूनो मयूर की तरह वह हजार नेत्रों से विभूषित रहता है। बड़े उद्यगपतियों का सीधा सम्पर्क नए-नए बहाल किये गये लोगों से नहीं रहता। साधारण कर्मचारियों को नियुक्त करने का काम मैनेजरों को दे दिया जाता है। मैनेजर प्रलोभनों में आकर निकम्मे लोगों को भी बहाल कर सकते हैं। लेकिन उद्योगपति स्वयं ऐसी गलती नहीं करता। इसी बात की ओर लक्ष्य करके रॉबर्टसन महोदय ने कहा है कि बड़े उद्योग वृक्षों की चोटी पर नजर रखते हैं लेकिन उनको जड़ की खबर उन्हें नहीं रह जाती और वे जड़ से ठेस लगने के कारण गिर भी पड़ सकते हैं। फिर भी जो दूसरे मामलों में ढेर कमाता हो उसे छोटे नुकसान से क्या बिगड़ने का! बड़े उद्योगों में केवल दैहिक श्रम का ही विभाजन नहीं होता बल्कि मानसिक श्रम का भी सुन्दर विभाजन होता है। उसी उद्योग का विस्तार बड़ा होता है जो संचालन के कार्य में अधिक सफल होता है। "आधुनिक काल के व्यवसाय का विस्तार फर्म (जिससे उत्पादन और संचालन दोनों का तात्पर्य निकलता है) की अधिक उपज है, प्लान्ट (जिससे केवल उत्पादन करने की कुशलता का अभिप्राय है) की कम।" थोड़े उद्योग-प्रणेता एक ही केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के सहारे बहुत से कारखानों को खूबी के साथ चला सकते हैं। यदि किसी बड़े उद्योग पर दृष्टिपात किया जाय तो मालूम होगा कि उसमें शासन की सुन्दर व्यवस्था रहती है। नीचे से लेकर ऊपर तक लोग शासन के एक-एक

अंग को पूरा करने में संलग्न रहते हैं। एक फोरमैन रहता है जिसका काम वर्कशॉप की देख-भाल करना है। मजदूरों से काम कराने के लिये अलग एक आदमी रहता है। वह बोस का काम पूरा करता है। जो मजदूर अपने काम से जी चुराता है उसपर उसकी डाँट पड़ती है। अगर कोई मजदूर मन मारे काम करता है तो वह उसको मीठी-मीठी बातों से खुश करता। इस तरह श्रम मधुर बनाया जाता है। मशीनों की सुरक्षा के लिये इंजीनियर रहते हैं। हिसाब-किताब रखने के लिये किरानी रहते हैं। किरानियों के ऊपर मैनेजर और मैनेजर के ऊपर उद्योग का मालिक या साझेदार या संचालक (Directors) होते हैं। मैनेजर उद्योग की भीतरी बातों का प्रबन्ध करते। उनको दैनिक देख-भाल रहती है। मालिक या संचालक उद्योग के बाहरी मामलों का नियंत्रण करते। पूँजी बढ़ाने-घटाने, बैंक के साथ नाता जोड़ने, आदि में उनकी ही बात चलती है। इसके प्रतिकूल छोटे उद्योग के स्वामी को सभी काम स्वयं करने पड़ते हैं। उसे भीतरी और बाहरी मामलों का प्रबन्ध करना पड़ता है। उसे बहुत खटना पड़ता है। यह बहुत संभव है कि वह कुछ कामों को भलीभाँति निबाह सके और कुछ कामों को पूरा करने की योग्यता उसमें न हो। इससे नुकसान हो सकता है। छोटा उत्पादक उस छोटे पक्षी की तरह है जिसके पंखों में मोम चिपका दिया गया हो और वह फुदुक-फुदुककर रह जाता हो लेकिन उड़ नहीं सके। बड़ा उत्पादक उस बड़े पक्षी की तरह है जो स्वाधीनतापूर्वक अपने बड़े-बड़े डैनों को पसार कर नील-निलय में मौज से विचरण करता है। वह बड़े-बड़े मंसूबे बाँध सकता है और क्षितिज के उस पार की लुभावनी वस्तुओं को भी प्राप्त करने की लालसा रख सकता है।

बड़े उद्योगों की इकाइयों के संतुलन का प्रश्न बड़ा जटिल है। उनमें लाल फीतेबाजी का जोर रहता है। उनके सारे काम रूटीन से बंधे रहते हैं। उनमें लोच की कमी रहती है। जरूरत पड़ने पर भी उनमें शीघ्र कोई परिवर्तन करना सरल नहीं होता। कभी-कभी

तो संशोधन करने से सम्पूर्ण ढाँचा ही आन्दोलित हो उठता है। छोटे उद्योगों में ऐसी बात नहीं रहती। उनमें हेर-फेर करना आसान होता है। छोटे मालिक को बहुत लोगों से सलाह नहीं लेनी रहती है। इससे काम जल्दी-जल्दी होता है।

बाजार और वाणिज्य संबंधी बातें

(Marketing and Commercial Factors)

बाजार और वाणिज्य-संबंधी बातों का मतलब होशियारी के साथ खरीद-बिक्री करने से है। यह आँखों देखी चीज है कि बाजार में जो व्यक्ति अधिक परिमाण में थोक माल खरीदता है उसे अनुपाततः कम दाम देना पड़ता है। उसी तरह तैयार माल बेचने वाला अगर थोक बिक्री करे तब उसे बेचने का खर्च कम पड़ता है। खुदरा क्रय-विक्रय में दोनों पक्षों को टोटा होता है। थोक क्रय-विक्रय को अँगरेजी में Bulk Transaction कहा गया है। इसीके कारण बड़े पैमाने के उद्योगों को ज्यादा लाभ होता है और छोटे उद्योग भी अपना विशदीकरण करना चाहते हैं। एकाधिपत्य के द्वारा बड़े फर्मों को अपेक्षाकृत कम दर पर कच्चे माल मिल जाते हैं और वे अधिक दर पर तैयार माल बेच लेते हैं। लेकिन जहाँ कच्चे मालों का एकाधिपत्य होता है जिसे (Monopsony) कहते हैं वहाँ छोटे फर्मों को भी उससे बँधे दाम पर कच्चे माल मिल जाते हैं। उस हालत में बड़े फर्म और छोटे फर्म के क्रय में कोई अन्तर नहीं पड़ने पाता। लेकिन विज्ञापन, प्रचार-कार्य, विक्रय-कार्य में बड़े फर्मों को ज्यादा सुभीता होता है। उन्हें इस संबंध में जो खर्च करना पड़ता है वह औसत में वस्तु की प्रति इकाई कम बैठता है। एक एजेन्ट की जगह दो एजेन्ट दुगुनी मात्रा से अधिक वस्तुओं की बिक्री करते देखे जाते हैं। बड़े उद्योगों के पास इतना पैसा होता है कि वे चुंगी और कर लगाने वाले पदाधिकारियों को भी घूस-घास देकर उचित चुंगी और कर देने से बच सकते हैं। वे धारा-सभा के सदस्यों को भी

प्रलोभन देकर अपने पक्ष में प्रस्ताव पास करा सकते हैं। अमेरिका-जैसे अति व्यवसायी देशों में ऐसी बात अनहोनी घटना नहीं। उनके बड़े-बड़े संगठन होते हैं जैसे "चैम्बर ऑफ कॉमर्स"। वे अपनी ओर से पत्रिकाएँ और अखबार निकलवाते। उनमें अपने दृष्टिकोणों का उल्लेख होता है। इस तरह वे जनमत को भी गुमराह करते। कुछ बड़े फर्म मिलकर गुट बना लेते हैं। ऐसे गुट को "Oligopoly" कहा जाता है। इसके आधार पर वे वस्तुओं के मूल्य के निर्धारक या नेता बन जाते हैं। दूसरे फर्मों को लाचार होकर उनके द्वारा निर्धारित मूल्य को स्वीकार करना पड़ता है। सरकार के ऊपर भी बड़े व्यवसायों की धाक रहती है और पूँजीवादी देशों में तो वे ही सर्वेसर्वा होते हैं।

फिर भी छोटे उद्योगों को भी बाजार और वाणिज्य विषयक कुछ सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। उन्हें अधिक क्रय-विक्रय का नफा उतना भले ही न प्राप्त हो परन्तु उन्हें खरीद-बिक्री में अधिक नुकसान होने की आशंका भी कम रहती है। दाम के अधिक या कम ही घटने बढ़ने से बड़े उद्योग को बहुत ज्यादा नुकसान हो सकता है। छोटे उद्योग को कम खरीदना और बेचना रहता है। उसे भी अपनी वस्तुओं के प्रचार की सुविधा रहती है। वे भी पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन दे सकते और अपने एजेन्टों द्वारा अपनी वस्तुओं का प्रचार करा लेते हैं। फिर यह कहना कि बड़े फर्म एक गुट बनाकर बाजार पर कब्जा करते हैं यह चरम सत्य नहीं है क्योंकि उनका यह गुट स्थायी नहीं होता और ज्यों ही उनके बीच का बड़ा फर्म अपनी प्रभुता काफी बढ़ा लेता है त्यों ही वह अपने कम शक्तिशाली सहयोगियों से पृथक बन जाने में ही अपना कल्याण देखता है। फर्मों की गुटबन्दी संघात्मक सरकार की तरह न होकर अस्थायी संघात्मक (कनफेडरेशन) सरकार की तरह होती है।

छोटा फर्म का अपना निश्चित क्षेत्र होता है। वह उस क्षेत्र के भोक्ताओं की इच्छाओं की पूर्ति करता है। उनमें वह अपनी वस्तुओं

के लिये एक आकर्षण—क्रेज-पैदा कर देता है। अपनी छोटी दुनिया में उसे गलाघोंटो प्रतियोगिता का भय नहीं रहता। बड़े फर्म को जब देश-भर में अपने माल को खपाना रहता है तो विज्ञापन का अधिक व्यय उठाना पड़ता है और वह व्यय कभी-कभी व्यवसाय की प्रगति में निरोधक बन जाता है। कहा जाता है कि बड़े फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का जो दाम होता है उसमें ४० प्रतिशत खर्च विज्ञापन की वजह बैठता है। रॉबर्टसन ने छोटे फर्मों के पक्ष में लिखते समय बतलाया है कि जबतक भोक्ताओं में किसी चीज की भिन्न-भिन्न रूप-रंग की अददों के लिये स्वाभाविक इच्छा है, जबतक उनकी अभिरुचियों और मनोवृत्तियों में अन्तर है तबतक छोटे फर्मों को फूलने-फलने से कोई भी नहीं रोक सकता।

बड़े फर्मों को अपने उत्पादित सामानों के यातायात में बड़ा खर्च करना पड़ता है। छोटे फर्मों का सीधा सम्पर्क अपने क्रेताओं और विक्रेताओं से रहता है, वे ट्रकों और बसों पर अपने माल आस-पास में भेज सकते हैं। बड़े फर्मों को रेल के डिब्बों का मुँहताज बनना पड़ता है। जब देश में यातायात और आवागमन के साधनों में या आपत्तिकाल में दिक्कत खड़ी हो जाती है तब उनका काम बहुत शिथिल हो जाता है।

इतना ही नहीं, बड़े फर्मों की एक नीति होती है कि छोटे फर्मों को मिलाकर रखा जाय, उन्हें अपना पुछल्ला बना लिया जाय और तब सरकार से खास सुविधाएँ प्राप्त कर उनका सर्वांश (Lion's Share) खुद हड़प लिया जाय। इससे एक और लाभ होता है। वह यह है कि सरकार को चकमा दिया जाता है कि उसका यह कहना गलत है कि समाज में पूर्ण एवं स्वतंत्र प्रतियोगिता की जगह एकाधिपत्य-संबंधी प्रतियोगिता बढ़ रही है जिसके सामने छोटे फर्मों का टिकना मुश्किल हो रहा है। यदि यह बात होती तो छोटे फर्म बड़े फर्मों के के साथ आवेदन-पत्र नहीं देते।

आर्थिक बातें (Finanlcial Factors) :

बड़े उद्योगों को यह आसानी है कि वे अधिक मात्रा में रुपया-पैसा उधार ले सकते हैं। बाजार में उनकी साख अच्छी होती है और वे महाजनों पर अपने पक्ष में सुन्दर प्रभाव छोड़ते हैं। इससे उन्हें कम सूद देना पड़ता है। विस्तार की मात्रा साधारणतया सुरक्षा और संगठन की सूचक होती है। इस तरह उधार लेने का खर्च बड़े फर्मों का साथ देता है। छोटे उद्योगों की प्रतिष्ठा बाजार में कम होती है जिससे उन्हें अधिक सूद पर मुश्किल से कर्ज मिलता है।

बड़े उद्योगों को सरकार से आर्थिक सहायता बड़ी आसानी से मिल जाया करती है। सरकार को उनका डर भी रहता है। उनमें बहुत लोगों को जीविका मिलती है और अगर उनका काम बन्द हो जाय तो उनके रोटी का सवाल खड़ा हो जाय। आज की उत्तरदायी सरकार लोगों को बिना रोटी के कुत्तों की मौत तो मरने देगी नहीं। इसलिये उसे बड़े उद्योगों के आग्रह को मानना पड़ता है। वे उसके पास पहुँचते और उससे खासी मोटी रकम उधार देने के लिये विवश करते हैं। सरकारी बैंकों से उन्हें सुगमतापूर्वक उधार मिल जाता है। छोटे उद्योगों के प्रति तो सरकार का व्यवहार सौतेली माँ की तरह होता है। वे बिचारे अभाव में मर मिटते हैं। उनकी हालत दुर्दिन में पड़े गली के भिखारी की तरह है। बड़ा उद्योग नामधारी परन्तु कर्ज भार से दबे वकील की तरह है। भिखारी पैसे का मुहताज है, वकील को कर्ज मिलने में कोई कठिनाई नहीं।

इन दिनों बड़े-बड़े उद्योग बहुमुखी (Versatile) होने लगे हैं। वे केवल एक ही चीज का उत्पादन नहीं करते, बल्कि दो या तीन चीजों को बनाते हैं। इससे यह होता है कि अगर एक चीज की कीमत घटने भी लगे और इससे घाटा भी होने लगे तब अन्य चीजों के उत्पादन को बढ़ाकर उनसे ज्यादा मुनाफा उपलब्ध किया जा सकता है। एक छोटा उदाहरण लीजिये। मान लीजिये नकली मक्खन (Margarine) का कोई बड़ा उद्योग है। उसमें साबुन बनाने

का भी काम होगा। अगर बुरे दिन आ जायँ या कोई अहितकर परिवर्तन हो जाय जिससे नकली मक्खन के कारबार में टूटी पड़ने लगे तब साबुन के काम को बढ़ाकर उससे काफी लाभ उठाया जा सकता है। इसमें उद्योग को टोटा नहीं हो पायेगा। इस तरह बड़े उद्योगों में उनका एक भाग दूसरे भाग की कमी को पूरा करता है।

लेकिन बड़े उद्योगों में जहाँ लाखों-करोड़ों का कारबार होता है वहाँ घटी होने की जो आशंका रहती है वह भी बहुत बड़ी होती है। थोड़ी-सी असावधानी से बहुत का अन्तर पड़ सकता है। इससे उनके गले में फाँसी लग सकती है। कारबार का समूचा प्रासाद चकनाचूर हो जा सकता है। छोटे उद्योगों में ऐसी आशंका कम रहती है। अगर काम खराब भी हो गया तब भी कोई विशेष क्षति न हुई। वे सीधे तौर से अपनी देह छुड़ा सकते हैं। द्वितीयतः पूँजी की बढ़ती मन्दगति से होती है। मशीनों को बनाने में समय लगता है। बड़े फर्मों को उनकी प्रतीक्षा रहती है। तीसरी बात जिससे छोटे फर्मों का फायदा है वह यह है कि उन्हें सस्ते दाम पर मजदूर मिल जाते हैं। उनमें अधिक शिक्षित एवं कुशल मजदूरों की जरूरत नहीं है। अनपढ़ और सामान्य शिक्षित-दीक्षित मजदूरों से ही उनका काम चल जाता है और इन्हें अपेक्षाकृत कम मजदूरी देनी पड़ती है। अन्ततः छोटे उद्योगों पर फैक्टरी ऐक्टों-कारखाना के विधान—का प्रतिबन्ध रहता नहीं। उनमें कम लोग काम करते हैं। बड़े उद्योगों को इन ऐक्टों का पालन करना पड़ता है। इससे अधिक खर्च पड़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन सब बातों से छोटे उद्योगों को आर्थिक फायदा है। भारतवर्ष के १९वीं शताब्दी वाले औद्योगिक इतिहास को लिया जा सकता है। जब शुरू-शुरू में कपड़े की मिलों पर फैक्टरी ऐक्ट लगाये गये थे तब यहाँ के प्रान्तों से कुछ कपड़ा-मिलों के मालिकों ने हटकर देशीराज्यों में अपनी मिलें खोली थीं। उनका इरादा फैक्टरी ऐक्ट से बचना था क्योंकि देशी

राज्य उसकी परिधि के बाहर थे। लेकिन आये दिन फैक्टरी ऐक्ट का संबंध छोटे फर्मों से उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

मिश्रित बातें (Miscellaneous Factors):

छोटे फर्मों के कायम रहने में उनके स्वामियों के दिमाग का विचित्र हाल भी एक कारण है। उसके कारण वे बड़े फर्मों की गला-घोंटो प्रतियोगिता का ख्याल न कर अपने मार्ग पर अड़े रहते हैं। यह उनका "जुआ का उत्साह" (Gambling Spirit) है। वे आशा पर पाँसा फेंकते हैं। इसके अलावे उनको आत्मीय संतोष होता है कि वे खुद अपना व्यवसाय चला रहे हैं और वे किसी के गुलाम नहीं हैं। इससे वे गर्व-दर्प का अनुभव करते हैं।

माँग में जो आकस्मिक हेर-फेर होते हैं उनसे छोटे फर्मों की बन आती है, बड़े फर्म चौपट हो जाते हैं। माँग में होनेवाले परिवर्तन चार प्रकार के होते हैं-(१) स्थायी-इस कोटि के परिवर्तन से तो छोटे और बड़े दोनों तरह के फर्मों को नुकसान पहुँचता है, लेकिन बड़े फर्म को इससे बहुत बड़ा आर्थिक धक्का पहुँचता है। (२) व्यापार-चक्र संबंधी—इस तरह के परिवर्तन से बड़े फर्म के ऊपर बहुत ज्यादा असर पड़ता है। जब मन्दी का चक्र शुरू होता है तब बड़े फर्म की हालत बड़ी शोचनीय हो जा सकती है। छोटे फर्म तो किसी तरह अपना दिन काट लेते हैं। (३) मौसिमी परिवर्तन—इन परिवर्तनों से छोटे फर्मों को बड़े फर्मों की तुलना में कम क्षति होती है। मान लीजिये, कोई छोटा फर्म बरसात के लिये छातों का उत्पादन करता है। अगर छातों की माँग घट जाय तो वह जाड़े में कम्बलों की बुनाई कर सकता है। लेकिन बड़े फर्म जबतक बहुवस्तु-उत्पादन नहीं करने लगते तबतक उनका कोई बचाव नहीं। (४) बाह्य कारणों से माँग में परिवर्तन—फैशन आदि में समूल परिवर्तन हो जाने से बड़े उद्योगों को सबसे अधिक आर्थिक कष्ट होता है लेकिन छोटे फर्म जल्दी से परिस्थिति के साथ घुल-मिल जाते हैं।

अभीतक जिन बातों का उल्लेख हुआ है वे आन्तरिक सुवि-

धाओं के अन्तर्गत आती हैं। लेकिन जैसा कि ऊपर कह आये हैं किसी उद्योग के विस्तार के निर्धारण में वाह्य सुविधाओं का भी सहयोग रहता है। नीचे उनका संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

सबसे पहले उद्योगों के स्थानीयकरण के प्रश्न को लीजिये। जिस स्थान में किसी उद्योग का स्थानीयकरण होता है। वहाँ उद्योग का भी विस्तार बड़ा होगा और उद्योग के प्रत्येक फर्म का भी। परन्तु स्थानीयकरण से छोटे फर्मों के लिये दरवाजा एकदम बन्द नहीं हो जाता। बड़े फर्मों को उनकी सहायता लेनी पड़ती है। इसलिये सहकारी उद्योग भी समीप में खुल जाता है। सभी तरह के मानवीय श्रम को रोजी देने के लिये भी सम्पूरक उद्योगों की जरूरत पड़ती है। इस तरह छोटे फर्म भी जिन्दा रह पाते हैं। दूसरी बात यह है कि समाज में बेकारी का मर्ज बहुत पुराना और अधिक परिमाण का है। बेकारी का एक समाधान छोटे पैमाने का उद्योग भी है। छोटे फर्मों को खोलकर उनके मालिक स्वयं कुछ काम करते हैं और दूसरों को भी रोजी देकर उपकृत करते हैं। तीसरी बात—छोटे फर्मों की जरूरत भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिये बहुत अधिक है। यहाँ के खेतिहरों का बहुत समय खेती-बारी के बाद बच जाता है। उस समय के सदुपयोग के लिये गृह-उद्योगों का अस्तित्व आवश्यक कहा जायगा। फिर सरकार की नीति भी बदल रही है। सरकार बड़े उद्योगों और छोटे उद्योगों के बीच में सामंजस्य स्थापित करना चाहती है। खासकर भारतीय सरकार ने १९४८ में जो घोषणा की थी उसमें छोटे उद्योगों को एक खंड में रखा गया था और सरकार ने उन्हें भी आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया था। अपने निश्चय को सरकार ने कुछ अंशों में कार्यान्वित भी किया है। युद्ध के डर से भी बहुत से उद्योग छोटे पैमाने पर ही चलाये जाते हैं। एटम बम के जमाने में एक बम बड़े-बड़े उद्योगों का काम तमाम कर सकता है। बड़े उद्योगों पर शत्रु का धावा सबसे अधिक होता है। छोटे उद्योग

इधर-उधर फैले रहते हैं और दुश्मन उनपर कम आक्रमण करते हैं। आवागमन और यातायात की सुविधाओं के उदय और विकास होने से जिस तरह बड़े उद्योगों को फायदा पहुँचता है उसी तरह छोटे उद्योगों को भी। उद्योगों के इतिहास के ऊपर दृष्टिपात करने से मालूम होता है कि एक उद्योग ने दूसरे उद्योग को जन्म दिया है। लंकाशायर के सूती कपड़े के उद्योग को सूत कातने के उद्योग से प्रेरणा मिली थी। लोहा और इस्पात के उद्योग से सीमेंट बनानेवाले फर्मों को प्रोत्साहन मिला है। टीन, प्लेट और शीशे के उद्योग में जहाँ से एसेम्बली-लाईन संभव हो जाता है वहाँ से मोटरगाड़ियों के उद्योग को बल मिलता है। मुरब्बा और शीशे के बर्तनों के उद्योग साथ-साथ चलते हैं। टोपों और छोटी टोकरियों के उद्योग भी सम्पूरक होते हैं।

कृषि भी एक प्रधान उद्योग है लेकिन उसके फार्मों का विस्तार बहुत बड़ा नहीं होता। इस उद्योग में बृहत् उत्पादन की लहर धीरे-धीरे आगे बढ़ती है। उष्णदेशों में होनेवाले अनाजों (जैसे, चाय और तम्बाकू) का उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है। परन्तु, दूध, फल और तरकारियों का उत्पादन छोटे पैमाने पर होता है। क्योंकि ये बहुत जल्द खराब हो जाते हैं। श्रम-विभाजन की टेकनिक संबंधी सुविधाएँ कृषि में कम मिलती हैं। केवल हल जोतनेवाला या केवल फसल ही काटने वाला आदमी फार्म के लिये उतना उपयुक्त नहीं हो सकता। फार्म में तो ऐसे आदमी की जरूरत है जो खेती-बारी की अधिक क्रियाओं से अवगत हो, जो हल भी चला सके, निकौनी भी कर सके, फसल भी काट सके। अतएव कृषि के मामले में शासन संबंधी जितनी कठिनाई नहीं उतनी टेकनिक संबंधी कठिनाई है। इतना ही नहीं, खेत के टुकड़े होते हैं। और प्रत्येक टुकड़े की मिट्टी अपने ढंग की निराली होती है। हर मिट्टी में एक ही चीज नहीं उपजाई जा सकती। इस तरह की प्रकृति को अँगरेजी में „Touchy" कहते हैं। कृषि में ऐसे-ऐसे मसले मिल सकते हैं जो

बहुत दूर तक फैले हो सकते हैं और उनमें फसल बोने के बाद उनकी देखरेख करना अत्यन्त दुरूह हो जा सकता है।

ऊपर के वक्तव्य से यह विदित है कि छोटे उद्योगों और बड़े उद्योगों में जो संघर्ष चलता है उसमें कहीं छोटे उद्योग बाजी मार लेते हैं और कहीं बड़े उद्योग। यह ठीक है कि "आज की दुनिया में तेज दौड़ने वाला ही दौड़ में बाजी मारता है और जो मजबूत होता है वही लड़ाई में विजयी होता है।" फिर भी छोटे उद्योगों को भी खाने-जीने के लिये काफी गुंजाइश है। इंगलैंड या भारत किसी भी देश में बड़े उद्योगों के साथ छोटे उद्योग भी चल रहे हैं। हाँ, यह जरूर है कि एक देश में बड़े उद्योगों की संख्या अधिक है तो दूसरे देश में छोटे उद्योगों की।

उद्योगों की इस तिलस्मी दुनिया के बारे में जो कुछ कहा जाय थोड़ा होगा। छोटे उद्योग थोड़ी भूल-चूक करें तो वह थोड़ी दिक्कत से दुरुस्त हो सकता। मगर बड़े उद्योग अनजान में एक हल्की-सी गलती कर बैठें तो उनपर काफी बीते—उनकी तबाही हो जाय। देह बचाते-बचाते हजारों रुपये स्वाहा हो जायँ। इसीको ध्यान में रखकर रॉबिन्सन ने लिखा है—A mistake made by platoon commander demands only an instentaneous "As you were!" A mistake made by an army commander may require days of labour to set right. फिर, हर फर्म की यही आकांक्षा रहती है कि वह विकास करे। लेकिन विकास होने से ही निपुणता बढ़ती नहीं जाती। सफलता की निशानी हरदम विकास की गति ही नहीं होती। रॉबिन्सन के शब्दों में ही इस विषय पर सुनिये—यदि एक बछड़ा और हाथी का एक बच्चा एक ही साथ पैदा हों तो एक साल के बाद या उसके लगभग बहुत बढ़ने वाला बछड़ा अभी तक छोटे हाथी के बच्चे से काफी बड़ा होगा लेकिन बछड़ा तो बढ़ना करीब-करीब खतम कर चुका है। नतीजा होगा कि हाथी का बचा बड़ी जल्दी से बछड़े की बड़ाई का हो जायगा। उसी तरह अगर

खूब बढ़ते जाने से किसी फर्म की निपुणता को आघात पहुँचता है तो अन्त में इसका कुफल यह होगा कि दूसरे फर्म उसको मात कर जायेंगे। सबसे अनोखी बात तो यह है कि व्यापारिक ह्रास के समय बड़े फर्म ही कभी-कभी नष्ट हो जाते हैं, छोटे फर्म देह झाड़ कर निकल जाते हैं। हमारे देश में जब अकाल पड़ता है तब चारा की कमी की वजह से मवेशी मरने लगते हैं। सबसे पहले मरने वालों में वे दुधार गायें होती हैं जो अपने बच्चों के साथ स्वर्ग सिधारती हैं। बच जाती हैं बाँझ गाएँ जो बिल्कुल कम दूध देती हैं। लेकिन ये बचनेवाली गायें दूध के हिसाब से गई-गुजरी हैं। जीवन-संग्राम में सबसे मजबूत ही बच नहीं निकलता। वही बात व्यापार के उल्टे चक्र में पड़े फर्मों की है। "It implies only that those survive who do survive, because they survive we suppose them to have been the fittest to survive." औद्योगिक संकट जहाज-संकट की भाँति है। जो पहले कूदते हैं वे ही life-boat में रहते हैं। उसी तरह जो फर्म सबसे पहले प्रभावित होते हैं वे ही सबसे-पहले बैंकों से आर्थिक सहायता प्राप्त करते हैं। बस,

---

दशम अध्याय

"प्रतिनिधि फर्म बनाम आदर्श फर्म"

(The Representative *vs.* The Optimum Firm)

प्रोफेसर मार्शल कहते हैं कि किसी व्यावसाय का आकार-प्रकार वृहत् पैमाने के उत्पादन के फायदों के ऊपर निर्भर करता है। वे ही साईज के प्रमुख निर्णायक हैं। मार्शल ने इन्हें दो भागों में बाँटा है— भीतरी सुविधाएं और बाहरी सुविधाएँ। भीतरी सुविधाओं का संबन्ध किसी प्रमुख फर्म के विस्तार से है तथा वे केवल उसी फर्म पर अवलम्बित रहती हैं। बाहरी सुभीते कुछ फर्मों के एक दल के साईज पर निर्भर रहते हैं और समूचे उद्योग को प्रभावित करते हैं। भीतरी सुविधाओं का असर सीधे रूप से पड़ता है। बाहरी सुविधाओं का असर घुमा-फिराकर पड़ता है। प्रथम कोटि की सुविधाएँ किसी एक फर्म के संगठन से उत्पन्न होती हैं। कुछ फर्मों के विकास के साथ दूसरी कोटि की सुविधाओं का उद्भव होता है।

वृहत् पैमाने की सुविधाओं के बारे में प्रो० मार्शल की धारणा है कि वे उद्योग की साधारण बात नहीं और उनके निवास-स्थान का पता लगाना सरल नहीं। अधिक मात्रा में उत्पादन करने पर बहुत से लाभ होते हैं, परन्तु इसका यह मानी नहीं है कि ऐसे पैमाने पर उत्पादन जब हम करते रहें जिसकी कोई सीमा नहीं, तब उस हालत में भी असीम लाभ हो, यह कोई जरूरी नहीं। जब किसी उद्योग का विस्तार एक विशिष्ट सीमा के बाद बढ़ाया जाता है तब उससे उल्टे नुकसान होने लगता है। उद्योगों को मार्शल ने दो भागों में विभक्त किया है। एक वर्ग के उद्योग वे हैं जिनका संबंध भूमि के नीचे से धातुओं और खनिज पदार्थों के निकालने से हैं। इन्हें अँगरेजी में "Extractive" उद्योग कहते

हैं। मार्शल का कथन है कि इनमें वृहत् पैमाने की सुविधाओं की संख्या अत्यन्त कम होती है। दूसरे वर्ग के उद्योग वे हैं जिनमें व्यावसायिक वस्तुओं का उत्पादन होता है। इन्हें अँगरेजी में "Manufacturing" उद्योग कहते हैं। मार्शल का कथन है कि ऐसे उद्योगों में ऐसी सुविधाओं की प्रचुरता होती है।

यह मार्शल की धारणा थी, लेकिन इधर की खोज-पड़ताल से ज्ञात हुआ है कि वृहत् पैमाने की सुविधाएँ खनिज पदार्थों के साथ संबंधित उद्योगों के लिये भी सत्य हैं। परन्तु आधुनिक धारणा संकुचित आँकड़ों पर आधारित है और अगर ये आँकड़े ठीक हैं तो मार्शल का मत गलत कहा जायगा। अगर वे दोषपूर्ण हैं तो आधुनिक मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मार्शल के सामने एक जटिल प्रश्न खड़ा हुआ था। उसका उत्तर उन्होंने अपने ढंग से दिया था। प्रश्न यह था : अगर जितना ही अधिक उत्पादन किया जाय उतना ही अधिक लाभ हो तो क्या कोई उद्योग कोशिश करके ऐसी सीमा पर नहीं पहुँच सकता जहाँ सर्वाधिक अंश में उत्पादन केवल वही करने लगे? मार्शल का उत्तर था कि किसी फर्म के विकास की हद होती है, क्योंकि उद्योग-प्रणेताओं की शक्ति और सामर्थ्य की हद होती है और उस हद के बाद उनका ह्रास होने लगता है। जब उद्योगों के जन्मदाता बूढ़े हो जाते हैं तब उनका जोश घटने लगता है। दूसरी यह है कि कोई भी उद्योग समूचे बाजार पर अधिकार नहीं कायम कर सकता। बाजार कई उद्योगों के हाथों में बँटा रहता है। ऐसी दशा में जब उद्योग के मालिक का ही सामर्थ्य अक्षुण्ण नहीं और जब बाजार का विस्तार ही सीमित है तब उद्योग का विस्तार कैसे असीम हो सकता है।

मार्शल ने उद्योगपति की सीमित सामर्थ्य पर बाजार के सीमित विस्तार की अपेक्षा ज्यादा जोर दिया है। इसकी वजह यह है कि मार्शल क्लासिकल अर्थशास्त्री थे और इस हैसियत से उनका

विश्वास था कि एकाधिपत्यात्मक प्रतियोगिता पूँजीवादी प्रणाली के लिये क्षणस्थायी चीज है। जिस तरह चंचल लहरें शांत महासागर के लिये क्षणिक हैं, उसी तरह एकाधिपत्यात्मक प्रतियोगिता क्षणिक है। सभी उत्पादकों को छोटा-बड़ा बाजार प्राप्त रहता है। अगर कोई उद्योग स्वाधीन और पूर्ण प्रतियोगिता से बाजार पर आधिपत्य स्थापित कर लेता है और उसकी पूर्त्ति करता है तो यह गैर-सामाजिक नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऐसा होता बहुत कम है, क्योंकि मार्शल का दृढ़ विश्वास था कि उद्योग के स्वामी की शक्ति समान नहीं रहती, वह विनष्ट हो जाती है और इससे उद्योग का विस्तार जितना हो सकता था, नहीं होने पाता। मार्शल के बाद चैम्बरलेन, रॉबिन्सन, ट्रिफीन, प्रभृति अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने एकाधिपत्यात्मक प्रतियोगिता के सिद्धान्त का विशद विश्लेषण किया है। इस विश्लेषण में बतलाया गया है कि किस तरह मुट्ठी भर फर्म संगठन करके बाजार के सर्वाधिक भाग पर स्वत्व जमा सकते हैं और सर्वाधिक उत्पादन उनमें ही केन्द्रित हो जा सकता है।

प्रो० मार्शल ने उद्योग और जंगल के बीच एक रूपक बाँधा है। उद्योग की तुलना जंगल से की गई है। किसी वक्त कोई भी जंगल विशाल और छोटे, नये और पुराने वृक्षों तथा छोटे-छोटे पौधों और लताओं से भरा हुआ हो सकता है। उसी प्रकार कोई उद्योग पुराने, नये और अत्यन्त छोटे फर्मों को समष्टि होता है। जब वृक्ष बहुत पुराने हो जाते हैं। तब वे सूखकर अपने आप खतम हो जाते हैं। नौजवान वृक्ष बढ़ते जाते हैं जब जंगल में वृक्षों की पंक्तियाँ बहुत घनी रहती हैं तब उनके बीच भीषण जीवन-संग्राम चलता रहता है। पुराने गाछ जब भरभरा कर गिरने लगते हैं। तब वे कमसिन और कमजोर गाछों को अपने बोझ से कुचल डालते हैं। छोटी-छोटी लताएँ बड़े नये गाछों के ऊपर फैलकर जीती हैं। छोटे-छोटे पौधे उनके इर्द-गिर्द में जीते हैं। बहुत-से दुर्बल वृक्ष कुसमय में ही सूखकर मर मिटते हैं।

किसी उद्योग की भी ऐसी ही गति होती है। पुराने फर्म कितने फर्मों की समष्टि होते हैं। उनकी ताकत बहुत बड़ी होती है। उनसे बहुतेरे फर्मों का सम्पर्क रहता है। वे पोरामिड की तरह फैलते हैं, विकसित होते हैं। जब उनका खात्मा होता है तब वे अपने साथ संबंधित फर्मों की कमर भी तोड़ डालते हैं। छोटे फर्म बड़े फर्मों के प्रहारों को अधिक समय तक सह नहीं सकते और उनके समक्ष घुटने टेक देते हैं। कई वजहों से छोटे फर्म बड़े फर्मों द्वारा तैयार की हुई सूली पर लटक पड़ते।

प्रत्येक उद्योग में अद्भुत गतिशीलता रहती है। उसमें जितने फर्म सम्मिलित रहते हैं सभी विकसित और नष्ट होते हैं। जो फर्म बहुत विकसित और विशाल हो जाता है वह विनष्ट होने लगता है क्योंकि उद्योग-स्वामी की सामर्थ्य भी जवाब दे रही है। दूसरी ओर जो फर्म छोटे और कम विकसित रहते हैं वे शनैः शनैः बढ़ते जाते हैं और सामान्य (Normal) आकार को ग्रहण कर लेते हैं। उसके बाद उनका तिरोधान आरंभ होता है। जब वे मर मिटते हैं तब उनकी जगह भरने के लिये फर्म बाजार में आते हैं। बाजार की माँग को संतृप्त करने के लिये लिये एक निश्चित संख्या के फर्मों की जरूरत है और जभी उस संख्या में कमी होती है दूसरे फर्मों का पदार्पण होता है। इस तरह उद्योग में जीवन्त गति रहती है। फर्म भी अविकसित अवस्था से, नीचे स्तर से विकसित अवस्था की ओर, उच्चस्तर की ओर क्रमशः प्रयाण करते हैं। पूर्ण विकसित अवस्था को सामान्य विस्तार कहा गया है। सभी फर्मों की आकांक्षा रहती है कि वे सामान्य विस्तार को लाभ कर सकें। सामान्य विस्तार से परिपूर्ण फर्म को प्रो० मार्शल-ने प्रतिनिधि फर्म कहा है। प्रतिनिधि फर्म के चतुर्दिक सारे फर्म चक्कर काटते रहते हैं।

यह संभव है कि किसी उद्योग में कोई भी ऐसा फर्म नहीं हो जो प्रतिनिधि फर्म से मिलता-जुलता हो। फिर भी प्रतिनिधि फर्म वह प्रामाणिक या सामान्य स्थिति है जिसको प्राप्त करने के लिये सभी

फर्म कोशिश करते हैं। प्रो० स्टीनड्ल ने इसकी व्याख्या करते लिखा है "यों तो किसी उद्योग में फर्म पैदा होते, पनपते और मिटते रहते हैं। फिर भी उनमें एक ऐसा फर्म होता है जो एक अर्थ में "सामान्य" कहा जा सकता है। यही प्रतिनिधि फर्म है। यह न तो कोई युवा और पनपनेवाला फर्म है और न तुरत नष्ट होनेवाला ही फर्म है, न यह बहुत भारी विस्तार का होता है और न इसको असाधारण लाभ ही प्राप्त होते हैं। किसी उद्योग को जितनी सामान्य सुविधाएं प्राप्त होती हैं वे सभी उस फर्म को भी प्राप्त होती हैं। जैसे-जैसे उद्योग का विशदीकरण होता जाता है वैसे-वैसे प्रतिनिधि फर्म का भी विस्तार बढ़ता जाता है।"

प्रो० मार्शल के कथनानुसार क्रमिक विकास की क्रिया गत्यात्मक होती है। बहुत से फर्म अस्तित्व से जा रहे हैं और उनकी जगह दूसरे फर्म प्रसिद्धि ग्रहण कर रहे हैं। इस तरह नीचे से ऊपर की ओर एक व्यापक गति है।

इस चीज को देखते हुए हमारे मन में एक शंका उत्पन्न होती है कि क्या व्यवसाय के कर्णधारों को पूर्ति इतनी ज्यादा है कि अस्तित्व में लगातार नये फर्म आते रहें और समर्थ उद्योग प्रवर्त्तकों द्वारा पूर्ण विकसित अवस्था में संवर्द्धित किये जा सकें? मार्शल ने इस शंका का सामाधान किया है। उनने बतलाया है कि उद्योग-प्रवर्त्तक की पूर्त्ति लोचपूर्ण है और जब अधिक उद्योग-प्रवर्त्तकों की माँग होगी तब उनकी पूर्ति भी बढ़ेगी। इस तरह उद्योग-प्रवर्त्तकों की माँग और पूर्त्ति करीब-करीब समान होती हैं।

बाजार में भिन्न-भिन्न क्षमता के फर्म रहते हैं। उनका उत्पादन-व्यय भी भिन्न-भिन्न रहता है। ऐसी हालत में किस फर्म के उत्पादन-व्यय को सार्थक माना जायगा और कौन-सा उत्पादन-व्यय दाम का निर्धारण करेगा? मार्शल का मन्तव्य है कि प्रतिनिधि फर्म का सीमान्त उत्पादन व्यय ही अन्ततः मूल्य का निर्धारण करेगा। इस

फर्म की जिन्दगी काफी बड़ी होती है और उसे खासी सफलता मिली होती है। उसका संगठन सामान्य कुशलता के साथ होता है।

लेकिन "प्रतिनिधि फर्म" के सिद्धान्त की कटु आलोचना हुई है। सबसे पहली बात तो यह है कि व्यावहारिक जीवन में हम पाते हैं कि बड़े और छोटे उद्योगों के बीच इतना बड़ा फर्क है कि यह कहना जरा अत्युक्ति मालूम पड़ता है कि छोटे फर्म धीरे-धीरे बड़े फर्म की हद पर पहुँच जाते हैं। अमेरिका में छोटे-से-छोटे फर्म की कुल पूँजी ५० हजार डॉलर है। वहाँ के बड़े फर्म की कुल पूँजी ५००० लाख डॉलर है। इस तरह छोटे और बड़े फर्मों के बीच १००० गुना का अन्तर है। वस्तु-स्थिति से पता चलता है छोटे फर्मों की मृत्यु दर बहुत बढ़ चुकी है और उनके लिये बड़े फर्म बनने का सपना कभी सत्य हो ही नहीं पाता। द्वितीयतः मार्शल का यह कहना है कि उद्योग की कला और कुशलता में "प्रवीण" व्यक्ति को आवश्यक पूँजी के मिलने में विशेष असुविधा नहीं होती हमें विश्वासास्पद नहीं प्रतीत होता। छोटे फर्मों को मुद्रा-बाजार में पूँजी मिलने में बड़ी दिक्कत होती है। केवल बड़े फर्म ही बैंकों की आर्थिक सहायता पाते देखे जाते हैं। तीसरी बात जिससे प्रतिनिधि फर्म से सिद्धान्त भ्रामक जान पड़ता है वह यह है कि जब एकाधिकार-कृत प्रतियोगिता है जिससे कोई फर्म कई फर्मों के समन्वित होने से बहुत बड़े डीलडौल का हो जाता है और उसकी प्रचंड प्रतियोगिता के आगे छोटे फर्म टिक नहीं पाते एवं असमय में ही खत्म हो जाते हैं। फिर पीगू, सराफा, रॉबिन्सन, आदि ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रतिनिधि फर्म को वाह्य और भीतरी सुविधाओं से उत्पन्न मानना दोषपूर्ण है। भीतरी सुविधाओं की एक पराकाष्ठा होती है और किसी भी फर्म को प्रतिनिधि फर्म बनने में उनसे पुरी सहायता नहीं मिल सकती। जिस तरह एक आदमी की जीवनी देश का इतिहास नहीं हो सकती उसी तरह कोई भी एक फर्म समूचे उद्योग का प्रतिनिधि नहीं हो सकता। रॉबिन्सन ने प्रतिनिधि फर्म के सिद्धान्त को असत्य और बेमेल बतलाया है। लेकिन रॉबर्टसन ने मार्शल का

समर्थन करते हुए लिखा है कि प्रतिनिधि फर्म किसी अमुक फर्म की ओर संकेत नहीं करता बल्कि एक ऐसी स्थिति की ओर संकेत करता है जो विभिन्न फर्मों के द्वारा विभिन्न समय में ग्रहण किया जा सकता है। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार लहर की चोटी पर बूँद अपना स्थान बदलती रहती हैं। यह गूलर के फूल की तरह है। वह सोने की चिड़ियाँ है जिसे नानी की कहानी में सुनते हैं।

अब आदर्श-ऑपटिमम-फर्म के ऊपर विचार करें। ऑपटिमम फर्म वैसे फर्म को कहते हैं जो टेकनिक और संगठन की दी हुई दशाओं में सबसे कम उत्पादन-व्यय पर कोई चीज का उत्पादन करता है। यह फर्म उत्पादन के सभी साधनों का सबसे बढ़िया समन्वय स्थापित करता है। इसका औसत उत्पादन-व्यय न्यूनतम होता है और उसका मुनाफा सर्वाधिक। इसका विस्तार ऐसा होता है कि उसमें थोड़ी-सी भी बढ़ती या घटती कर देने से उसकी कुशलता घट जा सकती है और उसका उत्पादन-व्यय बढ़ सकता है। पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में प्रत्येक फर्म चरमाधिक, आदर्श (ऑपटिमम) साईज प्राप्त करने की आकांक्षा रखता और प्रयत्न करता है क्योंकि इससे उसको सर्वाधिक मुनाफा मिलता है।

ऑपटिमम एक गतिशील बिन्दु है। जिस तरह ऑपटिमम जनसंख्या गतिशील होती है उसी तरह ऑपटिमम फर्म भी गतिशील होता है। अगर टेकनिक और औद्योगिक संगठन की वर्त्तमान दशाएँ बदल जायँ तब ऑपटिमम कहलाने के लिये जरूरी विस्तार भी बदल जायगा।

जो कुछ भी हो ऑपटिमम फर्म की कल्पना दोषपूर्ण है। डा० बेचम ने उसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि किसी उद्योग में कोई भी फर्म ऑपटिमम नहीं होगा। खोज पड़ताल से भी हमें इसमें सहायता नहीं मिलती।

सिद्धान्त की दृष्टि से प्रतिनिधि फर्म एक तरह से औसत फर्म होता है। ऑपटिमम फर्म न्यूनतम व्यय वाला फर्म होता है। जब कोई उद्योग संतुलित अवस्था में रहती है तब केवल एक ही प्रतिनिधि फर्म

संभव है जो खुद संतुलित दशा में होगा। लेकिन किसी उद्योग में कई ऑपटिमम साईज के फर्म रह सकते हैं। व्यवहार के दृष्टिकोण से प्रतिनिधि फर्म और ऑपटिमम फर्म दोनों के सिद्धान्त निरर्थक हैं।

अब यह विचार करना चाहिये कि "मूल्य के सिद्धान्त" में प्रतिनिधि फर्म और ऑपटिमम फर्म का क्या भाग या महत्त्व है। कहा जाता है कि "सामान्य मूल्य सीमान्त फर्म के औसत-व्यय और औसत फर्म के सीमान्त-व्यय के बराबर होने की प्रवृत्ति रखता है"। मार्शल प्रणीत मूल्य-सिद्धान्त में सामान्य मूल्य किसी वस्तु के उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित होता है। सीमान्त-व्यय की कल्पना दो रूपों में हुई है: (१) उद्योग में सीमान्त फर्म और कृषि में सीमान्त फार्म का औसत उत्पादन-व्यय सीमान्त व्यय के बराबर होता है। (२) सीमान्त-व्यय प्रतिनिधि फर्म के सीमान्त-व्यय को भी कहेंगे।

जो उद्योग क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास के नियमानुसार उत्पादन करते हैं उनके लिये सीमान्त फर्म या फार्म (कृषि के लिये) का सिद्धान्त प्रयुक्त होता है। सीमान्त फर्म वह फर्म है जिसका उत्पादन बाजार की सम्पूर्ण माँग को पूरा करने के लिये अनिवार्य है। बाजार में प्रचलित मूल्य कम-से-कम इस फर्म के उत्पादन-व्यय के बराबर होगा। यह फर्म इस दुविधा में रहता है कि उत्पादन करे या न करे। अगर बाजार का दाम उसके उत्पादन-व्यय से कम रहा तब वह उत्पादन नहीं कर सकेगा। लेकिन बाजार में उसके उत्पादन की आवश्यकता है। उसका उत्पादन-व्यय सबसे ज्यादा होता है। यही कठिनाई है। इसलिये बाजार का दाम इतना रहेगा कि वह उसके उत्पादन-व्यय को पूरा कर सके। ऐसी हालत में सीमान्त फर्म के औसत व्यय को उसके सम्पूर्ण व्यय में उत्पादित इकाइयों की संख्या से विभाजन कर हम आसानी से निकाल सकते हैं।

जब हम उन उद्योगों पर विचार करते हैं जो क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि के नियम का पोछा करते हैं तब हमें प्रतिनिधि फर्म के सिद्धान्त की मदद लेनी पड़ती है। प्रतिनिधि फर्म के सीमान्त उत्पादन-

व्यय के बराबर बाजार भाव को अवश्य होना चाहिये। एक बार जब प्रतिनिधि फर्म के सीमान्त उत्पादन-व्यय को बाजार मूल्य मान लिया गया, दूसरे फर्म अपना उत्पादन बढ़ाकर मूल्य के बराबर अपने सीमान्त-व्यय को कर लेते हैं।

आधुनिक विश्लेषण में सीमान्त-व्यय को किसी उद्योग के ऑपटिमूम फर्म के व्यय के बराबर माना जाता है। यह एक गणित-विषयक सत्य है। एक उदाहरण लीजिये। एक डाकिया प्रतिदिन १५ मीलों का औसत चक्कर लगाता है। अगर किसी दिन के चक्कर लगाने से उसकी औसत कम हो जाय तो इसका मतलब है कि उस दिन उसने १५ मील से कम का रास्ता तय किया। अगर औसत बढ़ गई तो स्पष्टतया उसने उस दिन १५ मील से ज्यादा रास्ता तय किया। अगर उस दिन भी औसत चक्कर १५ मीलों का ही रहा तब जरूर उसने १५ मील का ही रास्ता तय किया होगा। ठीक इसी तरह, मान लीजिये कि किसी उद्योग का औसत खर्च वस्तु की प्रति अदद १५ रुपया है। अगर एक इकाई ज्यादा चीज तैयार करने से औसत खर्च बढ़ जाता है तब जरूर उस इकाई के तैयार करने में १५ रुपया से ज्यादा लगा। अगर वह घट जाता है तो उसमें १५ रुपये से कम खर्च लगा। यदि वह १५ रुपये ही रहा तब निश्चय ही उसमें १५ रुपया ही खर्च बैठा। दूसरे शब्दों में उसके सीमान्त और औसत खर्च समान हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं।

किसी फर्म का साईज उस समय ऑपटिमूम कहा जायगा उसका औसत खर्च न घट रहा है और न बढ़ रहा है। इसका सीमान्त-व्यय भी उसके औसत खर्च को न बढ़ाता है और न घटाता है। ऑपटिमूम फर्म के औसत खर्च और सीमान्त खर्च दोनों ही समान होते हैं।

अगर प्रतियोगिता की दशा में सीमान्त-व्यय से औसत-व्यय कम है मुनाफा तब प्रतियोगिताशील उत्पादक को असामान्य (Abnormal) होगा। इससे नये फर्म उस उद्योग में आने के लिये लुब्ध होंगे और प्रवेश करेंगे। उस उद्योग में काम करनेवाले साधनों की माँग अधिक

हो जायेगी और उनकी कीमतें बढ़ जायेंगी। चूँकि उद्योग-प्रणेताओं या प्रवर्त्तकों की पूर्त्ति अन्य साधनों की पूर्त्ति से अपेक्षाकृत सीमित है इसलिये उनका पारिश्रमिक बहुत अधिक बढ़ जायगा। वे अधिक मुनाफा कमायेंगे जिससे औसत व्यय बढ़ जायगा। नतीजा यह होगा कि औसत व्यय और सीमान्त-व्यय के बीच जो अन्तर था वह सीमित उत्पादन-साधनों के पारिश्रमिक बढ़ने से खत्म हो जायगा। लेकिन सीमित साधनों की पूर्त्ति भी एक निश्चित अवधि तक सीमित रहती है और उस अवधि के अनन्तर उनकी पूर्त्ति बढ़ जाती है। इस तरह उनको जो ज्यादा मुनाफा मिलता है वह Quasi-Rent—बतौर लगान के सदृश है। उस अवधि के बाद ही "बतौर लगान" का मिलना बन्द हो जायगा।

प्रो० मार्शल ने स्वाभाविक या सामान्य मूल्य (Normal value) का विचार अवधियों—अल्पकालीन और दीर्घकालीन के दृष्टिकोण से किया है। अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य सीमान्त व्यय के बराबर होगा। दीर्घकालीन स्वाभाविक मूल्य औसत व्यय के बराबर होगा। अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य पर विचार करते समय हम केवल एक फर्म को लेते हैं। दीर्घकालीन स्वाभाविक मूल्य के ऊपर विचार करते समय हम फर्मों के समूह—किसी एक उद्योग को लेते हैं। किसी एक फर्म के लिये संतुलित उत्पादन उसी समय होगा जब उसका सीमान्त व्यय मूल्य के बराबर बैठता है। लेकिन फर्म का संतुलित उत्पादन उसके उद्योग के संतुलित उत्पादन का भी सूचक होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। किसी उद्योग के लिये संतुलित उत्पादन की अवस्था उस समय पहुँचेगी जब उसका औसत व्यय मूल्य के बराबर हो। किसी फर्म के लिये संतुलित उत्पादन की अवस्था उसी समय पहुँच जाती है जब उसका सीमान्त व्यय मूल्य के बराबर होता है और ऐसा दीर्घकाल और लघुकाल दोनों के लिये संभव है। लेकिन समूचे उद्योग के लिये ऐसा उसी समय होता है जब उसका औसत व्यय मूल्य के बराबर होता है। अगर मूल्य औसत व्यय से ज्यादा है तब

अधिक उत्पादन-साधन उसमें लगाये जायेंगे। नये-नये फर्म उसमें पदार्पण करेंगे। अधिक उत्पादन होगा जिसका नतीजा होगा कि दाम कम हो जायगा और वह औसत व्यय के बराबर हो जायगा। अगर दाम औसत व्यय से कम है तब कुछ फर्म उस उद्योग को छोड़ देंगे। उत्पादन घट जायगा। इससे दाम बढ़कर औसत व्यय के बराबर हो हो जायगा। लेकिन यह परिस्थिति दीर्घकाल में ही पैदा हो सकेगी। अतएव स्वाभाविक मूल्य एक ही साथ औसत व्यय और सीमान्त व्यय के बराबर होगा। प्रत्येक फर्म का स्वाभाविक मूल्य सीमान्त व्यय के बराबर दीर्घकाल में भी और लघुकाल में भी है। समूचे उद्योग का स्वाभाविक मूल्य दीर्घकाल में औसत व्यय के बराबर है। चूँकि प्रत्येक फर्म का उद्योग में रहना अनिवार्य है (क्यों सम्पूर्ण माँग को सम्पूर्ण उत्पादन के सहारे पूरा करना है) इसलिये स्वाभाविक मूल्य औसत और सीमान्त व्यय के बराबर हुआ। कहने का मतलब है कि सभी फर्म समान रूप से निपुण हैं। समान निपुणता के रहने पर ही प्रत्येक का औसत व्यय बराबर होगा, अन्यथा नहीं।

लेकिन स्वाभाविक मूल्य एक साथ और सीमान्त व्यय के बराबर हो ही नहीं सकता। अतएव यह विषय सिर्फ सिद्धान्त बन जाता है। उसकी व्यावहारिक उपयोगिता नहीं और उसकी व्यावहारिक सत्यता भी संदिग्ध है। यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता, उत्पादन साधनों के स्थान-परिवर्तन की निपुणता आदि को मानकर चलता है। लेकिन वास्तविक दुनिया में ये बातें तो मौजूद ही नहीं। ऐसी हालत में मूल्य निर्धारण का यह सिद्धान्त केवल सैद्धान्तिक माथा-पच्ची का विषय मात्र बन जाता है। (नोट—प्रतिनिधि फर्म की सैद्धान्तिक अर्थवत्ता के सिलसिले में कुछ और हम आगे "उद्योग बनाम फर्म" शीर्षक अंश में कह आये हैं।)

———

एकादश अध्याय

"उद्योग-धंधों का स्थानीयकरण"

(Localisation of Industries)

औद्योगिक स्थानीयकरण का विज्ञान उन कारणों की जाँच-पड़ताल करता है जिनसे कुछ उद्योग किसी एक स्थान के इर्द-गिर्द में केन्द्रित हो जाते हैं। प्रोफेसर मार्शल ने इसके संबंध में कुछ स्थूल बातों का उल्लेख किया है और थोड़े सामान्य सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की है। लेकिन उनका विवेचन व्यावहारिक महत्व की वस्तु है, उसमें वैज्ञानिक सैद्धान्तिकता का संस्पर्श कम है। उद्योगों के स्थानीयकरण के विषय में वैज्ञानिक विवेचन महाशय वेबर ने सर्वप्रथम किया था। वेबर एक जर्मन अर्थशास्त्रवेत्ता थे। उनका विवेचन बहुत ही रोचक और सुन्दर है।

डाक्टर रॉबर्टसन ने उद्योगों के स्थानीयकरण की परिभाषा करके उसे उद्योग-धंधों की स्थापना का एक झुकाव बतलाया है। विभिन्न देशों के बीच या किसी एक देश के विभिन्न भूभागों के बीच श्रम-विभाजन होता है। विभिन्न देश विभिन्न उद्योग-धंधों में से किसी एक या कुछ उद्योगों में विशिष्टता प्राप्त करते हैं। विशिष्टता प्राप्त करने के लिये उन्हें एकाग्रचित्त होकर अपने-अपने उद्योगों को करना पड़ता है और अपना सारा ध्यान, अपनी सारी शक्ति उन्हीं में लगानी पड़ती है। जिस तरह किसी उद्योग में श्रम-विभाजन होने पर कोई मजदूर किसी कार्य की एक छोटी-सी उपक्रिया को पूरा करता है उसी तरह देश-देश के बीच श्रम-विभाजन होता है और यह श्रम-विभाजन देशीय स्तर पर होता है। इसे देशीय श्रम-विभाजन (Territorial Division of Labour) कहते हैं। इसीका दूसरा नाम उद्योगों का स्थानीयकरण है। खास व्यवसाय खास स्थानों में उत्पन्न होते, एक साथ जुड़े रहते और अपनी तादाद बढ़ाते जाते हैं।

डाक्टर बेनहम ने उद्योग-धंधों के स्थानीयकरण की वजह बतलाते हुए लिखा है "दुनिया के कुछ भूभाग भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उत्पादन में विशेष समय एवं शक्ति इसलिये लगाते हैं कि उत्पादन के साधन असमान अनुपातों में पृथ्वी के धरातल पर फैले हुए हैं"।

उद्योगों के स्थानीयकरण के कारण रहस्यपूर्ण हैं। उनकी संख्या भी अधिक है। इनकी खूबी यह है कि वे जितने सीधे और सरल हैं उतने ही पेचीदे भी हैं। वे जितने ही आकर्षक हैं उतने ही पकड़ से भागनेवाले हैं। इन कारणों का अलग-अलग विवरण नीचे दिया जा रहा है।

कच्चेमाल का निकट में होना—

उद्योग-धंधों का स्थानीयकरण उस जगह साधारणतया बहुत होता है जिस जगह उनको कच्चेमाल के मिलने की सुविधा रहती है। कच्चेमाल की प्रधानता उद्योग-धंधों में सर्वाधिक है। पहले तो यह प्रधानता और भी अधिक थी। लेकिन वर्तमान शदी की द्वितीय दशाब्दि से इस प्रधानता में कमी हो रही है। इसकी वजह यह है कि यातायात के साधनों की अत्यधिक अभिवृद्धि हुई है और अब कच्चे मालों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने में पहले-जैसी कठिनाई नहीं होती है। अब तो शीघ्र नष्ट होनेवाले कच्चे माल भी हवाई मार्ग द्वारा स्थानान्तरित किये जा सकते हैं। जलयानों द्वारा भी काफी वाणिज्य होने लगा है। इस विकास का दोहरा प्रभाव पड़ा है। एक तो यह कि इससे मालों के भेजने, आदि में जो व्यय पड़ता था वह कम हो गया है। पहले एक जगह किसी उद्योग का स्थानीयकरण इस लिये हो जाता था कि वहाँ प्रचुर परिमाण में कच्चे माल के मिलने की सुविधा थी लेकिन तैयार माल को बाहर चलान करने में उस उद्योग को बहुत-सी दिक्कतें महसूस होती थीं। अब ऐसी बात नहीं। बड़ी आसानी से तैयार मालों का निर्यात हो सकता है। दूसरा प्रभाव इस विकास पर यह पड़ा है कि इससे कच्चेमाल की सन्निकटता की प्रधानता न्यून हो गई है। अब किसी उद्योग के जो फर्म खुलते हैं वे आवश्यक रूप से उसी जगह में नहीं खुलते जहाँ कच्चेमाल की बहुलता रहती है।

वे दूसरी जगहों में भी कायम हो जाते हैं क्योंकि यातायात के साधनों के द्वारा वे कच्चेमाल का आयात भी बड़ी सुविधा से करा सकते हैं। अब स्थानीयकरण के दूसरे कारण अपना असर अधिक डाल रहे हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि यातायात के साधनों में हुए विकास से एक ओर उद्योगों के स्थानीयकरण में सहायता मिली है तो दूसरी ओर उससे इस प्रवृत्ति में बाधा भी पहुँची है। यदि तैयार माल को भेजने का खर्च कम पड़ता है तो दूसरी ओर कच्चे माल की महत्ता कम पड़ गई है।

लेकिन एक बात है। मान लीजिये, यातायात के ये साधन अचानक 'फेल' कर जायँ, धोखा दे जायँ। तब तो बड़ा जुल्म मच जायगा। वैसे उद्योग जो दूसरी जगहों से कच्चेमाल मँगाकर उत्पादन करते हैं बन्द हो जायेंगे। उनमें काम करनेवाले मजदूर बेकार हो जायेंगे। इससे उस देश को गहरी आर्थिक चोट पहुँचेगी। आज एक देश खास-खास चीजों के लिये दूसरे देशों के ऊपर निर्भर करता है। उस हालत में उसे वे चीजें नहीं मिल सकेंगी। और इस तरह की परिस्थितियाँ कोई अनहोनी बातें हैं भी नहीं। देश-देश के बीच लड़ाई छिड़ती ही रहती है। दुनिया के एक भाग में युद्ध होने का मतलब हो जाता है सभी देशों का युद्ध की आशंका से भयभीत हो उठना। दुनिया के एक भाग का युद्ध राष्ट्रीय युद्ध न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध में बदल जाता है। समुद्री मार्ग से चीजों का आयात-निर्यात आपदपूर्ण हो जाता है। जहाज लड़ाई में फँस जाते हैं। उनका अभाव हो जाता है। चीजों को भेजा जाय तो किस पर?

जब इस तरह को परिस्थिति उत्पन्न हो जायेगी तब कच्चे माल की निकटता का महत्त्व पूर्ववत् हो जायगा। इंगलैंड के लंकाशायर की सूती कपड़े की मिलें विदेशों से कपास मँगाकर उत्पादन करती हैं। अगर यातायात के साधन शिथिल या अवरुद्ध हो जायँ तब तो वे सारी की सारी बन्द हो जायँगी और इससे जो महान् आर्थिक संकट पैदा हो जायगा। वह अंगरेजी व्यवस्था की रीढ़ को दुर्बल करने वाला

साबित होगा। इसी बात को ध्यान में रखकर डा० रॉबर्टसन ने लिखा है कि आज लंकाशायर में जो परमुखापेक्षी का भाव इतना घर कर गया है वह इतना खतरनाक है कि कोई प्रधान निरीक्षक किसी दूसरे लोक से वहाँ आये तो वह इस रवैया का समर्थन नहीं करेगा। वह नहीं चाहेगा कि अमेरिकी रूई लंकाशायर की मिलों में बुनी जाय और भारतवर्ष के लोग वहाँ के बुने कपड़े पहने-ओढ़ें।

जो कुछ भी हो, हमारे देश में अभी भी कच्चे माल की निकटता की प्रधानता हमारे उद्योग-धंधों के स्थानीयकरण में है। बम्बई में कपड़े का जो इतना अधिक कारोबार चल रहा है उसका पहला कारण यह है कि उस राज्य में कपास की अधिक उपज होती है। उसके आस-पास के इलाकों में भी प्रचुर मात्रा में रूई पैदा की जाती है। बिहार और उत्तर-प्रदेश में शक्कर की मिलें जो इतना अधिक खुली हुई हैं उसकी पहली वजह यह है कि इन राज्यों में गन्ने की भरपूर खेती होती है। बंगाल में पहले जूट के बहुत-से फर्म थे और अब भी हैं। उसका क्या कारण था ? उसका प्रमुख कारण यह था कि बंगाल में जूट की पैदावार खूब होती है और कच्चे माल की अधिक पूर्त्ति इन मिलों को उपलब्ध थी।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस भूभाग में जिस कच्चे माल की प्रचुरता रहती है उस भूभाग में उससे संबंधित उद्योग-धंधा स्थापित होता है।

—शक्ति (Power) की प्राप्ति की सुविधा—

औद्योगिक क्रान्ति के पहले कच्चे माल से निकटता की प्रधानता थी। उसके बाद शक्ति की सहज प्राप्ति की सुविधा की प्रधानता हुई। पहले जल-वाष्प बनाने की कला लोगों को ज्ञात नहीं थी। औद्योगिक क्रान्ति के बाद बड़ी-बड़ी मशीनें बनीं और वे 'शक्ति' (वाष्प-से तैयार Steam) द्वारा चलाई जाती थीं। शक्ति कोयले से प्राप्त की जाती थी। कोयला बहुत भारी होता है। उसे एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना मुश्किल काम है। यही कठिनाई उस समय स्थापित होने

वाले उद्योग-धंधों के सामने थी। फलतः वे कोयले की खानों के आस-पास में ही खुल गये। कोयले से शक्ति—steam power—तैयार की जाती थी और उसके बल पर मशीनें चलती थीं। दुनिया के जितने बड़े औद्योगिक देश हैं उनका औद्योगिक इतिहास इसी बात का साक्षी है। इंगलैंड के भारी उद्योग उसके कोयला-क्षेत्रों के निकट खुले हुए हैं। कोयला कच्चे माल से भारी होता है। इसलिये उद्योग-धंधे कोयले की खानों के आस-पास में खुल जाते थे और दूसरी जगहों से कच्चा माल मँगवा लेते थे।

लेकिन बिजली के ईजाद होने के बाद से कोयले का महत्त्व भी घट गया है। बिजली तेल (पेट्रोलियम) से पैदा की जाती है। यह बड़ी अद्भुत वस्तु है। इसे आसानी से पाइपों के द्वारा एक जगह से दूसरी जगह ले जा सकते हैं। कोयले की खानें कहीं हो सकती हैं, उद्योग-धंधे जो बिजली अर्थात् विद्युत्-शक्ति पर चलते हैं वे दूसरी जगह स्थापित हो सकते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि कोयले से बिजली पैदा करके पाइपों के जरिए उसे उन उद्योग-धंधों तक पहुँचाया जा सकता है। दुनिया के बड़े औद्योगिक देशों में यह व्यापक पैमाने पर कार्यान्वित कई वर्षों पूर्व किया जा चुका है। तेल से पैदा की हुई शक्ति (Energy) टैंकों के द्वारा भी स्थानान्तरित की जाती है।

केवल तेल से ही शक्ति नहीं पैदा की जाती बल्कि जल से वह पैदा की जाती है। जल-प्रपातों से बिजली पैदा की जाती है जिसके सहारे कितने उद्योग-धंधे चलते हैं। जल से उत्पन्न विद्युत्-शक्ति काफी सस्ती पड़ती है। उसे कहीं से कहीं ले जा सकते हैं। भारतवर्ष में भी इस तरह की शक्ति पैदा की जाती है। बम्बई में बहुत से पुतली-घर हैं। कई राज्यों में जल-विद्युत् उत्पन्न करने की योजनाएँ चल रही हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि आधुनिक युग में वही देश सबसे अधिक सुन्दर औद्योगिक भविष्यवाला कहा जायगा जिसके पास जल-विद्युत् पैदा करने के प्रसाधन प्रचुर परिमाण में विद्यमान हैं।

कोयला की जगह बिजली ने जो ले ली है उसके भी दो प्रभाव

पड़े हैं। पहला प्रभाव तो है कि राष्ट्र-राष्ट्र के बीच पहले जो औद्योगिक केन्द्रीयकरण था वह मन्द पड़ गया है। नए भूभागों में उद्योग-धंधे खुल रहे हैं और अभी खुलेंगे। वे जल से शक्ति पैदा कर अपने उद्योग-धंधे चला रहे हैं और अधिकाधिक शक्ति पैदा करने के फिराक में हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण होना शुरू हो गया है। दूसरा प्रभाव देश के भीतरी औद्योगिक झुकाव पर भी पड़ा है। देहातों में भी छोटे-छोटे उद्योग-धंधे खुलने लगे हैं। उन्हें भी बिजली की प्राप्ति की सुविधा है। इससे देहातों की बेकारी घटने लगी है। भारत में भी इस उत्थान से आशा की एक नई किरण फूट पड़ी है। अँगरेजी सत्ता के पहले जो उद्योग-धंधे लहलहाते थे उनके जीर्णोद्धार की बात अब संभव जान पड़ती है। इससे गाँवों की आर्थिक अवस्था सुधर जायेगी।

आकस्मिक या ऐतिहासिक कारण—

कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि किसी देश में कोई उद्योग कच्चे माल की प्रचुर पूर्ति या 'शक्ति' की सुविधापूर्ण प्राप्ति के जरिए के न रहने पर भी खुल गया है। उसके खुलने में कुछ आकस्मिक या ऐतिहासिक घटनाओं ने साथ दिया था। कहा जाता है कि लंका-शायर में सूती कपड़े की मिलों के खुलने और स्कॉटलैंड के अलस्टर में फ्लैक्स के उद्योग स्थापित होने के पीछे यह ऐतिहासिक घटना थी कि दोनों स्थानों में क्रमशः कपड़ा बुनने और फ्लैक्स बुनने की हुनर से परिचित लोग आरंभ में ही बस गए थे। फ्रांस में जब घरेलू झगड़ा चल रहा था तभी बहुत से बुनकर भागकर इंगलैंड और स्कॉटलैंड में आ बसे थे और जब समय ने साथ दिया तब वे कपड़े और सन के काम करने लगे। भारतवर्ष का भारत और पाकिस्तान में बँटवारा हुआ। बहुत से शरणार्थी पंजाब और बंगाल से भागकर भारत में आ बसे हैं। पंजाब से आये शरणार्थी सिलाई, आदि की कला में दक्ष हैं और जहाँ-जहाँ वे बसे हैं वहाँ अनेकों सिलाई-घर खुल गये हैं।

सालवार, चादर और रेशमी कुरते अब असंख्य लड़कियों की देह पर तितली के पंखों की तरह उड़ते-फबते नजर आते हैं। पहले तो इस पोशाक की इतनी लोक-प्रियता नहीं थी। बँगाल से भागकर आये लोग जूट उपजाना अच्छी तरह जानते हैं। कुछ राजकीय सरकारों ने उनकी इस कला से लाभ उठाने को सोची है। उदारहणार्थ बिहार सरकार ने अपने कुछ हिस्सों में, जहाँ की मिट्टी जूट की फसल के लिये उपयुक्त है, इन्हें बसाकर इनसे जूट उपजवाने का काम भी कराने लगी है और इन्हें कुछ आर्थिक सहायताएँ भी दे रही है। भारत में जितनी जूट-मिलें हैं उतने के लिये कच्चा जूट भारत में होता नहीं। बाकी जूट के लिये पाकिस्तान के ऊपर निर्भर करना पड़ता है। इसी कमी को दूर करने के लिये यह इन्तजाम किया गया है। इंगलैंड के स्टैफोर्डशायर में बर्तन के उद्योग की प्रधानता है। वहाँ की मिट्टी में कोई विशेषता नहीं है। लेकिन उसका इतिहास बताता है कि एक समय निहायत अच्छे बर्तन बनाना जाननेवाले लोग वहाँ कहीं से आकर बस गये थे जिससे इस इस उद्योग के विकसित होने में अपूर्व मदद मिली।

जलवायु और प्राकृतिक कारण

जलवायु का भी प्रभाव उद्योग-धंधों के स्थानीयकरण पर पड़ता है। खास-खास जलवायु में खास-खास चीजों का उद्योग खुल सकता है। बम्बई में सूती कपड़े का उद्योग इसलिये भी चलता है कि वहाँ की वायु के कणों में तरलता है जिससे कपड़े के बुनने में मदद मिलती है। बिहार के गया जिले में कपड़े का एक कारखाना खोला गया है लेकिन उसको यह असुविधा है कि वहाँ की वायु में तरलता नहीं है। अतएव कारखाने के वायु मंडल को तरल बनाकर रखा जाता है। इसके बिना धागे जल्दी-जल्दी टूटते हैं। पंजाब में ऊनी कपड़े की मिलें हैं। इसका कारण यह है कि वहाँ बहुत सी भेड़ें पाली जाती हैं। वहाँ की जलवायु इसके लायक है। वहाँ काफी ऊन तैयार होता है। इससे बहुत से फर्म ऊनी कपड़ों को तैयार

करते हैं। आसाम में चाय के बागान सबसे अधिक हैं। वहाँ चाय का कारोबार होता है। सियालकोट में खेल-कूद के सामान तैयार इसलिये होते हैं कि वहाँ जंगल से उनके लायक लकड़ियाँ खूब मिलती हैं।

—श्रम प्राप्ति की सुविधा—

देश के अन्तर्गत मजदूरी की बस्तियाँ कई जगहों में फैली रहती हैं। सभी बस्तियों में मजदूरी की दर समान नहीं होती। किसी बस्ती में मजदूरी की दर ज्यादा, किसी में कम होती है। उद्योग-धंधे अधिकतर वहीं खुलते हैं जहाँ अपेक्षाकृत कम मजदूरी देनी पड़ती है। इसका एक जबरदस्त कारण है। वह यह है कि समूचे उत्पादन-व्यय में सबसे अधिक अंश मजदूरी में ही लगता है। श्रम की प्राप्ति जनसंख्या के वितरण की प्रकृति और जनसंख्या की बनावट के ऊपर निर्भर करती है। सस्ते श्रम का अपूर्व प्रभाव वैसे उद्योगों के ऊपर पड़ता है जो आसानी से एक जगह से दूसरी जगह स्थानान्तरित किये जा सकते हैं। लंकाशायर में सस्ते श्रमिक खूब मिलते हैं। इंगलैंड में ऑक्सफोर्डशायर के खेतिहर लोग बड़ी संख्या में काम करने के लिये आते हैं। ये लोग बहुत भोले-भाले होते हैं। इंगलैंड के आस-पास और कोई उद्योग नहीं जो इन लोगों को इंगलैंड के कारखानों में काम करने से बहका सके। इंगलैंड के कारखानों को मजदूरों के लिये कम प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। इसी से महाशय रॉबिन्सन कहते हैं कि ऑक्सफोर्डशायर का देहाती श्रम का मकलन प्रतियोगी उद्योगों की स्पर्द्धा की अनुपस्थिति में खड़ा होने नहीं पाया है।

उद्योग-धंधे वहीं खुलते हैं जहाँ निपुण मजदूरों की संख्या अत्यधिक होती है। ऐसे स्थान में किसी उद्योग का प्रश्न दैनिक चर्चा का विषय बन जाता है। मजदूरों के बाल-बच्चे तक भी उसकी गुत्थियों से अवगत हो जाते हैं। उस जगह की हवा में भी उस उद्योग की कला के कण बिखरे रहते हैं। दिलचस्पी पैदा करनेवाले सन्देश और संवाद की लहरें चलती रहती हैं। मजदूरों की संतानों के खून में भी हुनर की विशेषताएँ संचरित होती रहती हैं।

श्रम की प्राप्ति की सुविधा के कारण उद्योगों का जो स्थानीय-करण होता है वह चिरकालीन होता है। फिर भी उसके प्रतिकूल भी कुछ शक्तियाँ काम कर रही हैं। अबतक आवागमन के साधनों की काफी उन्नति हो गई है। एक्सप्रेस रेलगाड़ियाँ छूटने लगी हैं। चन्द घंटों में देश के एक भाग से दूसरे भाग में मजदूर आ जा सकते हैं। इंगलैंड और अमेरिका जैसे औद्योगिक देशों में सुबह को गाड़ियों से हजारों के हजार मजदूर अपने घर से कारखाने में काम करने आते हैं और शाम में फिर अपने घर वापस लौट जाते हैं। किसी वस्तु के उत्पादन की जो कला है उसका भी अब विकेन्द्रीयकरण होने लगा है। मुँहामुँही, साहित्य या अखबारों के द्वारा, डाक-तार के द्वारा, रेडियो के द्वारा ज्ञान एवं कला का वितरण होता है। सारी दुनिया धीरे-धीरे सभी चीजों की उत्पादनकला से परिचित होती जा रही है। बहुत से देश विदेशों के निपुण श्रमिकों—टेकनिसियन्स—को अच्छा वेतन देकर अपने यहाँ रख लेते और नए-नए उद्योगों को खोलते हैं। कभी-कभी वे अपने युवकों को जानकार देशों में भेजकर शिक्षित-दीक्षित बनाकर नए उद्योगों को स्थापित करते हैं। अब ज्ञान और निपुणता को ठीकेदारी या एकाधिकार अधिक काल तक किसी देश को नहीं रहती। अगर इस तरह की चीज खूब फैलने और विकास करने लगी तब वैसे देश जो आज केवल निपुणता-प्राप्त होने की वजह से ही कोई उद्योग चलाते हैं वे आगे चलकर बेकाम हो जायेंगे। इसी बात को ध्यान में रखकर डा० रावर्टसन ने कहा है, "अगर इस प्रकार की परिस्थिति पैदा हो गई तब ब्रिटिश द्वीप-पुंज के कपड़े का सारा काम-धंधा बन्द हो जायगा और ब्रिटेन को स्वीटजरलैंड की तरह क्रीड़ा-स्थल बन जाना पड़ेगा। उसे पार्क और म्यूजियम खोलकर विदेशियों को खेल-कूद के लिये आकर्षित करना होगा। इन पार्कों और म्यूजियमों में बेकार मजदूर अपनी ढलती जवानी और बुढ़ापे के शेष दिन खेल-कूद में काटेंगे।"

नए उद्योगों के लिये कम भाड़ा एक बड़ी प्रेरक शक्ति का काम करता है। जहाँ जमीन सस्ते दाम पर मिलती है वहाँ नये उद्योग बहुत आकर्षित होते हैं। लेकिन जब कुछ फर्म खुल जाते हैं, और मजदूर काफी तादाद में वहाँ बस जाते हैं तब जमीन का अभाव मालूम होने लगता है। मकानों का अभाव होने से उनके भाड़े भी बढ़ जाते हैं और इसका दीर्घकालिक प्रभाव यह पड़ता है कि नये फर्म वहाँ नहीं खुलते।

पूँजी को दूसरे उत्पादन-साधनों की अनुचरी कहा गया है। जहाँ कहीं भी जिस साधन को पूँजी की आवश्यकता पड़ती है और जो साधन उसको उचित पारिश्रमिक (सूद) देने को तैयार रहता है पूँजी वहाँ और उस साधन के पास पहुँच जाती है। पूँजी की गतिशीलता सबसे अधिक होती है। जहाँ उद्योग-धंधों का स्थानीयकरण हो जाता है वहाँ बैंक, आदि भी खुल जाते हैं और वे उनको काफी मदद पहुँचाते हैं।

उद्योग-प्रवर्त्तकों के बारे में कहा जाता है कि वे उद्योगों को अपने वास-स्थान के आस-पास में ही खुलने के लिये आकर्षित करते हैं और खुद दूसरी जगहों में जाकर उन्हें खोलने की कम आकांक्षा रखते हैं। लेकिन यह बड़ा ही अस्पष्ट विषय है। यह भावुकता से अधिक और अर्थशास्त्र से कम संबंध रखता है। इसलिये इसके ऊपर अधिक लिखना आवश्यक नहीं जान पड़ता।

उद्योग-प्रवर्त्तक संबंधी (Entrepreneurial) कारण —

यह कहना कि हर हालत में उद्योगों का स्थानीयकरण, गंभीर चिन्तन और विचार (deliberate and rational) का ही उपज हो अत्युक्ति प्रतीत होता है। उद्योगों का स्थानीयकरण प्रतियोगितापूर्ण चयन की भी देन होता है। उद्योगों और खासकर बड़े पैमाने के उद्योगों को—काम करने के लिये साहस और उत्साह की आवश्यकता होती है। उत्साही उद्योग-

प्रवर्तक वृहत् पैमाने के उद्योगों को स्थापित करते और चलाते हैं। बुजदिल उद्योग-प्रवर्तक बड़े उद्योगों को नहीं चला पाते। अभी हाल तक भारतवर्ष में उत्साही उद्योग-प्रवर्तकों का सर्वथा अभाव था। इसी से यहाँ मोटर गाड़ियों के फर्म उसी तरह खुले और शीघ्र नष्ट होते रहे, जिस तरह बरसात में घासें पैदा होतीं और उसके बाद तुरंत नष्ट होती हैं। हवागाड़ियों के उद्योग तभी चल सकते हैं जब उनके तरीकों, उनके डिजाइन और उनके स्थान का होशियारी से चुनाव किया गया हो। ऑक्सफोर्ड में स्थित मोटरगाड़ियों का उद्योग और न्यूयार्क में स्थित चॉकलेट का उद्योग क्रमशः उनके प्रवर्तकों की इच्छा और धारणा की उत्पत्ति हैं। ऐसी बातें भी सुनी जाती हैं कि कुछ उद्योगों की स्थिति के निर्वाचन में उनके प्रवर्तकों की धर्म-पत्नियों के नाजुक स्वास्थ्य या उनकी सामाजिक आकांक्षाओं का भी प्रमुख हाथ रहा है। पहले उद्योगों की स्थिति के बारे में काफी सोच-समझ से काम लिया जाता था लेकिन अब स्थिति का चुनाव मनोकामना से स्वतंत्र (fancy-free) हो चुका है। अब ऐसा नहीं होता कि कोई उद्योग किसी जगह इसीलिये खुल गया कि उसके स्थापक की ऐसी ही ख्वाहिश थी। अब स्थिति का निर्वाचन आर्थिक बातों द्वारा शासित हो रहा है। यद्यपि यह एक छोटा-सा प्रश्न लगता है तथापि यह एक युक्तिसंगत प्रश्न बन चुका है।

बाजार का अस्तित्व

बाजार का विस्तार श्रम-विभाजन के द्वारा निर्धारित होता है। जिस उद्योग में श्रम-विभाजन की अत्यधिक गुंजाइश होती है उसके लिये बड़े बाजार की जरूरत होती है। जहाँ जिस चीज के लिये बाजार होता है वहाँ उस चीज की पूर्ति करने के लिये दो या तीन फर्म खुल जाते हैं। उत्पादन बाजार का अनुसरण करता है। बिस्कुट, आटा, दूध-घी, चीनी, आदि की माँग स्थानीय होती है। अतएव जगह-जगह उनकी पूर्ति करने के लिये उनके उद्योग खुल जाते हैं और प्रत्येक उद्योग में दो या तीन फर्म स्थानीय माँग की पूर्ति करते हैं। इस

तरह इन चीजों के उद्योग केन्द्रित होने के साथ विकेन्द्रित भी होते हैं। गैस, बिजली-बत्ती, पानी, होटल और लौंड्री के काम-धंधे भी स्थानीय होते हैं। वैसी वस्तुओं और सेवाओं के उद्योग जो सीधे भोक्ताओं या क्रेताओं के हाथों ही बेची जाती हैं विकेन्द्रित होते हैं। यदि वे केन्द्रित हो जायँ तब उन्हें चलाने करमें में अधिक खर्च पड़ेगा ।

तैयार मालों की सूची

किसी तैयार वस्तु को देखकर हम कह सकते हैं कि उसका उद्योग किसी एक स्थान पर केन्द्रित होगा या कई स्थानों में फैला हुआ है। अगर किसी चीज का कच्चा माल बहुत भारी हो और वह तैयार चीज हल्की हो तब उसका उद्योग वहीं खुलेगा जहाँ कच्चा माल मिलता हो। अगर तैयार चीजें ऐसी हों जो वजनदार हों, तुनुक हों शीघ्र नष्ट होने वाली हों तब उनके उद्योग भी विकेन्द्रित होंगे। जहाँ जितनी माँग होगी उसी परिमाण में उत्पादन करने के लिये वहाँ किसी चीज का उद्योग खुल जायगा। शीशे के सामान इतने कोमल होते हैं कि वे लम्बी सफर बर्दाश्त नहीं कर सकते। दूध और हरी तरकारियाँ अधिक दूर नहीं भेजी जा सकतीं। ऐसी दशा में उनके कारबार स्थानीय ही होते हैं। विलास और आराम की चीजों को बेचने वाली दुकानें एक ही स्थान में केन्द्रित होती हैं। लोग अपनी-अपनी पसन्द और रुचि के अनुसार उन्हें खरीदते हैं। जीवन की जरूरियात चीजों को बेचने वाली दुकानें एक स्थान में केन्द्रित न होकर बिखरी हुई रहती हैं। यह प्रोफेसर मार्शल का मत है।

कच्चे मालों की सूची

तीन प्रकार के कच्चे माल होते हैं: (१) विशुद्ध कच्चे माल (२) अशुद्ध कच्चे माल (३) चतुर्दिक कच्चे माल। खालिस या विशुद्ध (Pure) कच्चे माल वे हैं जिनकी तौल के लगभग ही उनसे तैयार चीजों की तौल होती है। उदाहरण के लिये ऊन, रूई, रेशम ऐसे ही

कच्चे माल हैं। इनके उद्योग केन्द्रित और विकेन्द्रित दोनों ही हो सकते हैं। बेखालिस या अशुद्ध (Gross) कच्चे माल वे हैं जो अपना औसतन कम भाग तैयार माल में शामिल करते हैं या अपने को उत्पादन की क्रिया में खत्म कर डालते हैं। इनकी तौल और इनसे तैयार चीज की तौल में काफी अन्तर होता है। उदाहरण के लिये, बकसाइट, खान से तुरंत का निकाला लोहा, आदि। बकसाइट से अलमुनियम तैयार करते हैं लेकिन बकसाइट का बहुत ही ज्यादा अंश उत्पादन-क्रिया में ही अशुद्ध करार कर दिया जाता है। कोयला ऐसी चीज है जो उत्पादन-क्रिया में ही स्वाहा हो जाता है। इसी वजह से खनिज पदार्थों से संबंधित उद्योगों का अधिकतर स्थानीयकरण ही होता है। एक कोटि में वे कच्चे माल आते हैं जो सामान्यतया (Ubiquitous) हर मुल्क में पाए जाते हैं। इसलिये इनके उद्योग प्रत्येक देश में कायम होते और पनपते हैं। चीनी मिट्टी एक ऐसा ही पदार्थ है। लकड़ी के काम-धंधे भी हर देश में चलते हैं। कुछ ऐसे अनाज होते हैं जो सभी जगह उपजाये जा सकते हैं। फिर भी खास-खास जगहें उनके लिये विशेष रूप से उपयुक्त होती हैं। मिसाल के लिये ईख और कपास को लिया जा सकता। इस्ट ऐंगिलया और भारत इन अनाजों की उपज के लिये मशहूर हैं। पानी का भी काम करीब-करीब सभी उद्योग-धंधों में पड़ता है। फिर भी सभी जगह का पानी एक नहीं। प्रत्येक स्थान के जल की कुछ विशेषताएँ होती हैं।

—यातायात खर्च

उद्योगों के स्थानीयकरण में इसका भी विचार काम करता है। यातायात खर्च के ऊपर दो दृष्टियों से विचार किया जाता है—कितना माल भेजना है और कितनी दूर भेजना है। जब इन दृष्टियों से किसी वस्तु का फर्म स्थानीयकरण के लायक होता है तब उसे अन्य फर्मों के आस-पास में ही स्थापित किया जाता है।

पूर्वस्थिति (Inertia) या शीघ्र आरंभ करने से प्राप्त वेग (Momentum of Early Start)—

बहुत उद्योगों का स्थानीयकरण इसी कारण से हुआ है। किसी जगह कोई उद्योग खुलने लगा। दो-चार फर्म वहाँ खुले। उन्होंने बहुत अच्छी चीजें बनाईं। उनकी शोहरत दुनिया-भर में हो गई। सभी लोग उस जगह से परिचित हो गये। बाद में जिन लोगों ने वह उद्योग खोलना चाहा उनलोगों ने अपने फर्म वहीं स्थापित किये। इससे उन्हें सबसे आरंभ का फायदा तो यह हुआ कि उन्हें अपने माल के प्रचार करने में अधिक पैसा नहीं खर्च करना पड़ा। एकबार उनलोगों ने उसके नाम को सुना बस वे उनसे भी वह चीज खरीदने लगे। उन्हें मजदूरों और कारीगरों की पूर्त्ति मिलने में भी कठिनाई नहीं हुई। उस स्थान में पहले से ही निपुण मजदूर वर्तमान थे। अगर कोई अंगरेज छुरी-चाकू का फर्म खोलना चाहे तब वह उसे शेफील्ड में ही खोलेगा क्योंकि शेफील्ड इन चीजों के लिये दुनिया भर में मशहूर है। अगर कोई भारतीय कपड़े की मिल खोलना चाहता है तब वह उसे बम्बई प्रान्त में खोलना ही सबसे अच्छा समझेगा।

इस तरह जो फर्म खुलते हैं वे सर्वदा उस स्थान के लिये न्यस्त और उपयुक्त नहीं होते। कभी-कभी तो वे बहुत खर्चालु और अव्यावहारिक भी साबित होते हैं। फिर भी उनके संस्थापकों को इस बात की फिक्र नहीं रहती। उस जगह से कुछ फर्मों को हटाकर दूसरी जगह में खोलवाना सामाजिक कल्याण की दृष्टि से अधिक हितकर होगा लेकिन यह बात उनके मालिकों को कतई नहीं रुचेगी।

राजनीतिक कारण

सरकार के द्वारा संरक्षण मिलने पर कुछ उद्योगों का राजधानी के आस-पास में पहले स्थानीयकरण हो जाता था। राजा लोग अपने उपभोग की वस्तुओं के उद्योगों को खोलने के लिये लोगों को प्रोत्साहित करते थे। भारतवर्ष में मुगलों का काल उद्योगों का स्वर्ण-युग कहा गया है। मुगल-बादशाहों और नवाबों की प्रेरणा का ही फल था कि

मुर्शिदाबाद और ढाका में बढ़िया मसलिन के उद्योग-धंधे खूब चमके थे, आगरे में इत्र और फुलेल तथा आभूषणों का कारबार खूब चला था।

सरकारी संरक्षण कई तरह से मिलता है। सरकार जिस उद्योग का स्थानीयकरण कराना चाहती है उस उद्योग को आर्थिक सहायता का इन्तजाम कर देती है, उसके इर्द-गिर्द में बैंक खोलवा देती है, आवागमन तथा यातायात के साधनों को स्थापित कराती या उनका विकास कराती है। इन सबसे उद्योगों के स्थानीयकरण में प्रचुर सहायता मिलती है। सरकार आय-कर घटाकर भी इस कार्य में सहायता दे सकती है। जब राज्य की ओर से योजनाकरण होता है तब उद्योगों की स्थिति के ऊपर भी सरकार का प्रर्याप्त नियंत्रण रहता है और वही इस बात का निर्णय करती है कि किस उद्योग को केन्द्रित रहना चाहिये और किसको विकेन्द्रित। इसीलिये कहा भी गया है—

Location of Industry now is not a creation of natural and economic forces, it is rather deliberate and rational.

कारखाना संबंधी कानूनों का भी असर उद्योगों के स्थानीयकरण पर पड़ता है। भारतवर्ष की सूती कपड़ों की मिलों का इतिहास इस बात का ज्वलन्त उदाहरण देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में लंकाशायर और मैनचेस्टर के उद्योगपतियों के दबाव में कुछ कारखाने के कानून अँगरेजी सरकार ने पास किये जिनके अनुसार भारतीय मिलों के काम करने के समय को कम कर दिया गया। ये कानून केवल ब्रिटिश प्रान्तों में ही लागू किये गये थे। देशी राज्य उनके क्षेत्र से बाहर थे। इन कानूनों के पास होने का परिणाम यह हुआ कि जो लोग नई मिलें खोलना चाहते थे वे देशी राज्य में ही उन्हें खोलने लगे। यह क्रम कुछ वर्षों तक रहा। बाद में सरकार ने इन कानूनों में आवश्यक संशोधन किये और तब फिर नई मिलें भारतवर्ष के प्रान्तों में खुलने लगीं।

कुछ और भी कारण हैं जिनके चलते उद्योगों का केन्द्रीयकरण होता है। उनमें से एक Irreducible Factor है जिसका मतलब यह होता है कि किसी जगह में कोई उद्योग तब तक नहीं खुल सकता है जब तक उसमें एक निश्चित संख्या के फर्म न कायम हो जायँ। ऐसी बात होने पर आखिरी फर्म का महत्त्व पहले के फर्मों से ज्यादा होगा जब तक वह नहीं खुलता तब तक उद्योग को पूरा फायदा नहीं हो सकता। आवागमन तथा यातायात के साधनों से तथा अन्वेषण और अनुसन्धान की परीक्षण-शालाएँ कायम कर उनसे लाभ उठाने के लिये भी उद्योगों का स्थानीयकरण होता है। कुछ उद्योग इसलिये कहीं खुलते हैं कि वहाँ पहले से स्थापित उद्योगों के फेंके (Refuge) कच्चे माल से वे अपना रोजगार चला सकते हैं। जहाँ चीनी की मिलें बहुत हैं वहाँ छोआ ढेर-का-ढेर बहुत सस्ते दाम पर मिल जाता है। छोआ से शराब या चाश्नी (Yeast) या तम्बाकू बनाने वाले छोटे-छोटे फर्म उस स्थान में खुल जा सकते हैं। इस तरह प्रमुख और उद्योग एक ही स्थान में जुड़े रहते हैं—मानों उनका गठबन्धन हुआ हो। इसे अँगरेजी में Industrial Coupling कहते हैं।

भारतवर्ष में उद्योगों का जो स्थानीयकरण हुआ है वह प्राकृतिक वजहों के साथ-साथ विदेशी सरकार की आर्थिक नीति के द्वारा भी प्रभावित हुआ है। सरकार ने चुंगी और कर-नीति के द्वारा बराबर हस्तक्षेप किया है। फिर भी कच्चे माल की निकटता ने जूट और लोहे के उद्योगों के स्थानीयकरण को सर्वप्रथम निर्धारित किया है। इन उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण का कोई लक्षण नहीं मालूम पड़ता है। बम्बई प्रदेश में कपड़े का उद्योग जो इतना केन्द्रित है उसके कई कारण हैं—(१) वहाँ रुई मिलने की काफी सुविधा है (२) पूँजी और साख की प्राप्ति के भी कई जरिए हैं (३) यातायात के भी साधन खूब विकसित हैं (४) डेकन और कोकन से मजदूर भी काफी आते हैं। सूरत में रेशम का उद्योग फूल-फल रहा है। लेकिन कुछ वर्षों से रेशम और सूती कपड़े के कारखाने दूसरी जगहों में खुल रहे हैं।

सीमेन्ट ऐसी चीज है जो हर जगह पाया जाता है। फिर भी डेहरी में उसका सबसे बड़ा कारखाना है क्योंकि भारत में यातायात के साधनों का अपेक्षित विकास नहीं हुआ और अगर जगह-जगह सीमेन्ट के कारखाने खुल जायँ तब सीमेन्ट के आयात-निर्यात में काफी कठिनाई महसूस होगी। चीनी मिलें भी अब उत्तर प्रदेश और बिहार को छोड़कर इधर-उधर खुल रही हैं। बम्बई सरकार ने अपने प्रान्त में कुछ चीनी की मिलों के खुलने को प्रोत्साहित किया है। बात यह है कि बम्बई की एक एकड़ जमीन में जितना गन्ना उपजता है उतना गन्ना न तो बिहार की एक एकड़ जमीन में उपज सकता है और न उत्तर-प्रदेश की। फिर, बम्बई की प्रतिजन औसत चीनी-खपत और प्रान्तों की प्रतिजन औसत चीनी-खपत से अधिक है। इन्हीं दो प्रमुख वजहों से वहाँ भी चीनी का उद्योग खुलने लगा है और चीनी के उद्योग का विकेन्द्रीयकरण आरंभ हो गया है।

अब उद्योग-धंधों के स्थानीयकरण के गुण-दोषों के ऊपर विचार करना ठीक होगा। पहले स्थानीयकरण से होनेवाले लाभ को लीजिये। सब से बड़ा लाभ जो उद्योग-धंधे के स्थानीयकरण से होता है। वह यह है कि इससे प्रत्येक उद्योग का विस्तार बढ़ जाता है। प्रत्येक फर्म अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन करता है। किसी फर्म का विस्तार इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितने बड़े बाजार की पूर्ति करता है। लंकाशायर दुनिया भर के देशों की अधिकांश माँग की पूर्ति करने के लिये सूती कपड़े बुनता है। इसलिये उसकी मिलों का विस्तार बड़ा है। मान लीजिये दो आटा पीसने की मिलें दो जगहों में स्थित हैं और अपने-अपने बाजार की माँग को पूरा करती हैं। अगर दोनों की जगह एक ही मिल किसी एक जगह स्थित रहती तब उसका विस्तार करीब-करीब दुगुना होता क्योंकि उसे दुगुनी माँग की पूर्ति करनी होती। जब एक जगह किसी उद्योग के कुछ फर्म स्थित रहते हैं तब कालान्तर में वे एक में समन्वित हो जाते हैं और वहाँ की औद्योगिक इकाई सबसे बड़ी हो जाती है। फिर,

कल्पना करें किसी वस्तु का उत्पादन करनेवाले दो फर्म हैं जो दो जगहों में स्थित हैं। अगर उनमें से कोई एक फर्म दाम घटा देता है तब वह दूसरे फर्म की बिक्री एकदम बन्द करा देगा। नतीजा यह होगा कि कुछ समय के बाद दो फर्मों की जगह केवल एक फर्म ही रह जायगा।

द्वितीयतः स्थानीयकरण होने का यह अर्थ नहीं होता कि छोटे पैमाने के व्यवसाय नष्ट हो जायेंगे। छोटे व्यवसाय नष्ट नहीं होते और वह इन कारणों से—(१) वे भी कच्चे माल और 'शक्ति' के उद्गम के निकट स्थित हो सकते हैं। (२) वे सहकारी उद्योग के रूपमें काम करते हैं। (३) उन्हें भी निपुण श्रम की काफी पूर्ति प्राप्त है। (४) उनके संस्थापक भी दुकानदारी जानते हैं और (५) उन्होंने भी बाजार का कुछ अंश अपने कब्जे में कर लिया है।

किसी उद्योग के स्थानीयकरण से तीसरा लाभ यह होता है कि शिक्षित दीक्षित मजदूरों की संख्या बढ़ जाती है। उस उद्योग के सारे रहस्य इन्हें मालूम रहते हैं। हवा में उनके कण उड़ते रहते हैं। मजदूरों के बच्चे आसानी से अपने अभिभावकों की हुनर सीख लेते हैं। उद्योग जहाँ कायम हुआ है उस जगह के निकट-पास में रहने वाले लोग सुविधापूर्वक उसकी क्रियाओं से अभ्यस्त हो जाते हैं। योग्यता और निपुणता की एक परम्परा-सी बँध जाती है। वहाँ उस कला की शिक्षा-दीक्षा की भी व्यवस्था रहती है।

स्थानीयकरण से सम्पूरक तथा सहकारी उद्योगों को भी उत्पन्न होने में सहायता मिलती है। क्लाइड में जहाज-निर्माण की और लंकाशायर में कपड़े की मशीनों के बनाने की जो इतनी आशातीत उन्नति हुई है वह इसलिये कि वहाँ पहले से प्रधान उद्योगों का केन्द्रीयकरण हो चुका था। शराब, तम्बाकू, छोआ से चीनी (Yeast) बनाने के उद्योग सहकारी उद्योग के रूप में चीनी के उद्योग के नजदीक में विकसित होते हैं। इन सम्पूरक और सहकारी उद्योगों में प्रमुख उद्योगों में काम करनेवाले मजदूरों के बाल-बच्चों को भी रोजी मिल जाती है।

स्थानीयकरण होने से वाह्य सुविधाओं (External Economies) की भी वृद्धि होती है। नई मशीनें बनती हैं। विशिष्ट यातायात और आवागमन के साधन पहले से अच्छे हो जाते हैं।

जब एक ही उद्योग के कई फर्म एक ही स्थान में काम करते हैं तब वे मिलकर एक सामूहिक अन्वेषण-शाला कायम कर लेते हैं क्यों कि यह किफायत पड़ता है। वहाँ नूतन भाव और विचार सतत उत्पन्न होते रहते हैं। उनसे सहकारी उद्योगों की उत्पत्ति में मदद मिलती है। समस्या का जो उद्घाटन होता है वह किसी एक फर्म की सम्पत्ति न होता बल्कि वह सभी फर्मों की सम्पत्ति बन जाता है।

वहाँ आर्थिक संस्थायें भी कायम हो जाती हैं। बैंक खुल जाते हैं। इनसे वहाँ के फर्मों को बड़ी मदद मिलती है। वहाँ से अखबार और समाचार पत्र प्रकाशित होते हैं जिनमें व्यवसाय और वाणिज्य-संबंधी समाचार दिये रहते हैं। उद्योगपतियों का भी एक संगठन स्थापित हो जाता है।

मजदूरों को भी फायदा होता है। चूँकि एक ही जगह अनेकों मजदूर रहते हैं इसलिये उनको अपने संघ को स्थापित करने में सहायता मिलती है। अपने संघ के द्वारा वे अपनी मजदूरी के बढ़ाने के लिये आवाज उठाते और उसमें सफल भी होते हैं। मजदूरी बढ़ने पर उनके जीवन का स्तर भी ऊँचा हो जाता है।

भोक्ताओं को भी एक तरह से लाभ होता है। वह जगह किसी खास वस्तु के लिये मशहूर हो जाती है। एक ही जगह कई फर्म काम करते हैं। उनमें प्रतियोगिता रहती है। सभी बढ़िया चीज तैयार करने की कोशिश करते हैं। इस तरह चीजों के गुण में भी वृद्धि होती है। उत्पादन-लागत तो कम होती है। सस्ते दाम पर वही चीज मिल जाती है। इससे आर्थिक सुख में बढ़ती होती है।

जिस जगह किसी उद्योग का स्थानीयकरण होता है वह जगह एक निश्चित बाजार बन जाती है। आर्थिक शक्तियों के साथ सामाजिक शक्तियाँ काम करती हैं। मजदूरों और उनके मालिकों में भी मेल-मिलाप का भाव बढ़ता है। यदि देश के दूसरे भाग में किसी चीज

का बनानेवाला कोई आदमी बेकार हो जाता है तब वह जहाँ उस चीज के उद्योग का स्थानीयकरण हुआ रहता है वहाँ पहुँच जाता है और उसे काम भी मिलने में दिक्कत नहीं होती है। वह जगह शरण-स्थली बन जाती है।

स्थानीयकरण होने से एक लाभ और भी होता है। वह यह है कि वैसी जगह में सरकार को जन-कल्याण की संस्थाओं को खोलने में भी आसानी होती है। सरकार छिट-फुट उद्योग-केन्द्रों में इन्हें नहीं खोल सकती क्योंकि इसमें बहुत अधिक खर्च पड़ता है। लेकिन जब एक ही स्थान में हजारों मजदूर रहते हैं वहाँ सरकार उनके लिये पानी, प्रकाश, औषधालय, पाठशाला, आदि का प्रबन्ध कर सकती है। वह उनकी देखभाल करने के लिये एक-एक सामाजिक-कल्याण के निरीक्षक नियुक्त कर सकती है।

उद्योग-धंधों के स्थानीयकरण से जहाँ इतने लाभ होते हैं वहाँ उनसे कम नुकसान नहीं होते। सबसे पहला नुकसान तो यह है कि एक ही जगह किसी उद्योग का केन्द्रीयकरण हो जाने से जितने धन की उत्पत्ति होती है सब उसी उद्योग के मालिकों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण होने का मतलब राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीयकरण से भी है। दूसरी बात यह है कि मन्दी के समय से स्थानीयकरण से बड़ा नुकसान होता है। जब व्यापार-चक्र पलटा खाता है और मन्दी आती है तब उद्योग-पतियों को कम लाभ होता है। समाज की कुल माँग भी कम हो जाती है। उत्पादन कम हो जाता है। बहुत से मजदूर बेकार हो जाते हैं। मन्दी आने पर ऐसा भी होता है कि किसी चीज की माँग एकदम कम हो जाती है। उस हालत में उस चीज को तैयार करनेवाले जितने फर्म होते है। सभी स्थगित हो जाते हैं मजदूरों को तो केवल उसी चीज के बनाने में विशिष्टता रहती है इसलिये वे भी बेकार हो जाते हैं। स्थानीयकरण की उपमा इसीलिये एक ही टोकरी में सभी अंडो के रखने की रीति से दी गई है।

कोई-कोई उद्योग ऐसा होता है कि उसमें केवल मर्द ही काम कर सकते हैं या केवल औरतें ही। जब इस तरह के उद्योगों का स्थानीयकरण हो जाता है तब दूसरे लिंग के व्यक्तियों को वहाँ काम नहीं मिल पाता। लोहे के कारखानों में अधिकांश मर्द ही काम करते हैं। स्त्रियों के करने लायक काम उनमें रहते नहीं। इससे मजदूरों के परिवार की मजदूरी काम पड़ती है और उससे उनकी परवरिश भी ठीक से नहीं हो पाती। यह हानि उस हालत में दूर हो जा सकती है जब दूसरे लिंग के व्यक्तियों को भी काम देने के लिये सरकारी उद्योग खुल जायँ। जब तक यह नहीं होता तब तक उस जगह की सम्पूर्ण जनसंख्या और पूर्ण रोजी देने की सम्पूर्ण सामर्थ्य में काफी अन्तर हो जाता है (Lack of balance between total population and total business activity)।

जनसंख्या का भी देशगत वितरण ठीक नहीं होता। एक जगह आवश्यकता से अधिक लोग रहते हैं। वहाँ की आबादी आवश्यकता से अधिक घनी हो जाती है। दूसरी जगहों में आबादी बहुत ही कम रहती है।

स्वास्थ्य की नजर से भी वहाँ कुछ क्षति होती है। एक ही जगह अधिक लोगों के रहने से वहाँ बहुत सी गन्दी बस्तियाँ (Slums) पैदा हो जाती हैं। लोग तंग जगहों में निवास करते हैं। मकानों के भाड़े बढ़ जाते हैं। कोलाहल, धुँआ, धूल, भीड़-भाड़, आदि का बुरा प्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ता है। इससे स्त्रियों की सन्तानोत्पादन-शक्ति घट जाती है। बच्चों की ज्यादा मृत्यु होती है। जवान मजदूर भी कुपथ्य में काल-कवलित होते हैं। खुले मैदानों का अभाव रहता है। लोगों को घुमने फिरने, खेलने-कूदने के लिये जगह नहीं मिलती। सामाजिक हित और वैयक्तिक हित में कलह और संघर्ष पैदा हो जाते हैं।

जहाँ बहुत से मजदूर और मालिक रहते हैं, जहाँ दोनों दलों के संगठन विद्यमान रहते हैं वहाँ छोटी-छोटी बातों को लेकर अराष्ट्रीय

दलों के भड़कावे में पड़कर मजदूर मालिकों से जूझ पड़ते हैं जिससे हड़तालें हुआ करती हैं। इससे वर्गीय संघर्ष और भी उग्र हो जाता है।

फिर यह हरदम जरूरी नहीं कि सभी केन्द्रित फर्म अच्छी चीजें ही तैयार करें। उनमें से कुछ जगह की शोहरत से नाजायज फायदा भी उठाते और निकृष्ट वस्तुएँ तैयार कर उत्कृष्ट माल के नाम पर चलाते हैं। इससे उनके भोक्ताओं को क्षति पहुँचती है। यदि इस तरह का रवैया बहुत दिनों तक चला तब उस स्थान की विमल कीर्त्ति भी धूलि में मिल जायगी।

अति-स्थानीयकरण से एक नुकसान यह होता है कि उससे समाज अस्तव्यस्त हो जाता है। समाज के किसी एक भाग में भगदड़ मच जाती है। गाँव-के-गाँव उजाड़ पड़ जाते हैं और उनमें रहनेवाले घर-द्वारा छोड़कर काम करने के लिये उस जगह चले जाते और बस भी जाते हैं जहाँ किसी वस्तु के उद्योग का केन्द्रीयकरण हुआ होता है। समाज इससे क्षत-विक्षत होता है, टूट-फूट जाता है।

इस तरह की भगदड़ से एक भय और भी है। अगर किसी गाँव के अधिकांश मर्द काम करने किसी दूसरी जगह चले जायँ तब उस गाँव में थोड़े मर्द और बहुत औरतें रह जायेंगी। या ऐसा भी हो सकता है कि औरतें ही कपड़े की मिलों में बुनने ज्यादा तादाद में चली जायँ और देहात में कुछ स्त्रियाँ और बहुत मर्द रह जायँ। इससे व्यभिचार और अनैतिकता फैल सकती है।

युद्ध के दृष्टिकोण से भी अधिक स्थानीयकरण अच्छा नहीं कहा जा सकता क्योंकि जहाँ थोक-के-थोक फर्म हैं वहाँ दुश्मन एक बम गिराकर सारे उद्योग को तहस-नहस कर सकता है। वे ही फर्म अलग-अलग रहें तब इस तरह की आशंका नहीं रहने पाएगी।

उद्योग-धंधों के स्थानीयकरण के लाभों और नुकसानों के ऊपर विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि उससे नुकसान ही ज्यादा होता है परन्तु ये नुकसान ऐसे हैं कि इनको कुछ यत्नों को अपना कर उन्मूलित किया जा सकता है। यहाँ ऐसे ही साधनों के ऊपर प्रकाश

डाला जा रहा है। (१) स्थानीयकरण की त्रुटियों को हटाने के लिये सम्पूरक और सहकारी उद्योग-धंधे खोले जा सकते हैं और इनके द्वारा समूची आबादी और समूची रोजी की गुंजाइश के बीच संतुलन स्थापित किया जा सकता है। (२) अत्यधिक स्थानीयकरण को कम करने के लिये देश में आवागमन तथा यातायात के साधनों का विकास किया जा सकता है। उनके विकसित होने पर दूसरी जगहों में भी कोई उद्योग खुल सकेगा। ऐसा नहीं होगा कि केवल उसी जगह ही कोई उद्योग खुलेगा जहाँ केवल कच्चे माल या शक्ति के मिलने की यथेष्ट सुविधा हो। आरंभ में ही हम बतला आये हैं कि यातायात-व्यय भी स्थानीयकरण का निर्धारण करता है। (३) जल-विद्युत् को प्रचुर मात्रा में पैदा करने का इन्तजाम करके भी सरकार किसी उद्योग के स्थानीयकरण की अधिकता को कम कर सकती है। इससे एक जगह ही सभी फर्म खुलने के बजाय इधर-उधर खुलेंगे। (४) अगर कहीं किसी उद्योग के कारखानों की अनावश्यक बढ़ती हो गई है तब सरकार वहाँ के मकानों पर टैक्स लगाकर उनके किराए बढ़ा सकती है। वह सूद की दर भी बढ़ा सकती है। इसका दुष्परिणाम यह होगा कि मजदूर और उद्योगपति वहाँ कम उद्योग खोलना चाहेंगे। (५) ऐसे देशों में जहाँ देहातों की संख्या अधिक है देहाती उद्योग-धंधे भी खोले जा सकते हैं। जब शहर के उद्योगों में मन्दी भी आजायेगी और मजदूर बेकार भी होने लगेंगे तब भी इन ग्राम्य उद्योगों से बड़ा बचाव होगा। (६) मजदूरों के बदले मशीनों को जबसे प्रधानता मिलने लगी है तब से उद्योगों का स्थानीयकरण कम होने लगा। पुराने उद्योग-केन्द्रों में जीवन-परिव्यय (cost of living) बहुत बढ़ गया है। स्वास्थ्य-संबंधी अवस्थाएँ भी बहुत बुरी हो गई हैं। इससे भी अधिक स्थानीयकरण नहीं हो रहा है। (७) आज की सरकारें भी इस बात का बड़ा ख्याल रखती हैं कि अनावश्यक स्थानीयकरण न होने पावे। वे उद्योगों की स्थिति के ऊपर नियंत्रण रखने लगी हैं।

महाशय ए० वेरी एक बड़े प्रख्यात अर्थशास्त्री हैं। इन्होंने उद्योगों के स्थानीयकरण के संबंध में गंभीर विचार किये हैं। उनका मन्तव्य है कि उद्योग-प्रवर्तकों को अपने उद्योगों को मनोनुकूल स्थान में खोलने की स्वतंत्रता रहनी चाहिये। स्थिति-चयन की स्वतंत्रता सामाजिक हित में योग-दान करने वाली है। इस मत का सार यह है कि उद्योगों के संस्थापक उन्हें ऐसी जगहों में खोलते हैं जहाँ उन्हें उत्पादन करने में न्यूनतम खर्च पड़ता है और मुनाफा अधिकतम होता है। "आर्थिक स्वराज्य" का मतलब भी तो यही होता है। अगर सरकार उद्योगों की स्थापना में हस्तक्षेप करती है तब उद्योग-पतियों की स्वतंत्रता कम हो जाती है और उन्हें अनुपयुक्त जगहों में अपने उद्योगों को खोलने के लिये बाध्य होना पड़ता है। इसका सामाजिक और आर्थिक प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। वेरी महोदय का यही मत है। वे एक स्कूल के विचारकों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इसके विपरीत एक दूसरे स्कूल के अर्थशास्त्रियों का कथन है कि व्यक्तिगत उद्योगपति बहुत ही संकीर्ण विचार के होते हैं और स्थिति के बारे में उनका ज्ञान-क्षितिज संकुचित रहता है। इसीका नतीजा होता है कि बहुत से नुकसान उद्योगों के अति स्थानीयकरण से उत्पन्न होते हैं। सामाजिक नुकसान न होने पावे इसके लिये सरकारी हस्तक्षेप की परमावश्यकता है। सरकार समाज की आर्थिक व्यवस्था को इन नुकसानों से अलग रख सकती है। सरकार राष्ट्रीय हितों की संरक्षक है। व्यक्तिगत दृष्टिकोण जो कार्य सुविधाजनक और लाभदायक हो वह जरूरी नहीं कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी ऐसा ही हो। व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित में कभी-कभी भयंकर विरोध उपस्थित हो जाता है और इस विरोध का निराकरण करना सरकार का परम कर्त्तव्य है। प्रोफेसर पीगू ने आर्थिक स्वराज्य का समर्थन करते हुए भी उद्योगों की स्थिति के ऊपर नियंत्रण रखना जरूरी माना है। इंगलैंड में इस विषय के ऊपर काफी विचार-विमर्श हुए हैं। बारलोरिपोर्ट, यूथवाट रिपोर्ट या स्कॉट कमिटी रिपोर्ट में

उद्योगों की स्थिति (Location) के ऊपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इन सभी रिपोर्टों में इस बात पर काफी सहमति है कि जमीन के उपयोग और उद्योगों की स्थिति के ऊपर केन्द्रीय नियंत्रण रहना चाहिये। धीरे-धीरे लोग महसूस कर रहे हैं कि लेसेफेयर की नीति से अब समाज का काम नहीं चल सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था को योजनाकरण की अनिवार्य आवश्यकता है। शहरों और देहातों को नये सिरे से बसाने के उद्देश्य भी कुछ कानून इंगलैंड में स्वीकृत हुए हैं। उनमें से प्रमुख ये हैं—The Town And country Planning Act (1943), The Distribution of Industry Act (1945)।

सरकार का नियंत्रण इस दिशा में सकारात्मक (Positive) और नकारात्मक (Negative) दोनों तरह का हो सकता है। नकारात्मक नियंत्रण के द्वारा सरकार खास स्थानों में खास उद्योगों का खुलना एकदम रोक सकती है। सकारात्मक नियंत्रण के द्वारा सरकार खास स्थानों में खास उद्योगों के खुलने में प्रोत्साहन दे सकती है। लेकिन नियंत्रण चाहे किसी भी तरह का हो केन्द्रीय योजना-मंडल के ही द्वारा होगा और स्थानीय सरकारें (प्रान्तों की) भी केन्द्रीय योजना-मंडल से मिलजुलकर काम करेंगी। उद्योगों की स्थिति के नियंत्रण के लिये स्थानीय (Regional) और राष्ट्रीय (National) दोनों प्रकार के योजना करण की आवश्यकता है।

ऐसा भी हो सकता है कि देश को तीन तरह के हिस्सों में बाँट दिया जाय। वे हिस्से (Zones) होंगे—स्वतंत्र हिस्सा (जिसमें किसी को कहीं भी उद्योग खोलने की पूरी स्वतंत्रता रहेगी), निषिद्ध हिस्सा (उसमें बिना सरकार की आज्ञा के कोई उद्योग नहीं खोला जा सकता) और भाड़े पर लगनेवाला (Rental) हिस्सा (उसमें बँधे शुल्क देने पर उद्योग खोलने की अनुमति दी जा सकती है) भारतवर्ष में चीनी के उद्योगों में (और बिहार में तो पुस्तक-प्रकाशन और पुस्तक-विक्रय को भी) इसी तरह की पद्धति अपनाई गई है।

भारतीय सरकार ने भी उद्योगों के स्थानीयकरण के ऊपर अपना मत घोषित किया था। इसके आर्थिक परामर्शदाता (Economic Adviser) ने एक पुस्तिका प्रकाशित की थी। उसमें जो मत अभिव्यक्त किया गया है उसके दो व्यापक रूप हैं—एक तो यह कि औद्योगिक विकास का स्थानीय (Regional) योजनाकरण हो और दूसरा यह है कि किसी भाग में उद्योगों के अत्यधिक स्थानीय-करण को रोका जाय।

इस प्रकाशन में स्पष्ट रूप से यह बात स्वीकार की गई है कि भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और अभीतक उसकी जो आर्थिक उन्नति हुई है वह इस बात को व्यावहारिक नहीं साबित करती कि सरकार उद्योगपतियों के निजी निर्णयों और नीतियों में भरपूर हस्तक्षेप कर सके। एक तो भारत के उद्योगपति बुजदिल हैं और वे सरकारी हस्तक्षेप से बहुत डरते हैं। फिर भी इस प्रकाशन में यह महसूस किया गया है कि भारतवर्ष की औद्योगिक हालत अविकसित है और इस परिस्थिति में सरकार का थोड़ा-बहुत हस्तक्षेप होना अत्यन्त आवश्यक है। यह इतना बड़ा देश है कि अगर सरकार की पूरी नजर नहीं रहे तो उसका औद्योगिक विकास बेढंगा और असंतुलित हो सकता है। इस विचार से उद्योगों की स्थिति का स्थानीय और राष्ट्रीय योजनाकरण होना न्याय सम्मत ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य भी प्रतीत होता है।

द्वादश अध्याय

वैज्ञानिक प्रबन्ध

(Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध का आरंभ अमेरिका में लगभग तीस-पैंतीस वर्षों पूर्व हुआ था। वैज्ञानिक प्रबन्ध कोई आविष्कार नहीं है। यह एक गत्यात्मक वस्तु है। इसके सिद्धान्त विकसित और परिवर्तित होते रहते हैं। अपने आरंभ में इसका निकट संबंध शारीरिक श्रम से था। आगे चलकर इसका पूरा उपयोग यंत्र-विषयक कार्य में भी होने लगा। "वैज्ञानिक प्रबन्ध" शब्द-समूह से ही ज्ञात हो जाता है कि इसका सम्पर्क विज्ञान से है। वस्तुतः मजदूरों और मशीनों से जो काम लिया जाता है उसके प्रबन्ध में वैज्ञानिक प्रसाधनों और वैज्ञानिक ज्ञान की पूरी सहायता ली जाती है। जब तक मनुष्य के औद्योगिक जीवन में विज्ञान का पदार्पण नहीं हुआ था तब तक मनुष्य का वश प्रकृति की भयावह और प्रबल शक्तियों के सामने नहीं चलता था। लेकिन मनुष्य के चतुर मस्तिष्क ने कालान्तर में प्रकृति को पराभूत कर डाला और उसने अपूर्व और अनूठे वैज्ञानिक यंत्रों का आविष्कार किया और अब तो विज्ञान मनुष्य के दैनिक जीवन का एक अविच्छेद्य अंग बन चुका है। विज्ञान ने जीवन के हर पहलू को आन्दोलित कर दिया है और वर्त्तमान विज्ञान-संकुल युग में विज्ञान से परे किसी उद्योग की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इस तरह के परिवर्तन से औद्योगिक उत्पादन का उन्नयन और उत्थान हुआ है।

प्रधानतः वैज्ञानिक प्रबन्ध किसी बड़े उद्योग में काम करनेवाले कर्मचारी-मंडल के पारस्परिक संबंध भावों और कार्यों को पुनर्संगठित और पुनर्विभाजित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। इस साधन का प्रयोजन नियुक्त किये गये कर्मचारियों के दायित्वों को न्यूनतम करके उनकी समस्त निपुणता को बढ़ाना है। इसके लिये कर्मचारियों

की कार्य-प्रणाली का गंभीर अध्ययन किया जाता है। उन्हें विशिष्ट आदेश दिये जाते हैं। इससे उनके शारीरिक श्रम का कम-से-कम खर्च होता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध एक संश्लिष्ट कला है। यह एक अदम्य साहस से ओत-प्रोत कार्य है। इसके अनुसार उद्योग-संबंधी प्रश्नों का ठिकाने के साथ विश्लेषण, निरीक्षण, परीक्षण और विवेचन होता है। इससे बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं।

महाशय परसर ने इसकी परिभाषा इस तरह से की है:—"The term 'Scientific Management' characterizes that form of organization and procedure in purposive collective effort which rests on principles or laws derived by the process of scientific investigation and analysis, instead of on tradition or on policies determined empirically and casually by the process of trial and error."।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के आन्दोलन के अग्रगामी नेता इस बात से सहमत होते हैं कि प्रत्येक उद्योग या व्यवसाय की आन्तरिक समस्याओं को दो वर्गों में बाँटा जाता है। एक वर्ग में वे समस्याएँ आती हैं जो किसी उद्योग की व्यक्तिगत समस्याएँ होती हैं। दूसरे वर्ग में वे समस्याएँ आती हैं जो सभी उद्योगों के लिये समान होती हैं।

वैज्ञानिक प्रबन्ध मनुष्य और मशीन दोनों से संबंधित होते हुए भी मनुष्य को मशीन के आगे रखता है। मनुष्य मशीनों के साथ खटते हैं। इसलिये वैज्ञानिक प्रबन्ध के तत्वावधान में ऐसा इन्तजाम किया जाता है कि न्यूनतम प्रयास से अधिकतम लाभ उठाया जा सके। किसी काम को करने के लिये मजदूरों को जो देह घुमाना-फिराना पड़ता है या गति बदलनी पड़ती है उसीका अध्ययन पूरे ध्यान के साथ किया जाता है। गति बदलने में मजदूर की मिहनत लगती है। मिहनत कम-से-कम लगे इसीका इन्तजाम वैज्ञानिक प्रबन्ध में किया जाता है। मजदूरों को किस तरह गति बदलनी चाहिये इसकी

शिक्षा दी जाती है। उसी ढंग में उन्हें कुशल बनाया जाता है। उनकी शिक्षा-दीक्षा, सीखने-समझने की पूरी व्यवस्था की जाती है। इससे स्फूर्ति, समय और चिन्तन में बचत होती है। मजदूरों की सामर्थ्य को सबसे अधिक उपयुक्त स्रोतों में उन्मुख किया जाता है।

इस तरह वैज्ञानिक श्रमिकों को कार्य के लिये उनके जो दायित्व और अधिकार होते हैं उस दायित्व और अधिकार से भी वंचित कर देता है। कारखाने के अन्तर सब कुछ आदेश-घड़ी (Stop-watch) और आदेश-पत्र (Instruction card) के द्वारा निश्चित किया जाता है। योजनाकरण और कार्यान्वय के बीच भेद किया जाता है। दिमागी काम करने वालों और दैहिक काम करनेवालों के बीच भी भेद किया जाता है। दिमाग से काम करना मसलों से काम लेने से अधिक महत्त्व रखता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध में किसी उद्योग के प्रत्येक फर्म को एक-एक इकाई के रूप में देखा जाता है। कम-से-कम नुकसान (waste) हो इसकी ओर ध्यान दिया जाता है। इतना होते हुए भी उद्योग के टेकनिकल संगठन को प्रथम स्थान दिया जाता है। इसीका नतीजा होता है कि फर्मों की गुटबन्दी बहुत होती है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। पहली प्रवृत्ति के अनुसार विचारण तथा निर्णय के विषयों में नियंत्रण के विशिष्टीकरण के साथ नियंत्रण का केन्द्रीयकरण भी होता है। दूसरी प्रवृत्ति के अनुसार यंत्र-तंत्रों का अध्ययन होता है और श्रमिकों की शारीरिक चेष्टाओं की निपुणता की कमी-वेशी पर विचार किया जाता है। इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय योजना-विभाग (Planning Department) में होता है। प्रबन्ध-मंडल के शीर्ष पर संचालक होते हैं जिनका कार्य अर्थ-संबंधी बातों की देख-रेख करना होता है। उनके बाद प्रबन्धकों को (मैनेजरों) का एक दल होता है प्रबन्धक फर्म के दैनिक प्रश्नों को हल किया करते हैं। इसके बाद व्यय-लेखन (Cost Accounting) का विभाग आता है। इस विभाग में फर्म में होनेवाले सभी व्ययों का सांगोपांग अध्ययन किया जाता है। फिर फोरमैन

और बॉस आते हैं। ये मशीनों और मजदूरों की देख-रेख करते रहते हैं और उनसे अधिक धिक काम लेने की कोशिश करते हैं। अन्त में खरीद-बिक्री और माल-गोदाम के विभाग आते हैं और उनमें भी यथेष्ट मनोयोग के साथ काम किया जाता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा प्रामाणिककरण (Standardisation) एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। दोनों की मूल प्रेरक शक्ति श्रम-विभाजन ही है। दोनों निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्त्ति करना चाहते हैं—(१) मजदूरों की स्वाभाविक वृत्तियों का विकास करना (२) इन प्रवृत्तियों का सदुपयोग करना (३) दूसरों को भी यह अवसर देना कि वे भी चातुरी को प्राप्त कर सकें (४) लोगों के प्रयास को सरल और सुगम बनाना और 'मोटर हैबिट' जगाकर भारी से भारी कार्यों को भी श्रमिकों के बाँयें हाथ का खेल बना देना (५) मजदूरों के समय और शक्ति का न्यूनतम व्यय - उनके किसी कार्य का केवल बहुत ही छोटा भाग सम्पन्न कराना और नसों पर पड़नेवाले तनाव को कम करना (६) यंत्रों का भी सदुपयोग करना। इन ध्येयों की सफलता के लिये औद्योगिक प्रक्रियाओं को यथासंभव अनुरूप बनाकर उन्हें एक सारिणी (Routine) में अन्तर्बद्ध कर दिया जाता है। प्रत्येक प्रक्रिया को भी कई भागों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक भाग को सम्पन्न करने के लिये एक छोटी मशीन का आयोजन किया जाता है। ऐसा मालूम होता है मानो वैज्ञानिक प्रबन्ध में श्रम-विभाजन की विशेषताओं को आत्मगत करने के लिये हथौड़े से तोड़-फोड़कर कार्यावलियों के साँचे में कर्मचारियों को समाविष्ट किया जा रहा हो! इसमें श्रमिकों के दो खंड किये जाते हैं—चतुर और अचतुर श्रमिक। वैज्ञानिक प्रबन्ध अचतुर श्रमिकों से ही सबसे ज्यादा काम लिया जाता है। विज्ञ और चतुर श्रमिकों की संख्या अविज्ञ और अचतुर श्रमिकों की संख्या की तुलना में बहुत कम होती है। अविज्ञ मजदूरों को अपेक्षाकृत बहुत कम मजदूरी देनी पड़ती है। इससे आर्थिक लाभ काफी होता है।

मजदूर नियमित समय कारखाने में पहुँच जाता है। फाटक से लेकर उसकी जगह तक कितने आदेश-पत्र लटके रहते हैं। उसे उनको पढ़ना पड़ता है और उनके आदेशों पर चलना पड़ता है। उसे विवेक, बुद्धि, तर्क, विवेचन से काम लेने की कोई जरूरत नहीं। जिस तरह आदेश मिले हैं उसी तरह उसे काम करना है उसके शरीर की जाँच पड़ताल करने के लिये शरीरशास्त्र के विद्वान् रहते हैं। उसके मस्तिष्क की जाँच पड़ताल करने के लिये मनोवैज्ञानिक भी रहते हैं। उनकी सलाह के अनुसार उसे काम करना पड़ता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध में तीन तरह के अध्ययन किये जाते हैं—(१) समय का अध्ययन–काम करने में कितना समय किस मजदूर को लगता है। (२) गति का अध्ययन-काम करते समय किसी मजदूर को कितना स्थान-परिवर्तन करना पड़ता है (३) अवसाद का अध्ययन—काम करने से कौन मजदूर कितना थकता है। मजदूरों को एक ऐसी मजदूरी दी जाती है जो पीस-वेज और टाइम-वेज की मध्यमा होती है।

इस तरह विचार करने पर हमें (जैसा कि एक लेखक ने बतलाया है) वैज्ञानिक प्रबन्ध के अग्रलिखित लक्षण ज्ञात होते हैं:— (१) परीक्षण (Experimentation) (२) मजदूरों का वैज्ञानिक चुनाव और दीक्षण (३) कार्यों का वैज्ञानिक विभाजन (४) मालों का वैज्ञानिक चुनाव और उपयोग (५) निपुण और नूतनतम मशीनें और औजार (६) उद्योगशाला में उत्तम (congenial) वातावरण (७) कार्य विषयक देखरेख (Functional Foremanship) और योजनाकरण (८) अधिक काम लेने के लिये मजदूरी की प्रेरणाएँ (Incentives) (९) व्यय-लेखा का दुरुस्त होना और प्रभावों के अनुसार प्रगति की अनवरत जाँच (१०) मानसिक क्रान्ति।

वैज्ञानिक प्रबन्ध श्रम-व्यय को कम करने की चेष्टा करता है। इसमें मजदूरों के गुण-दोषों की परीक्षा होती है। वस्तुओं का प्रामाणिक-करण होता है। उनकी औसत कीमत कम हो जाती है क्योंकि प्रामाणिकता की वजह बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध

के समर्थक कहते हैं कि इसके तत्वावधान में मजदूरों को पहले से अधिक मजदूरी मिलती है, चूँकि चीजें सस्ती हो गई हैं इसलिये उन्हें बचत भी होती है। लेकिन वैज्ञानिक प्रबन्ध के निन्दक कहते हैं कि मजदूरों को कम मजदूरी मिलती है क्योंकि कार्य की गति बहुत अधिक होती है और कम मजदूरों से ही काम चल जाता है। इतना ही नहीं मजदूरों को बहुत ही खटना पड़ता है और उनकी शक्ति (इनर्जी) का बहुत अधिक ह्रास होता है। उन्हें अपने अंगों से इतना काम लेना पड़ता है और उनपर इतना अधिक भार पड़ता है कि काम करने के बाद मजदूर हारे-हारे-से दीखते हैं। चूँकि कम ही मजदूरों से काम चला लिया जाता है इसलिये बहुत से मजदूरों की छँटनी हो जाती है। वे बेकार हो जाते हैं। इसे टेकनिकल बेकारी कहते हैं। जिन मजदूरों से काम लिया जाता है उन्हें भी बेकारी की बड़ी आशंका रहती है और वे डर के मारे कम मजदूरी पर ही काम करने के लिये तैयार रहते हैं। उनकी यह लाचारी बहुत बड़ी होती है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के कर्णधारों का कथन है कि यह मजदूरों को स्वतंत्ररूप से सोचने-विचारने के लिये प्रोत्साहित करता है। यह एक बहुत महत्वपूर्ण देन माना जाता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध मजदूरों की बुद्धिमत्ता को बढ़ाता है। उन्हें सामूहिक रूप से मालिकों से मजदूरी निर्धारित (संक्षेप में इसे Collective Bargaining कहा जा सकता है) करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे अपने मालिकों से अपनी मजदूरी अलग-अलग ठीक कर सकते हैं (इसे Individual Bargaining कहते हैं)। लेकिन वैज्ञानिक प्रबन्ध के आलोचक कहते हैं कि यह मजदूरों की बुद्धिमत्ता को खत्म कर डालता है और उन्हें मशीन की तरह बना डालता है जिससे उन्हें दूसरों के संकेतों के अनुसार काम करना पड़ता है। उनकी जिज्ञासा की भावना और आलोचना की शक्ति मृतप्राय हो जाती है। यह बहुत बड़ा नुकसान है। मजदूर-संघों के नेताओं का मत है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध अप्रजातंत्रात्मक आन्दोलन है।

मजदूरों को एकरस (मोनोटोनी) से काम करना पड़ता है। एक ही काम को हरदम करते-करते उनका दिल ऊब जाता है। बहुत से मजदूरों का स्वास्थ्य भी काफी गिर जाता है और वे किसी काम के नहीं (Misfit) रह जाते। काम में कोई नयापन नहीं रह जाता। वे नूतनता का स्पन्दन भी नहीं महसूस कर पाते। मालिकों और उनके मजदूरों में कोई निकट संबंध नहीं रह जाता। संचालकों और प्रबंधकों की ज्यादती बढ़ जाती है। लाल फीतेबाजी का भयंकर प्रकोप छाया रहता है। कारखाने में "प्लैट फॉर्म पद्धति" रहती है। मजदूर कतारों में बैठकर काम करते हैं। "कन्वेयर वेल्ट" सदा घूमता रहता है। वह पहले मजदूर से आखिरी मजदूर के पास घूमता हुआ जाता रहता है। हर मजदूर वेल्ट का स्वागत करने के लिये नयनों के पाँवड़े बिछाए रहता है और वेल्ट के पहुँचते ही वह अपना काम कर देता है। वेल्ट फिर आगे बढ़ जाता है। कच्चे माल से लेकर तैयार माल के बीच जितने काम होते हैं वेल्ट के सहारे सम्पादित होते हैं। अगर मजदूर ने पल-भर की भी भूल की, अगर एक सेकन्ड भी उसका ध्यान कहीं दूसरी ओर चला गया तो काम बिगड़ जायगा और अगर उसने 'गति' लेने में जरा-सी भी गलती की तो उसकी जान भी चली जा सकती है, वह मशीन में पिस जा सकता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि मजदूर ने बेचारे मशीन के छोटी दाँती (Cogs) की तरह बन जाते हैं। वे स्थान-परिवर्तन भी नहीं कर सकते। उनकी गत्यात्मकता भी बर्बाद हो जाती है।

टायलर महाशय वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रमुख भाष्यकर्त्ता जन्मदाता कहे जाते हैं। उनका तर्क है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध से मजदूर में गर्व का भाव बढ़ता है। उसे अपने काम पर नाज होता है। उसकी निपुणता बढ़ जाती है। वह अपने मालिक के लिये अपने को अपरिहार्य (Indis-pensable) समझता है और यह सोचता है कि उसके बिना उसका काम ही नहीं चल सकता। इस विचार से उसका मस्तक गर्वोन्नत हो जाता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की अन्य त्रुटि यह बतलाई जाती है कि इससे मजदूरों की कला-चेतना (Craft Consciousness) का लोप हो जाता है। जब उन्हें निर्जीव मशीनों की भाँति ही काम करना पड़ता है तब उनमें कला-चेतना कहाँ रह जाती है ? इससे मजदूरों की व्यावसायिक एकता को धक्का पहुँचाता है और विभिन्न उद्योगों के मजदूर सहयोग-पूर्वक काम नहीं कर पाते। लेकिन कोल महाशय का तर्क है कि कला-चेतना का ह्रास भले हो परन्तु मजदूरों की वर्ग-चेतना (Class Consciousness) दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है। अगर उनकी मुसीबतें बढ़ती जायँ तो एक दिन वे मालिकों के विरुद्ध विद्रोह कर सकते हैं। मजदूरों का वर्ग अधिकाधिक संगठित होता जा रहा है, भले ही मजदूर-संघों की नींव कमजोर होती जा रही है। मगर उत्पादन के ढंग नये तुले होते जा रहे हैं और इससे मजदूरों की बेकारी बढ़ती जा रही है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के पक्षपाती कहते हैं कि इसके फलस्वरूप वस्तुओं के दाम घट जाते हैं और इससे भोक्ता-वर्ग को फायदा होता है और उनकी बचत बढ़ जाती है। दूसरी ओर इसके विरोधी कहते हैं कि इसके फलस्वरूप भोक्ताओं की बचत पहले से कम हो जाती है। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि चूँकि वैज्ञानिक प्रबन्ध पर आधारित फर्मों को विवश होकर एक गुट बनाना पड़ता है और वे किसी वस्तु की पूर्ति के एकाधिकारी बन जाते हैं इसलिये वे उस वस्तु के क्रेताओं से बहुत दाम ले सकते हैं और उनकी बचत को भी कम कर सकते हैं। वैज्ञानिक प्रबन्ध के चलते छोटे-छोटे फर्मों को बड़े फर्मों के द्वारा तैयार की गई सूली पर लटकना पड़ता है। वे बड़े फर्मों का कतई मुकाबला नहीं कर सकते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि उन्हें सदा के लिये नष्ट हो जाना पड़ता है।

अपने ग्रन्थ "Industrial Psychology" में डा० सी० एस० मायर्स ने टैलरिज्म—टैलरवर्णित वैज्ञानिक प्रबन्ध—की आलोचना अग्रलिखित शब्दों में की है—"It is unscientific because

obviously no accurate information is available upon which the amounts to be deducted for the allowances made can be based. It is anti-social as it aims at excluding as far as possible the average workman. It is unpsychological since it is a measure of rate of work obtained under abnormal condition and in circumstances that cannot fail to arouse an undesirable mental atmosphere throughout the factory."।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की जिन बुराइयों का उल्लेख ऊपर किया गया है वे पूँजीवादी देशों में ही देखी जाती हैं। समाजवादी देश में भी वैज्ञानिक प्रबन्ध से काम लिया जाता है। लेकिन वहाँ उसकी ये बुराइयाँ नहीं पाई जातीं। इसका कारण यों है। पूँजीवादी देशों में मजदूरों को मालिकों के मुनाफे को बढ़ाने के लिये खटना पड़ता है और इसलिये उनका मन काम में नहीं लगता है। दूसरी ओर, समाजवादी देश (जैसे रूस) में मजदूर खूब मन लगाकर काम करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उनके अधिक परिश्रम के फलस्वरूप धन की जो वृद्धि होगी उससे उनका देश धनी होगा, उनकी ही उन्नति होगी और इससे मजदूरों को भी लाभ होगा—उन्हें अधिक वेतन मिलेगा, खाने के लिये अधिक अन्न मिलेगा, पहनने के लिये अधिक वस्त्र मिलेगा, रहने के लिये सुन्दर घर मिलेगा, उनके बाल-बच्चों को शिक्षा-दीक्षा का, सबको दवा-दारू का सुन्दर प्रबन्ध होगा। फिर, वैज्ञानिक प्रबन्ध-जनित तकलीफों को दूर करने के लिये समाजवादी देश में मजदूरों के लिये बहुत-से इन्तजाम किये जाते हैं—उनके लिये जलपान, आराम, जल एवं प्रकाश, अवकाश और छुट्टी, मनोरंजन के साधनों (जैसे, सिनेमा और थियेटर, रेडिओ और संगीत), उनके लिये अच्छे समुदायों की व्यवस्था की जाती है और इससे मजदूर किसी तरह की कठिनाई नहीं मालूम करते।

पूँजीवादी देश में भी उद्योग-मालिक अब सरकार के तत्वावधान में वैज्ञानिक प्रबन्ध की बुराइयों के निराकरण के लिये उपर्युक्त चीजों का प्रबन्ध करने लग गये हैं। इससे वैज्ञानिक प्रबन्ध के आन्दोलन में बल आने लगा है और उसकी लोकप्रियता भी बढ़ने लगी है।

त्रयोदश अध्याय

चेतनाकरण (Rationalisation) की विशेषताएँ

प्रथम महायुद्ध के कारण जर्मनी को बहुत गहरा धक्का पहुँचा था और वह एक प्रकार से दरिद्र हो गया था। अगर रैशनलाइजेशन का सहारा वह नहीं लेता तो उसकी ताकत उतनी बड़ी नहीं हो जाती जितनी बड़ी वह द्वितीय महायुद्ध के समय हो गई थी। जर्मनी के लिये रैशनलाइजेशन अपरिहार्य हो गया था।

रैशनलाइजेशन समूचे उद्योगों की निपुणता को उच्चतम शिखर पर पहुँचाने की कोशिश करता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध में फर्म को कार्य-प्रणाली की इकाई माना जाता है, रैशनलाइजेशन में एक-एक उद्योग को। इसके अनुसार भी ऐसा इन्तजाम किया जाता है कि किसी उद्योग में सबसे कम नुकसान होने पावे, और अगर किसी बात में निपुणता का अभाव है तो उसको भी दूर किया जाय। इसके द्वारा माँग और पूर्त्ति में संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है।

यह एक टेकनिकल तर्ज (technical cult) है जो लगभग २६-२७ वर्षों की उपज है। यह "आत्म-संरक्षण" (self-preservation) का उच्छ्वास है जो प्रथम महायुद्धजनित निराशा से निकला था।

पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली में असंतुलन या असाम्यावस्था को दूर करने के लिये माँग और पूर्त्ति की प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर करना पड़ता है। लेकिन इससे समाज को नुकसान पहुँचता है और लोगों की तकलीफें बढ़ जाती हैं। कभी अत्युत्पादन होता है तो कभी अल्पोत्पादन। रैशनलाइजेशन के समर्थक कहते हैं कि मन्दी को आने से रोकना चाहिये। उसके पूर्व लक्षणों के शुरू होते ही मन्दी के आगमन के खिलाफ मोर्चाबन्दी आरंभ हो जानी चाहिये। अगर ऐसा नहीं किया जाता तो समाज की कठिनाइयाँ बढ़ जायेंगी।

व्यापार-चक्रों को रोकने के लिये दो उपायों को अपनाना होगा। एक तो सम्बद्ध प्रबन्ध का सहारा लेना होगा, दूसरे वैज्ञानिक संगठन करना होगा।

रैशनलाइजेशन के प्रधान भाष्यकर्त्ता बैलफोर महोदय हैं। उनके मतानुसार रैशनलाइजेशन के तीन प्रमुख अंग हैं—(१) आधुनिककरण—उत्पादन-प्रणाली को समीचीन बनाना। (२) वैज्ञानिक प्रबन्ध (इसका सविस्तार उल्लेख पीछे किया जा चुका है)। (३) सम्मिश्रण—किसी उद्योग के कई फर्मों को एक केन्द्रीय संस्था में गुम्फित करना।

१९२७ ई० में जिनेवा में जो World Economic Conference हुआ था उसमें रैशनलाइजेशन की परिभाषा इस तरह से की गई थी—' Rationalization includes the scientific organization of labour, standardization both of material and products, simplification of processes and improvements in the system of transport and marketing"। यह खुद एक व्यापक परिभाषा है। इसमें औद्योगिक इकाइयों के पुनः संगठन और उनके पूँजी मिलने से ताल्लुक रखने वाली बातों को जोड़ देने से यह परिभाषा परिपूर्ण हो जायगी। रैशनलाइजेशन के टेकनिकल पहलू में ये आते हैं—Standardization, Simplification, Intenification, Mechanization, Specialization और Functionalization। हम पीछे इन सभी पहलुओं को समझा चुके हैं।

रैशनलाइजेशन के उद्देश्य ये होंगे—(१) उन फर्मों की आनाकानी को बन्द करना जो आदर्श आकार (optimum size) ग्रहण करना नहीं चाहते। (२) अक्षम और दुर्बल फर्मों को बन्द करके उत्पादन को सबसे अधिक निपुण फर्मों में केन्द्रित करना। (३) पूरी सामर्थ्य के अनुसार उत्पादन करना और उससे वृहत् विस्तार की सुविधाओं को उपलब्ध करना (४) समूचे उद्योग में

चेतना भर देना और फर्मों को विवेचन (Reason) के साथ काम करने के लिये बाध्य करना।

आधुनिकरकण (Modernisation) के अनुसार पुरानी मशीनों को हटाकर उनकी जगह अति-आधुनिक नई मशीनों को स्थापित किया जाता है। वे अधिक उत्पादन करती हैं। उनकी क्षमता अधिक होती है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के अनुसार कम-से-कम मिहनत से अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जाता है। फर्मों का सम्मिश्रण होता है। रैशनलाइजेशन के प्रशंसक कहते हैं कि जब फर्म पृथक-पृथक काम करते हैं तब उससे बड़ी असुविधा होती है। जब वे मिल-जुलकर काम करने लगते हैं तब बाजार-संबंधी सवाल हल हो जाता है और कई लाभ होते हैं। समस्त उद्योग का स्वास्थ्य और निपुणता बढ़ जाती है। कमजोर फर्म उद्योग की प्रगति में बाधक होते हैं। वे उद्योग के लिये कोढ़ की तरह होते हैं। उन्हें काटकर हटा देने में ही भलाई है। निपुण फर्म उद्योग के लिये गौरवदायी होते हैं। उन्हें एक में पिरो देने में ही सच्ची भलाई होती है। तभी उद्योग एक संगठित आधार पर काम कर सकता है।

रैशनलाइजेशन के अपनाने से उद्योग में नई जान आ जाती है, नई लहर दौड़ जाती है। बाजार के कार्यों के संगठित हो जाने से यातायात के खर्च कम हो जाते हैं। सामयिक उथल-पुथल नहीं पैदा होती। फर्म अलग-अलग तैरने और डूबने के बदले साथ-साथ तैरते, एक-दूसरे के गुण-बुद्धि से लाभ उठाते और व्यवसाय-सागर का सफलता पूर्वक सतरण कर पाते हैं। जब प्रतियोगिता सम्पन्न पूँजीवाद का नामोनिशान भी नहीं तब बिना एकता और सहयोग के काम भी नहीं चल सकता।

रैशनलाइजेशन आर्थिक शक्तियों की मुक्त क्रीड़ा के साथ इसलिये छेड़छाड़ करता है कि वे समाज के कल्याण पर कुठाराघात नहीं कर सकें। उद्योग और उसके फर्मों के बीच आवश्यकरूप से सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

जब फर्म अलग-अलग काम करते हैं तब उनके विस्तारीकरण करने के पहले उनके अधिपतियों को अग्रलिखित बातों के ऊपर विचार करना पड़ता है : (१) क्या विस्तार बढ़ाने से टेकनिकल लाभ हो सकेंगे ? (२) आर्थिक और प्रबंध-संबंधी बातें क्या-क्या हैं ? (३) क्या उत्पादन बढ़ाने पर विक्रय खर्च नहीं बढ़ जायगा ? (४) बाजार के साथ किस तरह पेश आना होगा ? माँग और पूर्ति का संतुलन असंभव तो नहीं है, आदि । (५) लोकमत पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? लेकिन फर्मों के व्यक्तिगत निश्चयों में अनुरूपता नहीं होती और इससे समाज का सच्चा कल्याण नहीं होता । पूर्ण और विशुद्ध प्रतियोगिता की कमी से सारा गुड़ गोबर हो जाता है । ऐसी हालत में रैशनलाइजेशन की आवश्यकता सबसे अधिक जान पड़ती है । इसके द्वारा भोक्ताओं की अंट-शंट, विचित्र इच्छाओं के ऊपर अंकुश रखा जाता है । चीजों के इधर-उधर भेजने का खर्च कम हो जाता है । रैशनलाइजेशन प्रतियोगिता की अधिकता की दवा नहीं, वह उसकी न्यूनता की दवा है ।

लेकिन हर हालत में यह नहीं कहा सकता कि भोक्ताओं की इच्छाओं की असमानता समाज की भलाई में बाधक होती है । कभी-कभी ऐसा होता है कि कुछ भोक्ता ऐसे विक्रेता के यहाँ से सौदा मोल लेते हैं जो बड़ा सहृदय व्यक्ति होता है, उनकी पूरी सेवा करता है, उनकी इच्छा पूर्ण होने में कम समय लगता है । कुछ भोक्ता अपने अड़ोस-पड़ोस के विक्रेताओं के यहाँ से चीजें खरीदते हैं। अगर उनको उनके यहाँ से चीज नहीं खरीदने के लिये बाध्य किया जाय तो इसके लिये विज्ञापन में बहुत खर्च करना पड़ेगा क्योंकि "बूढ़ा सुग्गा (उपभोक्ता) पोस नहीं मानता" और "बूढ़ा सुग्गा नई बोली जल्दी सीख भी नहीं सकता" । इतना ही नहीं, विभिन्नता ही जीवन का रस होती है । अगर भोक्ताओं की विचित्र इच्छाओं के ऊपर दबाव डाला जायगा तो उससे उनके संतोष को चोट पहुँचेगी ।

इन तर्कों के बावजूद भी हम देखते हैं कि वस्तु-स्थिति कुछ

दूसरी है। चीजों के विज्ञापन पर ४०% खर्च करना पड़ता है। अगर भोक्ता अनुरूप चीजों की माँग करें तो वृहत् पैमाने पर उनका उत्पादन हो सकेगा और इससे उत्पादन-व्यय कम पड़ेगा।

अगर सरकार रैशनलाइजेशन की शुरूआत डालनी चाहती है तो वह जुर्माना और दंड का विधान करके उन फर्मों को सजा दे सकती है जो उसके आदेशों को नहीं मानते। वह मजदूरी और सूद का भी नियंत्रण कर फर्मों को रैशनलाइजेशन स्वीकार करने के लिये प्रभावित कर सकती है, इस तरह वह कमजोर फर्मों को किसी उद्योग से निष्कासित कर सकती है। इसीलिये रॉबिन्सन ने कहा है कि "औद्योगिक गैंगरीन के लिये रैशनलाइजेशन एनैस्थेटीक सरजरी का काम करता है"।

रैशनलाइजेशन को केवल फर्मों के विरोध का ही सामना नहीं करना पड़ता बल्कि उन्हें मजदूर-संघों के प्रतिरोध का भी मुकाबला करना पड़ता है। रैशनलाइजेशन को कार्यान्वित करने पर कुछ मजदूर बेकार हो जाते हैं। अगर उनको रोजी देने का इन्तजाम नहीं किया गया तो विरोध की सबसे अधिक संभावना रहती है। वैयक्तिक उत्पादनकर्त्ता तो बेकार मजदूरों की परवाह नहीं करते। अगर सरकार भी ऐसा ही करने लग जाय तो बेकार मजदूरों की तकलीफें बढ़ जा सकती हैं। ऐसी दशा में सरकार का हस्तक्षेप अनिवार्य हो जाता है। या तो पूर्ण और विशुद्ध प्रतियोगिता से ही सारा काम चल जा सकता है या सरकार का हस्तक्षेप अनिवार्य हो जायगा।

रैशनलाइजेशन का प्रवेश या आवश्यकता केवल उद्योग में ही नहीं बल्कि कृषि में भी। खासकर भारत-जैसे देशों में जहाँ आवश्यकता से अधिक लोग केवल खेती करने में ही लगे हैं और भूमि के लिये बोझ स्वरूप हो गये हैं रैशनलाइजेशन की बड़ी आवश्यकता है। इसके जरिये ऐसे फिजूल लोगों को खेती से हटाकर उद्योगों में लगाया जा सकता है।

रैशनलाइजेशन आर्थिक भी हो सकता और टेकनिकल भी। लेकिन इसकी सफलता के लिये काफी शिक्षित और होशियार कर्मचारी-मंडल की जरूरत है। इसके लिये काफी पूँजी की भी जरूरत होती है।

आज अमेरिका रैशनलाइजेशन का अग्रदूत है। ग्रेटब्रिटेन उसके बाद आता है। भारत अभी रैशनलाइजेशन की दौड़ में बहुत पीछे है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध बनाम चेतनाकरण

रैशनलाइजेशन वैज्ञानिक प्रबन्ध से व्यापक चीज है। वैज्ञानिक प्रबन्ध का सम्बन्ध किसी उद्योग के वैयक्तिक फर्मों से होता है। यह उत्पादन के टेकनिकल पक्ष पर सबसे अधिक जोर देता है। इसकी स्थापना के बाद फर्मों की गुटबन्दी हो सकती है या नहीं भी हो सकती है। फर्मों के ट्रस्ट बन भी सकते हैं और नहीं भी बन सकते हैं। इसका सीधा सबंध वैज्ञानिक अनुसंधानों और अन्वेषणों से है।

रैशनलाइजेशन किसी उद्योग पर सम्पूर्ण रूप से विचार करता है। इसका मतलब समूचे उद्योग से रहता है, न कि उसके किसी एक फर्म से। यह उद्योग के आर्थिक पक्ष पर जोर डालना चाहता है। जहाँ वैज्ञानिक प्रबन्ध में टेकनिक पर अधिक और आर्थिक तथा प्रबंध-विषयक बातों पर कम ध्यान दिया जाता है वहाँ रैशनलाइजेशन में आर्थिक और प्रबंध-सम्बन्धी बातों पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। इसमें गुटबन्दी का होना अवश्यंभावी है। इससे ट्रस्टों की उत्पत्ति होती है क्योंकि ट्रस्टों से आर्थिक और प्रबन्ध-संबन्धी बातों की रक्षा अच्छी तरह से होती है। रैशनलाइजेशन बिना वैज्ञानिक प्रबन्ध के चल ही नहीं सकता। इसमें वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है और आधुनिक ढगों का अपनाया जाता है। रैशनलाइजेशन का अर्थ नये-नये जोश, नई भावना, नये दृष्टिकोण का आरंभ भी है। इसके आगमन के साथ ही उत्पादन के ढग और चिन्तन में अद्भुत क्रान्ति हो जाती है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध स्थानीय होता है। इसके विपरीत रैशनलाइजेशन देशव्यापी होता है और वह विश्वव्यापी भी हो सकता है। वह फर्म से आरंभ होता है और सभी फर्मों को मिलाकर सम्पूर्ण उद्योग को ढँक लेता है। वह व्यापार के प्रश्नों से भी अपना नाता जोड़ता है। व्यापार और उद्योग का संयोग कराया जाता है। रैशनलाइजेशन राष्ट्रीय जीवन का एक अखण्ड भाग बन जाता है। वह राष्ट्र-राष्ट्र के बीच आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करता है। लेकिन वैज्ञानिक प्रबन्ध से बेकारी की उतनी आशंका नहीं रहती जितनी रैशनलाइजेशन से रहती है।

इन सब विभेदों के होते हुए भी दोनों न्यूनतम प्रयत्न से अधिकतम निपुणता उपलब्ध करने की चेष्टा करते हैं और किसी देश के औद्योगिक विकास और प्रभुत्व के लिये दोनों के संतुलित सहयोग की आवश्यकता है।

चतुर्दश अध्याय

बाजारों का संघटन

(Organisation of Marketing)

मध्यस्थ व्यक्ति (The Middleman)

यह आधुनिक व्यावसायिक सभ्यता का वरदान है कि एक ही आदमी उत्पादन तथा विक्रय का काम नहीं करता। कच्चेमाल उपजानेवाले दूसरे हैं, उनका क्रय-विक्रय करनेवाले तीसरे और तैयार माल को भोक्ताओं के बीच बाँटनेवाले चौथे। इस प्रकार व्यवसाय से संबंधित कामों का पृथक्करण हुआ है। विदेशी व्यापार करने में हमें कितने कटु प्रश्नों का सामना करना पड़ता है। भाषा, द्रव्य, दूरी आदि ऐसे ही प्रश्न हैं। बहुत पुराने जमाने में एक ही आदमी सभी काम करता था। इससे समय का दुरुपयोग होता था, हैरानी बहुत उठानी पड़ती थी। आगे लेवे के व्यवसायियों ने इन कार्यों का विभाजन कर दिया और प्रत्येक काम को वही आदमी करने लगा जो उसके लिये पहले बहुत ही उपयुक्त था। आजकल चीजों का उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है। उनके लिये पहले से आदेश अथवा ऑर्डर नहीं मिले रहते हैं। इसलिये बाजारू चपलताओं, उत्थान-पतन का बड़ा भय रहता है। आज किसी उद्योगी कारखाने के मालिक को विशिष्ट मध्यस्थों (Middlemen) की जरूरत पड़ती है। यह बात केवल पूँजीवाद के लिये ही सत्य नहीं है बल्कि समाजवाद में मध्यस्थों की जरूरत रहेगी, भले ही उनकी लाभ-वृत्ति जाती रहे और वे सरकार के एजेन्ट मात्र रह जायँ। मध्यस्थ का काम पूँजी संचित कर कुछ हिस्सा लेना, मानसिक श्रम करना, मुसीबतों का सामना करना तथा बाजार में माल को बेचने लाने का व्यय सहना, आदि है। वह अन्न और कच्चेमाल

के उत्पादक तथा चीजों के बनाने वाले, चीजों के निर्माता तथा भोक्ताओं के बीच का 'सेतु' है। आज का बड़ा वस्तु-निर्माता, शिल्पी मशीनों के द्वारा चीजें उत्पन्न करता है। वह अपना समस्त ध्यान शिल्प के संचालन में लगाना चाहता है। वह अपनी पूँजी को उसी में लगाकर निश्चिन्त बनने की कामना करता है। उसकी इच्छा नहीं होती कि वह कच्चेमाल के उत्पादकों से मिले-जुले और फिर अपने खरीददारों से मिलकर तैयार माल को बेच सके। वह कच्चे-माल को यत्र-तत्र ले जाने का खर्च सहना नहीं चाहता और न चीजों को भंडार में पड़ा रहने देना चाहता है। उसे भय रहता है कि कहीं माँग या पूर्ति की वर्तमान अवस्थाओं में ऐसा परिवर्तन न हो जाय कि उसको गहरा धक्का लगे। व्यापारी या बनिया का काम शिल्पकर्ता की मुसीबत, कठिनाई और व्यय को बहुत कुछ कम कर देना है।

दलाल और मध्यस्थ पुरुष का काम चीजों को उत्पादक से किसी प्रकार मोल लेकर भंडार-शाला में एकत्र रखना है और उनकी माँग होने पर बेचना है। परन्तु इतने में ही उसका कर्त्तव्य समाप्त नहीं हो जाता। वह उत्पन्न माल की खपत करनेवाला (unloader) ही नहीं बल्कि वह भावी उत्पादन का भी निर्णायक (arbiter) है। उसका काम भविष्य वक्तव्य करना, इच्छाओं को उत्तेजित (hypnotising) करना तथा भोक्ताओं की आवश्यकताओं का प्रकटीकरण करना है। वह शिल्पकार को संकेत देता है। कुछ दिनों पूर्व वह तो शिल्पकारों को वेतन पर कुछ समय के लिये बहाल भी कर लेता था। इसी बात को लक्ष्य कर कहा गया है कि आधुनिक आर्थिक प्रणाली की जो दाम की पारिपाटी पर आधारित है धुरी (hub) वस्तु-निर्माता नहीं, व्यापारी (merchant) है। इन मध्यस्थों के कारण Individual Bargaining की जगह Collective Bargaining का इतना जोर हो गया है और Higgling का यह अति आधुनिक रूप है। माँग के प्रसारण अथवा संकोचन का सर्वप्रथम धक्का उस पर ही पड़ता है। उसके इंगितों पर समाज की उत्पादनकर्त्री

शक्तियाँ क्रियमाण होती हैं। इसमें ऊहापोह भी काफी होता है। फिर भी व्यावसायिक काम चलता ही रहता है।

मध्यस्थ व्यक्ति के व्यय तथा मुसीबतें—आशंकाएँ उसके कार्य से ही विदित हो जाती हैं। वह अपनी सारी पूँजी को चीजों के स्टॉक में लगाये रहता है। यदि उसका विचार गलत निकला तो घटी उसको होगी। स्वयं तकलीफ उठाकर वह शिल्पकर्त्ता या किसान के ऊपर पड़े बोझ को हलका कर देता है। पर यहाँ जान लेना उचित है कि बोझ का हलका होना इतना सहज नहीं है। बात यह है कि शिल्पकार भी अपने पास कुछ पूँजी इस आशा में रखता है कि दाम बढ़ने पर उसको भी विशेष लाभ हो। दूसरी बात यह है कि उसका व्यापारी या दलाल उसको खरीदे माल का चुकती दाम नहीं दे देता। हो सकता है कि आगे चल कर उसे कुछ बाधा हो।

तीसरी बात यह है कि यद्यपि व्यापारी माँग के परिवर्तन के आघात को पहले अपने आड़ लेता है तथापि शिल्पकर्त्ता को भी उसकी चोट पीछे पहुँचती है। यदि उसके पास काफी पूँजी है और उसका दिमाग धैर्यवान है तो वह माँग के परिवर्तन का सामना पूर्ववत् उत्साह के साथ करेगा। फिर भी यह संभव है कि वह अपने व्यापारी के समान ही चपल और सिद्धान्त का ढीला आदमी निकले। इसलिये रॉबर्टसन महोदय ने लिखा है कि शिल्पकर्त्ता की दशा उस यात्री के समान है जो वायुयान में बैठा हुआ सन्निकट निर्णयों की जिम्मेदारी से मुक्त रहता है पर वह इस अन्तिम भय से सर्वथा मुक्त नहीं रहता कि उसे भी जहाज के गिरने पर पृथ्वी पर गिरना पड़ेगा। अतः सौदागर की ओर दृष्टि लगाये रहने से शिल्पकर्त्ता का सारा भार हलका नहीं हो जाता।

अब हमें यह देखना है कि व्यापारियों के बीच किस प्रकार का विशिष्टीकरण होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर तीन तरह के व्यापारी मालूम होते हैं। एक तो गेहूँ, रबर, टीन या इस्पात, आदि कच्चे मालों का व्यापार करते हैं। दूसरे, थोक माल के व्यापारी होते हैं

जो खुदरा माल-विक्रेताओं के हाथ सौदा बेचते हैं। तीसरे, खुदरा माल बेचने वाले व्यापारी होते हैं जो सीधे जनता के हाथों चीजें बेचते हैं। दलाल की जाति के भी कुछ व्यापारी होते हैं जो अपनी चतुराई और बुद्धिमानी के कारण कच्चे माल के उत्पादकों को शिल्प कर्त्ताओं के साथ मिलाते हैं और इस कार्य के लिये कुछ रुपया लेते हैं। वे स्वयं चीजों को नहीं खरीदते। उनकी ईमानदारी पर सब काम चलता है। उनके संकेत पर ही मालों का आदान-प्रदान होता है। दूर देशों के बीच व्यापार चलाने का भार बड़े-बड़े दलालों के ऊपर रहता है। इस कार्य के साफल्य के लिये (sampling, grading' congnisability) आदि की जरूरत होती है।

सट्टेबाजी या फाटका (Speculation)

यहाँ इस तरह के काम की रूप-रेखा पर कुछ लिखा जाता है। मान लीजिये, कोई व्यापारी किसी चीज को आजकल के दाम पर खरीदने का सट्टा-पट्टा किसी विक्रता से करता है कि अमुक समय (मानलीजिये ६ महीना) के बाद वह उसे इतना खरीदेगा। वह उम्मीद करता है कि उस समय चीज की कीमत बढ़ जायेगी तो उसे मुनाफा होगा। इसे (Buying Future) कहते हैं। यह काम उस समय किया जाता है जब कोई व्यापारी देखता है कि कोई सौदा कुछ दिनों में बाजार में कम मिलेगा। फिर मान लीजिये कोई व्यापारी देखता है कि कोई चीज का दाम कुछ महीनों के बाद कम हो जाएगा, इसलिये वह वर्त्तमान दाम पर ही उस चीज को बेचने का तय किसी आदमी के साथ कर लेता है। उक्त समय के आने पर वह कम दाम पर चीज खरीदकर अधिक दाम पर जो वह तय कर चुका है उसे बेच देगा। इसे (Selling Future) कहते हैं। इन दोनों में से किसी भी काम के लिये अधिक पूँजी लगाने की आवश्यकता नहीं है, केवल उतनी ही पूँजी चाहिये जितने से उसकी शक्ति का पता लग जाय। इन दोनों कार्यों से अज्ञात भाव से समाज का हित होता है। पहले काम से चीज का दाम अपेक्षित समय के पहले ही बढ़ जाता है और

यह भी सुन्दर गति से, इस कार्य से भोक्ताओं को यह सूचना मिल जाती है कि उन्हें खपत में किफायत करनी चाहिये तथा उत्पादकों को यह विज्ञप्ति मिलती है कि वे अधिक उत्पादन करें और चीज का जो अभाव व्यापारी ने देखा है वह दूर हो सके। दूसरे कार्य से व्यापारी चीज का दाम कम कर देता है और उसकी अधिक खपत होने देता है परन्तु उत्पादन को निरुत्साह करता है। इससे उसे उतना लाभ नहीं होता जितने की उसने आशा की थी। इसीलिये कहा गया है कि "Expert speculation on the produce-exchanges helps to make the world safer for the grower, the mill-owner and the man in the street."

सट्टा (Speculation) के दो भेद हैं—प्रतियोगितापूर्ण और एकाधिकारपूर्ण। ऊपर प्रतियोगितापूर्ण अन्न-संबंधी (Produce Exchanges) सट्टे का वर्णन हुआ है। लेकिन औद्योगिक देशों में पूँजी और शेयरों का भी बाजार (Stock Exchanges) गरम रहता है और उसमें सट्टेबाजी खूब चलती है। सट्टेबाजों के लिये यह बाजार "आखेट-स्थल" (hunting ground) बन जाता है और उससे रोजगार का स्तर ऊँचा हो जाता है। लेकिन शेयरों और पूँजियों के सट्टे का बाजार उतना विस्तृत और महत्वपूर्ण नहीं होता जितना अन्नों और कच्चेमालों के सट्टे का बाजार। बात यह है कि शेयर या पूँजी खाने-पीने की चीज नहीं, उनका कपड़ा नहीं बनाया जा सकता। उनकी खरीद-बिक्री इसलिये होती है कि उनमें जिन लोगों ने पूँजी लगाई है उनमें से कुछ को रुपया वापस लेने की आवश्यकता आ पड़ती है। (कुछ लोग आँत का इलाज कराना चाहते हैं इसलिये शेयर से रुपया निकाल लेना चाहते हैं।—रॉबर्टसन) दूसरे उनका भविष्य धुँधला और उत्साहवर्द्धक नहीं देखते इसलिये रुपया निकाल लेना चाहते हैं, तीसरे जो अपनी पूँजी को लगाना चाहते हैं और कुछ उद्योगों का भविष्य अच्छा देखते हैं वे उनके शेयर खरीद लेते हैं।

शेयर बाजार में कुछ ऐसे सट्टेबाज होते हैं जिन्हें "बारहसिंघे" (stags) कहा जाता है। जब कोई नई कम्पनी खुलती है और उसका भविष्य उज्ज्वल जान पड़ता है ये लोग अपनी जरूरत से ज्यादा उसके शेयर खरीद लेते हैं। इससे बहुत से लोग जो उसके शेयर खरीदना चाहते थे उनसे वंचित रह जाते हैं। बाद में ये लोग इन वंचित लोगों से बहुत ज्यादा मूल्य वसूलकर अपने कुछ आवश्यक शेयरों को बेच डालते हैं। जिस तरह बारहसिंघा हवा में अपनी सींगों से को गर्व घुमाता है उसी तरह ये लोग भी बाजार में अपने फिजूल शेयरों पर इठलाते हैं। इसे अंगरेजी में "Rigging" भी कहते हैं।

सट्टेबाजी में जो काम होता है उसकी विधि की उपमा लार्ड केन्स ने Snap के खेल, Old Maid के खेल और Musical Chairs के खेल से दी है। इसे उसने "विज्ञों का युद्ध" (Battle of wits) कहा है। प्रतियोगितापूर्ण सट्टेबाजी में सट्टेबाजों की संख्या अधिक होती है। Stock Exchange के दो भेद होते हैं—Cash Dealings और Forward Dealings। पहले भेद में खरीदनेवाला बेचनेवाले को तुरत पैसा चुका देता है। दूसरे भेद में वह 'उधार' खरीदता और पीछे भुगतान देता है।

एकाधिकारपूर्ण सट्टेबाजी बड़ी खतरनाक होती है और उससे समाज का बड़ा नुकसान होता है क्योंकि एक या दो सट्टेबाज समूचे बाजार पर कब्जा कर लेते हैं।

मिल-मालिक से सट्टेबाजी का कार्य किस प्रकार आशंका का बोझ हटाता है यह गंभीर मनन का विषय है। मान लीजिये वह किसी आदमी के हाथ वर्तमान दाम पर चीजों को बेचना तय करता है। इसलिये वह कच्चे माल को वर्तमान दाम पर खरीदने का भी काम करता है ताकि कहीं उनका दाम न बढ़ जाय और जिसके कारण उसे पीछे अपना प्रण पूरा करने में क्षति उठानी पड़े। इसी प्रकार जब वह खुले बाजार में अपनी चीज बेचता है तो उसका दाम आगे चलकर गिर न जाय इसके लिये वह अभी से इन्तजाम कर

लेगा कि उसे हानि उठानी पड़े। पहले काम के लिये उसे (Buying Futures) और दूसरे काम के लिये (Selling Futures) का आश्रयण ग्रहण करना पड़ेगा। पहले को, जो चीज के दाम बढ़ने की आशा में खरीदता है, साँड़ (Bull) कहते है क्योंकि साँड़ सींग उठाकर आगे की ओर फेंकता है।—

दूसरे को जो दाम घटने के डर से वर्तमान काल में चीजों को बेचना तय करता है भालू या रीक्ष (Bear) कहते हैं क्योंकि स्वभावानुसार रीक्ष किसी को मारते समय उसे जमीन पर फेंकता है।

सट्टा (Speculation) से हानि

कितने सट्टावाज जो व्यापारों में भाग लेते हैं नौसिखुये होते हैं और वे केवल संयोग के भरोसे गोटी फेंकते हैं। कितने बाजार को चकमा देना जानते हैं। वे झूठमूठ की खबरें फैलाकर समाज की बड़ी हानि करते हैं। ऐसे लोगों को खुद भी बहुत अधिक नुकसान उठाना पड़ता है। इससे समाज को धक्का पहुँचता है। जनता के बीच में जुआ-कर्म की भावना उत्पन्न होती है। उनका मानसिक नैतिक अधः-पतन होता है। इस प्रकार के अपरिपुष्ट सट्टा-कार्य को रोक देना ही अच्छा होगा। लार्ड केन्स ने सट्टेबाजी के आधिक्य को बहुत बुरा बतलाया है। जब तक उद्योग की सरिता निभृत और शान्त है तब तक सट्टेबाजी उसकी कुछ हानि नहीं कर सकती जिस तरह जल के बुलबुले वैसी सरिता का कुछ बिगाड़ नहीं सकते। लेकिन जब सट्टेबाजी की बाढ़ आ जाती है तब उससे किसी उद्योग की बड़ी क्षति हो सकती है। उस समय उद्योग सट्टेबाजी के तूफानी फव्वारे में एक बुलबुला मात्र बन जाता है। पूर्वचिन्तन का प्रौढ़ रूप अवश्यमेव समाज के हित को बढ़ाता है। प्रो० टॉसिग ने अग्रलिखित ढंग बत-लाये हैं जिनके द्वारा इस विषय की बुराइयाँ दूर हो सकती हैं। पहला उपाय यह है कि सरकार नियमों को आप बनावे और बिगड़े नियमों का परिमार्जन करे। दूसरा, इन नियमों का प्रचार हो। तीसरा, उद्योगों की नियमितता का पूरा ध्यान रखा जाय। चौथा, जनता की

विचारधारा को उत्तम बनाया जाय जिससे घातक सट्टेबाजी का ह्रास हो।

लार्ड केन्स का मत है कि अगर सट्टेबाजी प्रतियोगितामयी है तब सरकार उसको खूब उत्साहित कर सकती है जिससे सट्टेबाजों की पारस्परिक प्रतियोगिता की आग में उनकी कुचेष्टाएँ भस्म हो जायेंगी। ❀ लेकिन अगर एकाधिकारपूर्ण सट्टेबाजी पनपने लगे तब सरकार को शेयर को एक बार खरीद लेने पर उसे बहुत समय के लिये रखे रहने का नियम बना देना चाहिये।

शेयरों का आधिपत्य विवाह की तरह अविच्छेद्य बना देना चाहिये। केवल संघातक बीमारी या भयंकर अभियोग में जिस तरह तलाक दी जा सकती है उसी तरह गंभीर और संगीन परिस्थितियों में ही शेयरों को बेचा जाय।

बाजारों के संघटन पर लिखते समय हमें आधुनिक समन्वय के विभिन्न रूपों को भी लेना पड़ेगा। इस विषय पर हम पीछे लिख आये हैं। उनको दुहराना पृष्ठों की संख्या भर बढ़ाना होगा। पर एक बात याद रखनी होगी कि इधर बाजारों के संघटन में एक नूतन चाल यह चल पड़ी है कि आज के बड़े कारखाने अपनी दुकानों को सुदूर स्थानों में खोलकर अपने नौकर बहाल कर बाजार के फर्मों का सम्मिश्रण करती है जिसके कारण जो लाभ पहले मध्यस्थों तथा दलालों को होता था वह आज उन कारखानों को ही होता है। पीछे समन्वयों (Combinations) या गुटों का जिक्र हो चुका है जिनके सहारे बड़े-बड़े फर्म बाजारों का संगठन करते और उत्पादन तथा विक्रय के कार्यों को संयुक्त कर लेते हैं।

❀ "Speculation has been aptly compared to fever and like fever it must cure itself"।

पंचदश अध्याय

स्वर्णिम नियम (The Golden Rule)

पूँजीवाद का एक प्रधान लक्षण स्वर्णिम नियम का अस्तित्व कहा जाता है। स्वर्णिम नियम का अर्थ है नियंत्रण और जोखिम का समन्वय। (Wherein risk lies therein control lies also . Those who pay the piper have also the right to the tune) दूसरे शब्दों में, पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली में जहाँ जोखिम है वहीं नियंत्रण का हक भी। जो जोखिम उठाता है वही नियंत्रण भी करता है। पूँजीपति या उद्योगपति अपने व्यवसाय में पूँजी लगाते हैं और इसमें उन्हें जो जोखिमों का संवहन करना पड़ता है। इसलिये पूँजीवाद उन्हें व्यवसाय का नियंत्रण करने भी देता है। वे ही अपने-अपने व्यवसाय की देख-रेख करते हैं। इसके लिये वे उत्साहपूर्ण निर्णय करते और उन निर्णयों को इस प्रकार से कार्यान्वित करते हैं जिससे उन्हें सर्वाधिक लाभ हो सके। अगर निर्णय करनेवाला एक व्यक्ति हो और निर्णय को कार्यान्वित करने वाला दूसरा व्यक्ति हो तब इससे बड़ी उलझन पैदा हो सकती है। इसी बात को दूसरे ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं। जिस आदमी के ऊपर जोखिम का बोझ है उसी आदमी को निर्णय भी करना चाहिये। यदि जोखिम एक के सिर पर हो और निर्णय दूसरा करे तब इससे बड़ी कठिनाई उपस्थित हो सकती है। जो लोग उद्योग में पूँजी खपाते हैं उन्हें पूँजी के नष्ट होने का भी सबसे अधिक डर है। उन्हें इस बात से सबसे अधिक आशा भी है कि अगर वे ठिकाने से काम करेंगे तब सर्वाधिक मुनाफा भी मिल सकेगा और मुनाफा बहुत बड़ी प्रेरणा देने वाला है। मुनाफा और नुकसान का विधान पूँजीपतियों या उद्योगपतियों के आचरण के ऊपर पूरा अंकुश रखता है और उन्हें यथाशक्ति प्रयास करने के लिये प्रोत्साहित भी करता है।

यह भी कहा जाता है कि उद्योग के प्रवर्त्तक रणबाकुड़ों के समान

हैं और वे मुनाफा को अधिकतम मात्रा में उपलब्ध करने के विचार से उद्योग के भयंकर संग्राम में वे अपने को झोंक देने से जरा भी नहीं हिचकते। अतएव किसी व्यक्ति को उनके कार्य में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं डालना चाहिये। अगर वे स्वस्थ और सुन्दर निर्णय ग्रहण करते हैं तब उन्हें लाभ ही होगा। अगर उनके निर्णय ठीक नहीं हैं तब इसका कुफल उन्हें भोगना पड़ेगा और उन्हें बहुत क्षति उठानी पड़ेगी। जो कुछ भी हो, कोई भी आदमी अपनी पूँजी को किसी उद्योग में लगाकर उस उद्योग के संचालन करने से अनिच्छा नहीं प्रगट कर सकता है। इसीलिये पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली सबको यह सुविधा देती है कि नियंत्रण वे ही करें जो पूँजी लगावें, शासन का सेहरा उन्हीं के सिर बँधे जिनके ऊपर क्षति का बोझ भी है। यही है नियंत्रण और जोखिम का सह-निवास।

अब संयुक्त-पूँजी की कम्पनियों में "स्वर्णिम नियम" के प्रयोग पर विचार करना उत्तम होगा। ऊपर-ऊपर देखने से तो यह पता चलता है कि मामूली शेयर के अधिकारी केवल जोखिम ही उठाये रहते हैं। वे कम्पनी के शासन में कोई स्पष्ट एवं निश्चित भाग नहीं लेते। रुपया वे भी लगाते हैं लेकिन शासन करते हैं कम्पनी के संचालक (डाइरेक्टर)। अगर कम्पनी को घाटा हुआ तो इन शेयर के अधिकारियों को भी अपनी जिम्मेदारी के मुताबिक उसे उठाना पड़ेगा। संचालक पूरी तन्मयता के साथ कम्पनी का संचालन करते नहीं। उनका ध्यान कई कम्पनियों के शासन में विभक्त रहता है। वे कोई अदम्य उत्साहपूर्ण काम करना नहीं चाहते। उनके नीचे प्रबन्धकों (मैनेजर) का एक दल होता है। वे कम्पनी के वैतनिक नौकर होते हैं। संचालक आर्थिक समस्याओं से निबटते हैं, प्रबन्धक दैनिक व्यवस्था की समस्याओं से। दोनों दलों का काम और क्षेत्र बँटा हुआ है। कभी-कभी ऐसा होता है कि दोनों दलों के बीच विचारों की समानता न रहने से कम्पनी को नुकसान पहुँचता है। संचालक नाजायज फायदा भी उठाने लगते हैं।

अभी तक जो कहा गया उससे तो यही लगता है कि पूँजीवाद का तथाकथित स्वर्णिम नियम संयुक्त-पूँजी की कम्पनी के लिये सत्य नहीं। परन्तु ऐसी बात नहीं है। ऊपर से भले ही यह नियम 'आहत' जान पड़े लेकिन वास्तव में वह एकदम ठीक है। इसका कारण यह है कि कम्पनी के संचालकों ने भी काफी रुपया इसमें लगाया है और वे भी यह नहीं चाहते कि कम्पनी को किसी प्रकार का नुकसान उठाना पड़े। संचालक तो दूसरे शेयर-मालिकों की पूँजी के ट्रस्टी हैं। वे शासन करते हैं क्योंकि उनके ऊपर भी बहुत-सी जोखिमें हैं। फिर, सभी शेयर-मालिक शासन करने से पृथक नहीं रहते। कुछ ऐसे भी शेयर-मालिक हैं जो कम्पनी की बैठकों में शरीक होकर जोरदार भाग लेते हैं और संचालकों के कार्यों के ऊपर टीका-टिप्पणी किया करते, प्रबन्धकों की निपुणता-अनिपुणता की आलोचना किया करते हैं। इस तरह वे डिविडेन्ड हथियाने के लिये जितना उत्सुक रहते हैं उतना ही शासन करने के लिये भी। (इस विषय का विशदीकरण आगे प्रकाशित "आधुनिक व्यावसायिक प्रवृत्तियाँ" शीर्षक लेख में किया है जो अनिवार्य रूप से पठनीय है।)

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो केवल पारिश्रमिक प्राप्त करने के लिये जोखिमों का वहन करते हैं लेकिन शासन में कोई दिलचस्पी नहीं रखते। बीमाकम्पनियाँ, सट्टेबाज, आदि व्यवसायों की जोखिमों को कम करने में पूरा सहयोग करते लेकिन वे उनके शासन में कोई हाथ नहीं बँटाते। लेकिन यहाँ यह जान लेना चाहिये कि ये लोग केवल जोखिमों का वहन ही नहीं करते बल्कि वे उन्हें हटाने की भी चेष्टा करते हैं। इस तरह वे जोखिमों को वहन (Bear) करने के साथ उनको चातुरी के साथ खत्म (Destroy) भी करते हैं।

कुछ ऐसे भी अनुभवी लोग व्यावसायिक जगत् में मिलते हैं जो जोखिम तो नहीं उठाते लेकिन दूसरों को राय-परामर्श दिया करते हैं।

ऊपर जो दो अवस्थाएँ बतलाई गई हैं वे पूँजीवाद के स्वर्णिम

नियम के दो अपवाद हैं। लेकिन उनका दायरा इतना तंग है कि स्वर्णिम नियम को खरोंच भी नहीं पाते और वह इसतरह बाहर निकलता मालूम देता है मानों कुछ हुआ ही नहीं हो! लेकिन नीचे हम जिस अवस्था का वर्णन करने जा रहे हैं वह बतलाती है कि "स्वर्णिम नियम" में एक बड़ा भारी दाग भी लगता है।

किसी उद्योग में बहुत-से मजदूर काम करते हैं। लेकिन उनको अपने मालिकों और उनके कर्मचारियों की आज्ञाओं और आदेशों का ही पालन करना पड़ता है। वे मशीन की तरह खटते हैं। उद्योग के शासन-संचालन में उनका रत्तीभर भी बोलबाला नहीं रहता है। इस तरह नियंत्रण और जोखिमों में पृथकता आ जाती है। मजदूरों की जोखिमें तीन श्रेणियों में बाँटी जा सकती हैं। पहली श्रेणी में वे जोखिमें आती हैं जो उद्योग की कुव्यवस्था से उत्पन्न होती हैं। अगर उद्योग के मालिक और उनके कर्मचारी बुद्धिमत्तापूर्वक काम नहीं करें, उद्योग का संचालन ऊल-जलूल ढंग से करें, प्रश्नों का सामना जिस-तिस प्रकार करें तब उन्हें आर्थिक नुकसान होगा और उनके साथ बेचारे मजदूरों को भी तकलीफ होगी। उन्हें पूरी मजदूरी नहीं मिल सकेगी। वे बेकार भी हो जा सकते हैं। दूसरी श्रेणी में वे जोखिमें आती हैं जो अतिआधुनिक मशीनों की जगह पुरानी मशीनों से काम लेने पर पैदा होती हैं। कितने उद्योग-मालिक आलसी और सनातनी होते हैं। उनके ज्ञान की सीमा निर्धारित रहती है। उनका उत्पादन-व्यय ज्यादा होता है। वे दूसरे समर्थ उद्योगों की प्रतियोगिता में टिक नहीं सकते। उनके साथ उनके उद्योग में काम करने वाले मजदूरों की भी तबाही हो जाती है। उन्हें बेकाम हो जाना पड़ता है। तीसरी श्रेणी में व्यापार-चक्रों द्वारा प्रसूत हुई जोखिमें आती हैं उद्योगपति तो धनी-मानी व्यक्ति हैं। वे व्यापारचक्रों की अधोगति से कम संत्रस्त होते हैं लेकिन बेचारे गरीब मजदूर ? वे तो बेकार हो जाते और भूखों मरने की भी नौबत आ जाती है।

लेकिन ऐसा नहीं है कि मजदूर कुल जोखिमों से मुक्ति नहीं पा

सकते हैं। पहली श्रेणी की जोखिमों से वे चाहें तो उद्धार पा सकते हैं। वे एक उद्योग को छोड़कर दूसरे उद्योग में जा सकते हैं। लेकिन "विशिष्ट" होने पर इस काम में भी कठिनाई हो सकती है। पूँजीपति तो उद्योग को छोड़ नहीं सकते। वह तो मानो उनकी गर्दन से लटका रहता है। दूसरी श्रेणी की जोखिमों से छुटकारा पाना भी श्रमिकों के अपने हाथ की बात है। जहाँ तक तीसरी श्रेणी की जोखिमों की बात है वहाँ तो कोई चारा नहीं। मजदूरों को भी व्यापार-चक्रों के आघात को उसी तरह सहना पड़ेगा जिस तरह उनके मालिकों को सहना पड़ता है। मालिकों की दशा तो डूबते हुए जहाज के कप्तेन की तरह है। जब तक सभी यात्री और कर्मचारी डूब जावे या तैरकर पार नहीं कर जाते तब तक कप्तेन जहाज को छोड़ नहीं सकता। मजदूर और उसके कर्मचारी भले ही उसके नष्टप्राय उद्योग को तिलांजलि दे दें लेकिन वह आखिरी दम तक तिलांजलि नहीं दे सकता।

जब मजदूरों की जोखिमें इतनी अधिक हैं, इतनी बड़ी हैं तब उनको कम करने का भी कोई प्रबन्ध होना चाहिये। उन्हें उद्योग के शासन में भी अधिकार मिलना चाहिये। यही कारण है कि अति उन्नत औद्योगिक देशों में सरकार का ध्यान इस बात की ओर गया और वहाँ कितने उद्योगों के प्रबन्ध-मंडल के दो-चार सदस्य मजदूरों के प्रतिनिधि भी होते हैं। कई देशों में तो इसके लिये काफी आन्दोलन भी हुआ और सिन्डीकलिस्ट तथा गील्ड सोसलिस्टों ने काफी हो-हल्ला भी मचाया। (इस आन्दोलन के विशेष ज्ञान के लिये पाठक मेरी पुस्तक "नागरिक शास्त्र—नागरिक और राज्य" की सहायता ले सकते हैं।)

उपभोक्ता की सार्वभौमिकता के ऊपर आगे एक अलग अध्याय लिखा गया है। उसमें भोक्ताओं के सहयोग के ऊपर थोड़ा प्रकाश डाला गया है। भोक्ताओं के सहयोग की चर्चा हमने इसी अध्याय में की है। यहाँ हम इस बात की ओर निर्देश करना चाहते हैं कि भोक्ताओं

की सहयोग-समिति में स्वर्णिम नियम को रूप-रेखा कैसी रहती है। संयुक्त-पूँजी की कम्पनी में जो आदमी जितनी पूँजी लगाता है वह उसी अनुपात में जोखिम का संवहन करता है। अगर एक शेयर पर एक वोट मिलता है तो पाँच शेयर खरीदने पर पाँच वोट, दस शेयर खरीदने पर दस वोट देने का अधिकार दिया जाता है। जोखिम के अनुपात में ही शासन करने का अधिकार मिलता है। इस तरह स्वर्णिम नियम का पालन होत है। भोक्ताओं की सहयोग-समिति में यह बात नहीं। समिति के प्रत्येक सदस्य भोक्ता को चाहे उसने कितनी भी पूँजी लगाई हो एक ही वोट मिलता है। फिर, सभी सदस्य तो समिति का शासन चलाते नहीं। दो-चार दिलचस्पी रखते हैं और अवैतनिक काम करते हैं। शेष उदासीन रहते हैं। उनका मतलब केवल चीजों के क्रय और उपभोग से रहता है। समिति का शासन वेतनप्राप्त कर्मचारी करते हैं। इस तरह शासन और जोखिम का विभाजन हो जाता है। इससे यह तय हो जाता है कि भोक्ताओं की सहयोग समिति में स्वर्णिम नियम की अवमानना होती है, वह खुरचा जाता है। लेकिन वस्तुतः यह बात नहीं है। सभी भोक्ताओं को एक निर्धारित दर पर सूद मिलता है। सबकी यही इच्छा रहती है कि चीजों के क्रय में यथाशक्ति हाथ बँटाया जाय। फिर, जो जितना खरीदता है उसको उसी अनुपात में कुल नफा में हिस्सा मिलता है। अगर किसी भोक्ता ने बहुत माल समिति से मोल लिया है तब उसे उसी मात्रा में डिविडेन्ड भी मिलेगा। जिस तरह संयुक्त-पूँजी की कम्पनी के मैनेजर अपना नाम बचाये रखने के लिये, अपनी प्रशंसा में कभी नहीं आने देने के लिये, काफी निपुणता के साथ बहुधा काम करते देखे जाते हैं उसी तरह भोक्ताओं की सहयोग समिति के कर्मचारी भी भरसक अपनी निपुणता, अपनी योग्यता, अपनी ईमानदारी का परिचय देते हैं। भोक्ताओं की बैठकें भी जब-तब हुआ करती हैं और उनसे सहयोग की भावना बलवती ही होती जाती है।

सामूहिकवाद (Collectivism) में सरकार कुछ उद्योगों को

खुद चलाती है। सामूहिकवाद की आवश्यकता किन वजहों से है इसकी ओर हम थोड़ा-सा संकेत "उपभोक्ता की सार्वभौमिकता" शीर्षक अंश में करेंगे। पुराने अर्थशास्त्रवेत्ता सरकार के हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते थे। प्रो० मार्शल ने कहा था कि सरकार उद्योगों और व्यवसायों का संचालन ठीक से नहीं कर सकती। सरकार ने कोई भी सर्जनात्मक काम अभीतक नहीं किया है। वह किसी चीज की सृष्टि नहीं कर सकती। वह शेक्सपियर लिखित 'हैमलट" नाटक का एक अनुपम संस्करण निकलवा सकती है लेकिन वह "हैमलट" की जोड़ का कोई दूसरा नाटक लिख नहीं सकती, अपने कर्मचारियों से लिखवा नहीं सकती! आर्थिक प्रभावों से राजनीति दूषित हो जा सकती है और राजनीतिक प्रभावों से अर्थशास्त्र दूषित हो जा सकता है। इसलिये राज-काज संभालने-वालों को व्यावसायिक और औद्योगिक दुनिया से परे रहना चाहिये। लेकिन मार्शल के बाद युग बदल गया और पीगू ने पुराने अर्थशास्त्र की प्रशंसा करते हुये भी एकाधिकार-शासित उद्योगों में सरकार का नियंत्रण अनिवार्य बतलाया है। अब प्रगतिशील सरकार का एक प्रधान कर्तव्य यह माना जाता है कि वह देश के मौलिक और बुनियादी उद्योगों को खुद चलावे और दूसरे अनिवार्य उद्योगों के ऊपर नियंत्रण भी रखे। लेकिन जब सरकार किसी उद्योग को चलाने लगती है तब उक्तकथित स्वर्णिम नियम की दुर्गति हो जाती है। उसकी अवहेलना होने लगती है।

सरकारी उद्योगों को चलानेवाले उच्चपदस्थ कर्मचारी (I.C.S) होते हैं। उनका वेतन और कार्यावधि निश्चित रहती है। वे अपने सचिवों के आदेशों पर अमल करते हैं। सचिव तो अस्थायी होते हैं। इसलिये उद्योग का वास्तविक शासन ये ही लोग करने लगते हैं। लेकिन ये व्यावसायिक ज्ञान से परिचित भी हो सकते हैं और अपरि-चित भी। यदि इन्हें उद्योग-संचालन का व्यावहारिक, क्रियात्मक ज्ञान नहीं है तब अपने सारे निर्णयों में इन्हें सफलता नहीं मिल सकती।

जब इनके कुछ निर्णय, कुछ प्रयास विफल हो जाते हैं तब ये अपनी गलतियों को पहले छिपाने की पूरी चेष्टा करते हैं, जनमत के सामने उनका पर्दाफाश करना नहीं चाहते क्योंकि ऐसा करने से उनकी ख्याति कम हो जायगी, उनकी निपुणता-दक्षता में सरकार का विश्वास घट जायगा। अगर गलतियों का प्रभाव आर्थिक प्रणाली पर पड़ा तब सरकार की लोग आलोचना करने लगेंगे। सरकार को अगर ऐसे उद्योगों के चलाने से नुकसान हुआ तब वह आम जनता पर नये कर लगाकर, या आय-कर की दर बढ़ा कर इस घाटा को पूरा करने का प्रयास करेगी और इससे आमजनता को तकलीफ होगी। गलती करें सरकारी नौकर और उसका प्रायश्चित्त करे जनता! जोखिमों का पहाड़ आमजनता के सिर पर टूट पड़े और निर्णय करने की सुविधा जोखिमों को बढ़ानेवालों को मिले। यह स्पष्ट रूप से स्वर्णिम नियम की विडम्बना है।

हाँ, सरकार कुछ ऐसे यत्नों को अपना सकती है जिससे यह नियम कम भंग हो। वह अनुभवी, व्यवसाय-कुशल व्यक्तियों की सलाह ले सकती है। उद्योगों का शासन करने के लिये एक पृथक समिति बनाई जा सकती है जिसमें सरकार के सदस्य भी रहेंगे और आमजनता से लिये गये कुछ चतुर और विज्ञ व्यक्ति भी। सरकार अपने उच्चपदस्थ कर्मचारियों के चुनाव में उद्योगों और व्यवसायों की जानकारी को एक अनिवार्य विषय निश्चित कर सकती है।

फिर भी हम इस बात को भूल जाते हैं कि सरकार और आम-जनता के बीच सच्ची एकता और सहयोग की भावना रहने पर यह सवाल उठता ही नहीं कि सरकार गलती करती है और वह सर्व-साधारण पर उसके बोझ को फेंक देती है। इस दशा में स्वर्णिम नियम—नियंत्रण और अप्रत्याशित आपत्ति का सहवास—बिल्कुल सुरक्षित रह जायगा।

षोड़श अध्याय

सार्वजनिक उद्योगों की रूप-रेखा

(Form of Public Industries)

सरकार द्वारा चलाये जानेवाले व्यवसाय (Businesses undertaken by Government)

किसी भी देश की सरकार हो उसे अपनी प्रजा के हिताहित के लिये अनेकों काम करने पड़ते हैं। पूँजीवादी समाज होने पर भी उसे दरिद्र जनता के लिये कुछ उद्योग या व्यवसायों को अपनी ओर से चलाना पड़ता है और पूँजीवादियों द्वारा शासित कम्पनियों की देख-भाल करनी पड़ती है। समाजवादी सरकार को तो सभी उद्योग-धंधों को स्वयं चलाना पड़ता है। इस जगह हम पूँजीवादी देश की सरकार द्वारा चलाये जानेवाले कार्यों की एक हल्की झाँकी देंगे।

आधुनिक काल में सरकार कुछ व्यवसायों का प्रबन्ध करती है। केन्द्रीय या प्रान्तीय या स्थानीय सरकारें सार्वजनिक हित के लिये कुछ उद्योगों को स्वयं देखती-भालती और चलाती हैं। ऐसे उद्योगों में डाक-तार विभाग सर्वप्रधान है—जिसकी देख-रेख केन्द्रीय सरकार करती है। सार्वजनिक हित के लिये जल का प्रबंध करना, प्रकाश का इन्तजाम करना, नगर-ग्राम की स्वच्छता और स्वास्थ्य-रक्षण तथा यात्रियों के आवागमन की व्यवस्था करने का भार स्थानीय सरकारों पर रहता है। शिक्षा, आदि विभागों का शासन राजकीय सरकार करती है। पिछड़े देश के उद्योग-धंधों में सरकार अपनी सत्ता को बलिष्ठ बनाने के विचार से पूरा भाग लेती है। सरकार की सहायता के बिना पिछड़े देश की उन्नति बड़ी कठिनाई से होती है।

सरकारी व्यवसाय भी व्यक्तिगत व्यवसाय के ढंग पर ही चलता है। व्यक्तिगत व्यवसाय का शासन-भार वेतन-प्राप्त कर्मचारियों पर रहता है। सरकार भी मैनेजर, किरानी, कोषाध्यक्ष को नियुक्त करती है। किसी अन्य पूँजीवादी व्यवसायी की तरह वह भी रुपया अपने कोष से देती है। सरकार के कर्मचारियों को केवल मासिक वेतन दिया जाता है। उन्हें लाभ का कोई हिस्सा प्रदान नहीं किया जाता। उन्हें बँधी रुटीन के अनुसार काम करना पड़ता है। उनको निश्चित अवधि के लिये बहाल किया जाता है। उस अवधि के बाद उन्हें पेन्शन भी प्रदान किया जाता है। व्यक्तिगत या वैयक्तिक व्यवसायी ऐसी सुविधा नहीं देते। दूसरी बात यह है कि वैयक्तिक व्यवसाय में किसी कर्मचारी को निपुणता के मापदंड से तरक्की दी जाती है, अधिक अवधि तक काम करने का विचार नहीं किया जाता। सरकारी व्यवस्था में यह बात सर्वथा विपरीत है। सरकार धनी लोगों पर कर लगाकर पूँजी एकत्र करती है और उसी पूँजी से व्यवसायों की स्थापना करती है। जो लाभ होता है उसे सबों की भलाई में खर्च किया जाता है। सरकारी कर्मचारी सरकार के नौकर होने के मद में फूले रहते हैं। उनकी चेष्टा शायद ही अधिक निपुणता प्राप्त करने की रहती है। उनकी तरक्की भी अधिक दिनों तक काम करने के विचार से होती है। वैयक्तिक उद्योगों में मालिकों की डाट-डपट, कठिन निरक्षण के कारण उनके कर्मचारी पूरी तत्परता के साथ काम करते हैं और उनका ध्यान अपने को अधिक-से-अधिक सक्षम तथा निपुण बनाने की ओर रहता है। उन्हें भय रहता है कि यदि वे पूरी कटि-बद्धता से काम नहीं करेंगे तो उनके अधिपति उन्हें निकाल-बाहर करेंगे। सरकार बहुत ही डरकर ऐसा कर सकती है। फलतः जहाँ वैयक्तिक व्यवसायों के प्रबंधक चीजों को उत्तम बनाने और उनके दामों को कम करने की धुन में लगे रहते हैं, वहाँ सरकारी व्यवसायों के कर्मचारी ऐसे कार्यों की परवाह न करके जी चुराते हैं। सरकारी कर्मचारी अपने उच्च अफसरों की आज्ञा उल्लंघन भी कर सकते हैं,

जता भी सकते हैं, क्योंकि उन्हें बर्खास्त करना शायद असंभव है, अधिक-से-अधिक कठिन आर्थिक दंड दिया जा सकता है। वे वास्तव में किसी के दास नहीं, भावात्मक सरकार ही उनकी शासिका है। मगर एक बात से वैयक्तिक व्यवसायों के कर्मचारी अधिक सुखी जान पड़ते हैं। उन्हें अपने-अपने दायित्वों को पूरा करना पड़ता है। वे कम या बेशी समय में ऐसा कर सकते हैं, सरकारी कर्मचारी रूटीन के गुरुतर बोझ से पीड़ित रहते हैं। उन्हें बैठे-बैठे दिन बिताना पड़ता है। उनकी बदलियाँ होती रहती हैं। उनकी व्यक्तिगत कठिनाइयों को देखने-सुननेवाला कोई नहीं है। कर देनेवालों को इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि उनका पैसा किस प्रकार खर्च किया जाता है। सरकार के सामने में वे चूँ तक नहीं कर सकते। कर के भार से आक्रान्त होकर वे अधिक-से-अधिक व्यवस्थापिका सभा में अपने प्रतिनिधियों के द्वारा अपना दुःखड़ा रो सकते हैं, पर उनके प्रति सरकार थोड़े ही सहानुभूति प्रगट करती है! वह तो अपनी प्रचंड-शक्ति के सामने उनका कुछ भी ख्याल नहीं करती। यही चाल सतत चलती रहती है।

सरकार कभी-कभी किसी व्यवसाय का पूरा खर्च स्वयं नहीं सहती और न उसका शासन ही पूरा-पूरा चलाती है। वह कभी-कभी किसी व्यवसाय को दूसरों के हाथ बेच देती है और कुछ शेयर स्वयं रख लेती है। इस तरह वह आंशिक शासन करती है। विशेषज्ञों का कहना है कि सरकार को उन्हीं व्यवसायों को खोलना चाहिये या अपनाना चाहिये जिनमें क्रमशः नियमितता की पूरी जरूरत हो अथवा जो दूसरों के द्वारा रास्ते पर लाये जा चुके हैं। वह उसी हालत में सफल हो सकती है। यदि ऐसा किया गया तो इससे जनता की भलाई भी होगी और नियमबद्धता भी रहेगी। सरकार का काम है कि वह लाभकामुक वैयक्तिक व्यवसायाधिकारियों के चंगुल से जनता की रक्षा कर सके और भोक्ताओं की मुसीबतों को दूर कर सके। प्रकृति-दत्त कोषों की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य है। उसे केवल वर्त्तमान का ही नहीं, बल्कि भविष्य का भी ध्यान रखना होगा। भारत-जैसे दरिद्र देश को -सर

कार को रूस की सरकार का अनुकरण करना चाहिये। रूस में सभी व्यवसाय सरकार द्वारा स्थापित और शासित होते हैं। वहाँ इस ढंग से काम लिया जाता है कि सरकारी व्यवस्थाओं के स्वभावतः अवगुण उत्पन्न नहीं हो सकें। आजकी पूँजीवादी देशवाली सरकारें रूस की निन्दा नहीं कर सकतीं। उन्होंने रूस की सरकार के इस विचार की भर्त्सना शुरू में बहुत की थी, पर आज वहाँ की जनता को सुखी देख कर उनकी हिम्मत ही नहीं होती कि वे इस योजना का तिरस्कार कर सकें। वे स्वयं इसे अपनाकर अपना सुधार करना चाहती हैं। इंगलैंड में मजदूर-दल के नेतृत्व में पूँजीवाद तथा समाजवाद का प्रणयन किया जा रहा है, खानों और इंगलैंड के बैंक को राष्ट्रीय करार किया गया है। आशा है, एक दिन इंगलैंड भी रूस की तरह एक प्रधान समाजवादी राष्ट्र बन जायगा।

भारतवर्ष में गत १५ अगस्त (१९४७) से स्वराज्य प्राप्ति के फलस्वरूप राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो गई है। जनता इस आशा से उन्मत्त होकर नाच उठी है कि उसके दुःख-द्वन्द्व मिट जायेंगे और सभी लोग पारस्परिक द्वेषभाव, भूलकर सम्पत्ति-संबंधी विषमताओं का कलुष धोकर, आपस में हिलमिल कर जीवन-यापन करेंगे। पूँजीवाद का जो विषाक्त रंग देश में मिल गया है वह समाजवाद के आगमन के बाद नहीं रहेगा। भारतवर्ष समाजवादी राष्ट्र बनेगा कि नहीं, यह संदिग्ध है; पर हम निश्चयतापूर्वक कह सकते हैं कि पूँजीवाद का जो तांडवनर्त्तन अभी हमारे सामने हो रहा है, दरिद्र लोगों की हड्डियों पर धनिकों की जो अट्टालिकाएँ उठ रही हैं; वे एक दिन जरूर जाती रहेंगी। आज देश की जनता में नूतन चेतना का संचार हुआ है। मजदूर लोग भी अपने हित के लिये उत्कट हो गये हैं और प्राणपण से चेष्टा कर रहे हैं। महात्मा गांधी की सत्य एवं अहिंसा की नीति ने उनके 'गांधीवाद' ने, उनके द्वारा प्रणीत 'रामराज्य' की सुनहली झाँकी ने देश की काया में अमृत विन्दुओं का समावेश कर दिया है कि जिससे उसका कलेवर आज बदल चुका है।

किसी अधिनायक (Dictator) द्वारा संचालित उत्पादन की रूप-रेखा—

आधुनिक आर्थिक प्रथानुसार उत्पादकों तथा भोक्ताओं में संतुलन लाने का काम मूल्य-व्यवस्था (Price-mechanism) के द्वारा होता है। जितने व्यवसाय तथा उद्योगों के प्रणेता हैं वे सभी "मूल्य व्यवस्था" द्वारा ही अपने निश्चयों को कार्यान्वित करते हैं। भोक्ताओं को सर्वाधिक संतृप्त प्रदान कर उत्पादक सर्वाधिक लाभ उठाना चाहते हैं। उत्पादक लोग अपने उत्पादनों का संगठन और संतुलन इस उद्देश्य से करते हैं कि सबसे किफायत उपादान के साधनों का संगठन हो सके। इसके लिये 'सीमान्त उपादेयता' और 'प्रतिस्थापन' वाले नियमों का उपयोग किया जाता है। भोक्ता ही अन्तिम पंच है, निर्णायक है। उसके इंगितों पर उसकी आवश्यकताओं की सम्पूर्त्ति का बहुत-कुछ प्रयास किया जाता है। अतः पूँजीवादी समाज में (Laissez-faire Economy) में भोक्ता और उत्पादक के संबंध की यही संक्षिप्त रूप-रेखा है।

जब उत्पादन का काम किसी डिक्टेटर के हाथों में सौंप दिया जायगा तो ऐसी बातें नहीं रहेंगी। वह अपनी निरंकुशता का परिचय देगा। उसकी इच्छाओं का मापक विभिन्न होगा। वह उसीके अनुकूल काम करना चाहेगा। भोक्ताओं की स्वतंत्रता, उनका स्वत्व जाता रहेगा। डिक्टेटर उन्हें अपदस्थ कर देगा। उसकी इच्छानुसार ही चीजें उत्पादित होंगी। उसकी मान्यताएँ, उसका मूल्यांकन ही ग्राह्य होगा। वह वर्तमान पूँजीवादी प्रणेता के विचारों का परित्याग करेगा।

विभिन्न उपयोगों में वह सीमित साधनों का व्यवहार करते समय जरा स्तम्भित होगा। उसके हाथ में न तो कल्पतरु है और न पारिजात-सा पुष्प ही और न है कोई कामधेनु। वह कोई देवता है ही नहीं कि भोक्ताओं की मूलगत वृत्तियों को परिवर्तित कर दे। वह उनकी अनन्त इच्छाओं को भी न्यून नहीं कर सकता। यदि ऐसी बात

होती तो वह अनन्त इच्छाओं और सीमित उपादानों का सुन्दर समन्वय कर सकता। पर वह भी साधारण मनुष्य की तरह ऐसा करने में असमर्थ है। अतएव उसे भी इच्छाओं का चयन करना पड़ेगा। उन्हें कुछ का परित्याग बरबश करना ही पड़ेगा। पर उसका अपना निर्णय है। हो सकता है कि वह निर्णय हास्यास्पद या विचित्र हो। कोई भारतीय डिक्टेटर लोगों को लँगोटी धारण करने की आज्ञा देगा। कपड़ेवाली मिलों को कम करना होगा। रूई उपजाने के लिये जितनी जमीनें प्रयुक्त होती हैं उनमें से कुछ को चारागाह बना दिया जायगा और गायें पाली जायँगी। दूध का लोग विशेष उपयोग करेंगे। बहुत सामग्रियों का बनाना बन्द कर दिया जायगा और लोग वृक्ष के नीचे पढ़ेंगे-लिखेंगे। "सादा जीवन, उच्च विचार" की नीति अधिकृत की जायगी। डिक्टेटर लोगों की बंदूकें छीन कर उन्हें बदले में चर्खा दे देगा। वह किसी काम को करने के लिये स्वतंत्र है। कोई उससे नहीं लड़ सकता।

डिक्टेटर के मूल्यांकनानुसार उत्पादन-कार्य में उपादान प्रवृत्त किये जायँगे। उपादानों से समान सीमान्त उपज प्राप्त करने का प्रयत्न किया जायगा। यह हम जानते हैं कि 'सीमान्त उपयोगिता" व्यक्तिगत चीज है। यह सबके लिये एक नहीं हो सकती। डिक्टेटर की अपनी मान्यता औरों से दूसरी होगी। हिटलर और गांधीजी ने स्त्रियों को दूसरे कामों को छोड़कर गृह-कार्य करने का आदेश दिया था। कोई मजाकिया और रोमांटिक वृत्तिवाला डिक्टेटर उन्हें जलावगाहन, धूप-स्नान, वायु-विहार करने की आज्ञा दे सकता है जिससे उनका स्वास्थ्य निखरे! वह अपने मापदंड के अनुसार किसी उत्पादन को एक व्यवसाय से हटाकर दूसरे में लगा सकता है। वह निश्चय कर सकता है कि मृगया में जो जमीन लगाई गई है वह कृषि-क्षेत्र की अपेक्षा अधिक उपादेय है।

वह सीमित और असीमित साधनों का संतुलन स्वेच्छापूर्वक करेगा। यदि कोई उत्पादक जो वस्तु अधिक मात्रा में मिलती है उसका

व्यवहार इस तरह करता है कि उसकी सीमान्त उत्पादिका-शक्ति शून्य के बराबर हो जाय तब वह उसका उत्पादन अधिक परिमाण में करेगा। यदि वह उसकी उत्पादिका शक्ति को शून्य नहीं करना चाहता तो वह ऐसा नहीं करता है। पुनः यदि संयुक्त पूर्त्ति विषयक वस्तुओं की उपजें घटाई-बढ़ाई जा सकती हैं तो वह अपनी इच्छा के अनुसार काम करेगा। वह मांस की अपेक्षा ऊन की उपज कम कर सकता है या अधिक। यदि ऐसी चीजों की उपजें कम-वेश नहीं की जा सकतीं तो वह अपने विचार से किसी उत्पादन के साधन को प्रयुक्त करेगा।

भविष्य की ओर डिक्टेटर अपनी इच्छानुसार देख सकता है। वह मनोनुकूल उत्पादन-कर्त्ता उपादानों (Factors of Production) को भोक्ताओं की चीजों की अपेक्षा पूँजीगत चीजों (Capital Goods)—बहुकाल व्यापी वस्तुओं–को तैयार करने, बनाने, आदि में कम या अधिक पैसा खर्च कर सकेगा। वह स्वच्छता, स्वास्थ्य, औषधालय, शिक्षा, आदि चीजों का प्रबन्ध अपनी व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार करेगा। इनमें वह कम या वेशी पैसा लगा सकता है। चाहे तो वह प्रामाणिक (Standardised) वस्तुओं का निषेध कर सकता है और कलाकारों को नियुक्त कर विभिन्न रूप की चीजें तैयार करा सकता है। इस तरह उत्पादन में अधिक खर्च लगेगा। इसी तरह वह अविभाज्य उपकरणों का प्रयोग निश्चित करेगा। चीजों को तैयार करनेवाले कारखाने 'सर्वाधिक प्रसार' उसी हालत में प्राप्त करेंगे जब वह इसकी कामना करता हो।

आबादी के संबंध में उसकी अपनी धारणा हो सकती है। यदि वह आबादी की उत्तरोत्तर वृद्धि चाहता है तो जन्म-गति को वह प्रोत्साहित करेगा। बाल-विवाह, विधवा विवाह, बहुविवाह की प्रथाएँ चलायगा। यदि वह आबादी की उत्तरोत्तर वृद्धि नहीं चाहता हो तो वह परिवार में कितने शिशु होने चाहिये, तय करेगा। इतना ही नहीं, राष्ट्रीय पूँजी के प्रत्येक रुपये, जमीन के प्रत्येक धूर, प्रत्येक जन, प्रभृति का प्रयोग वह स्वयं निश्चित करेगा। वस्तुओं के परिमाण और गुण का

निर्णय वह आप करेगा। वह कुछ अर्थशास्त्र के नियमों को भंग भी कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वेसर्वा का काम कितना कठिन है। फिर भी वह असंभव नहीं। शनैः-शनैः वह सभी छोटे-बड़े कामों को सम्पन्न कर सकता है। आर्थिक डिक्टेटरशिप का ही एक रूप आज रूस में क्रियमाण हो रहा है। जर्मनी में भी इसने काम किया है। उसकी निपुणता में शंका करना भूल है। न जाने भारत इस प्रकार की प्रथा को कार्यान्वित कर सकेगा या नहीं ? भारत सदा से प्रजातंत्र भावना का पुजारी रहा है। शायद ही वह ऐसा कर सके। हमें परिस्थिति का संशोधन चाहिये, परिमार्जन चाहिये। हम अराजकता और कुक्रान्ति नहीं चाहते। हमारा पुरातन और मौलिक मंत्र है "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" और अर्थशास्त्र का आधुनिक झुकाव भी इसी सिद्धान्त के पालन की ओर है।

———

सप्तदश अध्याय

आधुनिक व्यावसायिक प्रवृत्तियाँ और योजनाकरण

(Modern Business Trends And Planning)

प्रथम विश्वयुद्ध के अनन्तर सोवियत रूस ने आर्थिक योजना को इसलिये अपनाया कि वह देशव्यापी विषमता का निराकरण कर धनी-दरिद्र के भेद-भाव को मिटा डाले और प्रत्येक जन को ऐसी सुविधा दे कि वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। परन्तु इसका प्रभाव पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली के अनुयायी और प्रशंसक अर्थशास्त्रवेत्ताओं तथा राजनीतिशास्त्रियों पर ऐसा पड़ा कि उनके कलेजे पर साँप लोट गया और उन्होंने एक स्वर से समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ विशेष वस्तुओं की उपलब्धि को सम्भव बता योजना-पद्धति को एक ओर मानव-हित के लिये घातक बतलाया तो दूसरी ओर सरकार की हस्तक्षेप शून्य नीति (Laissesz Faire or Laisses Passer) को ही संसार के कल्याण का एकमात्र साधन बतलाया।

महाशय एरिक रॉल ने अपने हाल के प्रकाशित निबन्ध में अर्वाचीन आर्थिक गतिविधियों के विषय में बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है। उसमें उन्होंने पूँजीवादी के प्रति तीव्र आक्रोश तथा इसके विपरीत उसका गंभीर समर्थन, इन दो परस्पर द्वन्द्वात्मक बातों का आभास दिया है। आज हमारे समक्ष प्रधानतया चार प्रकार की विचारधाराएँ विद्यमान हैं। पहली विचार-धारा के अनुयायियों का विश्वास है कि पूँजीवाद जिन्दा रह सकता है और उसे जीवित रहना भी चाहिये क्योंकि यह आर्थिक संगठन का एकाकी रूप है जिसका गणतांत्रिक सामाजिक प्रणाली तथा विगत पाँच शताब्दियों से अर्जित पाश्चात्य सभ्यता के आदर्शों से प्रत्यक्ष एवं अभिन्न संबन्धभाव है। फिर भी इस "वाद" की रक्षा

के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम अर्थशास्त्र के जन्मदाताओं, अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदियों के श्रेष्ठ उदार चिन्तकों द्वारा वर्णित पूँजीवाद के गुणों को हृदयङ्गम कर सकें, राष्ट्रीय हस्तक्षेप से कुंठित व्यक्तिगत प्रेरणा तथा स्पर्द्धा का पुनर्निर्माण कर सकें।

दूसरी विचारधारा के अनुसार पूँजीवाद उसी दशा में जीवित रह सकता है जब इसका परिष्कार किया जाय क्योंकि इसकी कुछ विशिष्ट त्रुटियाँ हैं जिन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। एक वर्ग की त्रुटियाँ तो जन्मजात ही हैं। परन्तु दूसरे वर्ग की त्रुटियाँ इसके क्रमिक विकास की देन हैं। वर्तमान पूँजीवाद की उपमा उस युवक से दी जा सकती है जो अत्युत्तम जीवन-यापन में आसक्त रहा है जिसके फलस्वरूप उसे आज इसका मूल्य चुकाना पड़ रहा है। उसपर अंकुश रखने की जरूरत दो कारणों से आ पड़ी है, एक तो इसलिये कि वह जी सके। दूसरा, अपने व्यक्तियों के हित-पालन के लिये। चिकित्सक का नुस्खा है कि उसके अनियंत्रित स्वतंत्रता में पूरी कमी करनी पड़ेगी, भले ही उसकी अनिवार्य प्रकृति को परिवर्तित न किया जा सके। इस प्रकार उसका सचेत जीवन-ढर्रा उसे चिरकाल तक ले चलेगा।

तृतीय मत के लेखकों ने एक अभिनव, पर संश्लिष्ट सिद्धान्त की सृष्टि की है जो पूँजीवाद के नियतिवादी दृष्टिकोण की दुहाई देता है। उनकी धारणा है कि पूँजीवाद इतना अधिक उत्कृष्ट है कि वह सत्य वस्तु होने की क्षमता से परे है। वे पसन्द करते हैं और चाहते हैं कि इसका अस्तित्व रह सके, परन्तु उन्हें विश्वास हो गया है कि यह जिन्दा नहीं रह सकता। कुछ अंशों में वे पूँजीवाद की जरावस्था की आशंका से अभिभूत हो उठे हैं। उनको अनुभूति है कि उसके जीने के समस्त लक्षण निविड़ निराशा के तिमिर से आच्छन्न प्रतीत हो रहे हैं। रोगी की हालत डॉक्टर की अक्ल को चकरानेवाली है, कोई औषधि ठोस प्रभाव डाल नहीं सकती। इतना ही नहीं, इन लेखकों का कथन है कि उसकी शैय्या के चतुर्दिक जो आत्मीय जन, इष्ट-मित्र तथा चतुर चिकित्सक एकत्र हुए हैं वे न तो उसके जीने की

योग्यता में विश्वास करते हैं और न अन्तर्मन से चाहते ही हैं कि वह जिन्दा रहे। रॉल ने बड़े हास्यपूर्ण ढंग से लिखा है कि वे छद्मवेश में उसकी कब्र के खन्दक और उसके भावी उत्तराधिकारी ही हैं। ये लोग पूँजीवाद के अन्तिम प्रस्थान को क्षिप्रवेग से घटित देखना चाहते हैं जिससे वे उसको आत्मसात् कर सकें। इस प्रकार का घातक परिणाम अवश्यम्भावी-सा लक्षित होता है।

चतुर्थ और अन्तिम विचार के अवलम्बियों का कथन है कि पूँजीवाद न तो जिन्दा रह सकता है और न उसका जिन्दा रहना ही उचित है। यह "समाजवादी" विचार-धारा है। उसकी मूल धारणाएँ नयी हों, ऐसी बात नहीं। फिर भी पहले की अपेक्षा वे विस्तृत रूप में प्रख्यात और सर्वमान्य प्रतीत हो रही हैं। सभी मत के समाजवादियों का विचार है कि पूँजीवाद एक जघन्य मानवीय अभिशाप (Evil) है, चाहे इस प्रणाली के अन्तर्गत रहनेवाले कुछ व्यक्तियों के मत और इच्छाएँ इसके पक्ष में क्यों न हों। उनके अनुसार पूँजीवाद वह आर्थिक व्यवस्था है जो अगणित व्यावहारिक हितों और नैतिक भावनाओं को आक्रान्त करती रहती है। इसका आधार है उत्पीड़न और शोषण, इसकी प्रवृत्ति है सम्पत्ति और आय की कुत्सित विषमता तथा इसका जबर्दस्त अभाव है—रोजी की अनिश्चयता और न्यूनतम जीवन-यापन के स्तर की भी अनुपस्थिति। समाजवाद इतनी आलोचना से ही सन्तुष्ट नहीं—वह पूँजीवाद को संकटों, राजतंत्र की विभीषिका, भयानक क्षतियों के स्रष्टा, युद्ध, प्रभृति के लिये उत्तरदायी बतलाता है।

हमें यह जानकर सहसा विस्मय होता है कि आजकल भी उल्लिखित चार वर्गों में से प्रथम वर्ग की भी दुहाई देनेवाले कुछ अर्थशास्त्री वर्तमान हैं तथा इस वर्ग के सिद्धान्तों का असर व्यावसायिकों और उनके संगठनों पर भी जादू-सा पड़ता दिखायी देता है। फिर भी अन्यान्य व्यक्तियों और संस्थाओं पर इसका प्रभाव अत्यन्त तुच्छ और नहीं के बराबर है। स्वतंत्र प्रेरणावाली पद्धति का सबसे सशक्त

समर्थन आस्ट्रियन अर्थशास्त्रवेत्ता डॉक्टर हाएक ने किया है जो इधर कई वर्षों से ब्रिटेन में ही बस से गये हैं।

प्रो० हाएक ने "दासता का पथ" (Road to Serfdom) शीर्षक एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ लिखा है। यह कृति पुनर्जीवित व्यक्तिवाद के सारतत्व के सदृश है और इसकी सफलता एवं प्रसिद्धि इंगलैंड की अपेक्षा अमेरिका में विशेष हुई है। इसमें योजनाकरण के प्रतिकूल जो आर्थिक तर्क प्रस्तुत किया गया है वह अत्यन्त सरल है। आर्थिक व्यवस्था का उद्देश्य है परिमित उपादानों का इस ढंग से प्रयोग-व्यवहार करना जिससे अनन्त ध्येयों की पूर्ति हो सके। बात यह है कि इनका उपयोग कितने कार्यों, समयों और स्थानों में हो सकता है, परन्तु हमें तो सर्वोत्तम कार्य, समय अथवा स्थान का निर्वाचन करना है। चयन को किफायत (economy) शब्द का पर्याय कहा जाता है। पुरातन उदाहरण की नाईं वे स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दुःख-सुख का स्वयं निर्णायक है। इसलिये अपनी चाहों तथा अभिलाषाओं के लिये वह खुद जवाबदेह है। स्वतंत्र प्रतियोगिता से आबद्ध पूँजीवादी विपणि सामाजिक विनिर्मिति की अनूठी भेंट है। यह वह मृदुल साधन है जो समूची व्यक्तिगत इच्छाओं को पचाकर एक समष्टिगत इच्छा की उत्पत्ति करता है। यद्यपि यह सामूहिक इच्छा प्रत्येक पृथक इच्छा से विभिन्न होती है तथापि वह समस्त इच्छाओं को पारस्पनिक किया-प्रतिक्रिया की उपज है। अदमस्मीथ ने भी बहुत पूर्व ही बतलाया था कि "अदृष्ट हस्त" की सक्रियता की वजह से व्यक्तिपरक कल्याण के अन्वेषण में समाज के अधिकतम अंश के अधिकतम कल्याण की पूर्त्ति होती है।

पूँजीवाद के समर्थकों का मन्तव्य है कि जब योजना को अपनाया जाता है तब इस लक्ष्य और यथार्थ में सामाजिक साधन के स्थान में मानवीय विचार का प्राधान्य होता है। मानवीय विचार के दो रूप हो सकते हैं, यथा अधिनायकवाद और गुटबन्दी। इनके मत में योजना और आर्थिक प्रजातंत्र आपस में विरोधी हैं।

कुछ भी हो, हायक महाशय यह बात स्वीकार करते हैं कि पूँजीवादी हाटगत व्यवस्था की छत्रच्छाया में कोई भी जन सर्वथा स्वतंत्र नहीं है। फिर भी उसकी एक विशेषता है—ऐसी दशा में कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के ऊपर भौतिक तथा सामाजिक अवरोध नहीं डालता। यदि उसके स्वातंत्र्य पर कुछ आघात होता है तो वह विपणि की अवैयक्तिक कार्यकुशलता के कारण। इससे एकदम विभिन्न परिस्थिति हमें योजना की हालत में दृष्टिगोचर होती है। इसमें मूल्य, मजदूरी अथवा सूद नहीं, बल्कि सरकार के इंगित और आदेश हमें अपने उपकरणों का प्रयोग करने के लिये परिचालित करते हैं। सबसे अधिक चोखी और चुभती बात जो इस विचार-धारा के प्रतिनिधि लेखक प्रस्तुत करते हैं वह यह है कि योजना की उपस्थिति में हमारी आजादी की निर्मम हत्या होती है। इसके आते सारी निपुणता जाती रहती है। जब तक विपणि अव्याहत रहती है तब तक आर्थिक उपादानों का वितरण बहुत ही सुन्दर और न्यायपूर्ण तरीके से होता है और इसमें समाज के सभी सदस्यों के मुक्त चयन की भी बहुलता रहती है, व्यक्ति-व्यक्ति के दोषों का संशोधन होता रहता है, बेकारी और नुकसान आर्थिक उपादानों के अनुचित उपयोग के सुधारक यत्न के रूप में उपस्थित होते हैं। योजना के संचालन का कार्य-भार जिन लोगों के कंधों पर रहता है वे इस प्रकार की गलतियों से सदैव बचने का प्रयास करते रहते हैं, वे उन प्रेरक शक्तियों की तुलना में नहीं आ सकते जो किसी विपणि को एक वांछनीय समत्व (equilibrium) को ओर ले जाती है।

कहना नहीं होगा कि इस मतवाद के प्रतिनिधि वक्ताओं ने उदाहरणार्थ, प्रो० हायक) प्रोफेसर मिशेश द्वारा की गई समाजवाद की आलोचना को दुहराया है। मुक्त अर्थनीति के पुजारी इन ग्रन्थकारों की गरदन पर समाजवाद का भूत एक बड़े भारी पत्थर की भाँति लटकता नजर आता है। ये लोग मूल्यकरण के प्रश्न को लेकर समाजवादी व्यवस्था को असंभव बतलाते रहे हैं और नहीं समझ पाये हैं कि

यह वैसी चीज नहीं जिसका प्रदर्शन किसी परीक्षणशाला में निर्माण के पूर्व किया जा सके, जिसे शीशा के घर में उत्पन्न किया जा सके जिसमें वे तो प्रवेश नहीं कर सकते, परन्तु जिसकी दीवालों से अपनी नाक रगड़कर उसे देख और उसकी हलकी-सी झाँकी प्राप्त कर सकते हैं। इन लोगों का तर्क है कि चूँकि समाजवादी आर्थिक प्रणाली के भीतर सूद और लाभ-वृत्ति की गुंजाइश नहीं, इसलिये किफायती तथा बेकिफायती उपयोग में अन्तर स्थापित करना दुस्साध्य है।

यहाँ हमें यह विचार लेना चाहिये कि इस धारणा की वास्तविक असार्थकता क्या है। पहले तो इन लेखकों की बहुत-सी आशंकाएँ कल्पित हैं तथा वे रूस देश की व्यावहारिक योजना के सामने मिथ्या सिद्ध हुई हैं। दूसरी बात यह है कि प्रेरणा (incentive) के आधार पर समाजवाद का तिरस्कार करना कि प्रेरणा की कमी उसमें विद्यमान रहती है कतई विश्वसनीय नहीं है क्योंकि जहाँ तक प्रेरणा का सवाल है रूस में इसका प्राचुर्य ही है।

इसके अतिरिक्त पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था स्वातंत्र्य और समानता की पृष्ठभूमि पर नहीं बनी है, इसके ललाट पर सामन्ती प्रथा के जन्मचिह्न उत्कीर्ण हैं। एकाधिपत्यव्यापी (monopolistic) स्थितियों के कारण विषमता और विशिष्ट वर्गों की सुविधाएँ दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही है। जब लोग क्षुधार्त होकर इह-लीला समाप्त कर रहे हों, बेकारी की भीषण ज्वाला में तड़प-तड़प कर प्राण-दान कर रहे हों, इस प्रकार की बातें करना खिलवाड़ नहीं तो और क्या है ! "अदृश्य हस्त" की, अलक्ष्य शक्तियों की कल्पना करना जिनके द्वारा पारितोषिक तथा दंड का वितरण विकृत दशा को दुरुस्त करता है, युगधर्म तथा युग-पुकार का निरा मखौल उड़ाना है, उसपर तीव्र कटाक्ष करना है। यह और कुछ नहीं, प्रतिक्रियावादिता का पूर्ण परिचायक है। प्रतियोगिता से भरे विज्ञापन, एजेण्टों की धूम, नई-नई डिजाइनों से सम्पन्न वस्तुएँ, आदि तत्त्वों को देखकर—जिनका

कोई ठिकाना ही नहीं—इस विचार-धारा पर एक पल सोचने की भी तबीयत नहीं होती। भले ही ये लोग प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्ति-वादी सिद्धान्त का विमल दुग्ध ग्रहण करने का उपदेश दें, परन्तु जो लोक-भावना आधुनिक युग में निःसृत हुई है वह सामूहिक नियंत्रण की महत्ता को सरासर विस्मृत नहीं कर सकती। विश्वव्यापी युद्धों की करालता ने अधिकांश राष्ट्रों की सरकारों को योजना-करण को किसी न किसी अंश में अपनाने के लिये प्रभावित किया है। अमरीका—जैसे पूँजीवादी राष्ट्र में भी उद्योगपतियों ने यह महसूस किया है कि पूँजीवाद का वश समग्र आर्थिक व्यवस्था पर नहीं चल सकता और न इसके लिये अब चेष्टा करना ही उपयुक्त और न्यायसंगत है।

जी० सी० टायलर ने अपने अति सुन्दर ग्रन्थ Economics For the Exasperated में बड़े ही मार्मिक ढंग से बतलाया है कि हम बेकारी की दारुण समस्या का हल पूँजीवादी समाज में नहीं प्राप्त कर सकते। हमें बरबस ऐसे उपायों का सहारा लेना पड़ता है जिनसे पूँजीवादी समाज की प्रकृति में यत्र-तत्र परिवर्तन करना अपरिहार्य और अनिवार्य हो जाता है। विश्व की जैसी समकालीन परिस्थिति है उससे हम सहज इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "विक्टो-रियन विश्वास" का आज कोई महत्व नहीं रह गया है। वह विश्वास था कि व्यक्तिनिष्ठ उत्पादकों का स्वार्थ-साधन अन्ततोगत्वा सार्वजनिक सुख में परिणत हो जाता है। इसलिये लोग अब बात की अर्थवत्ता उत्तरोत्तर आँकने लगे हैं कि उद्योग-धंधों के प्रणेताओं के निजी मामलों में हस्तक्षेप करके उन्हें समष्टि की भलाई में उन्मुख करना होगा।

आपने पहली मीठी चुटकी लेते हुए लिखा है कि योजनाकरण की भर्त्सना करने में बहुतों ने कितने गैलन रोशनाई खर्च कर डाली है। उनका कथन है कि कोई भी आर्थिक प्रणाली सर्वथा दोषरहित नहीं होती। ऐसी अवस्था में क्षमता या निपुणता की पहचान क्या

हो सकती है? इनके विचार में जो प्रणाली कुछ गलतियाँ करके भी यदि अपनी क्षमता से सामाजिक हित की वृद्धि करती है तो वह समर्थनीय है।

दूसरी मधुर चुटकी लेते हुए टायलर महाशय ने लार्ड एकटन की लोकविदित पंक्तियों की ओर संकेत किया है जिनके आधार पर हायक ने मानों अपने भव्य प्रासाद की भित्ति कायम की हो। एकटन ने लिखा था, "सभी प्रभुत्व का धर्म है दूषित करना। निरपेक्ष प्रभुता तो निरपेक्ष रूपसे दूषित करनेवाली होगी।" हायक के अनुसार योजना की परिपाटी से दास-प्रथा की सर्जना होगी। परन्तु यदि एकटन के विचार पर अपने कार्य केन्द्रित करें तो हम सबको प्रभुत्व का परित्याग करके शक्तिशून्य दास बन जाना चाहिये! टायलर ने बर्नहम के व्यवस्थापिक राष्ट्र—managerial state—की आलोचना करते हुए लिखा है कि यह कल्पना करना कि समाज के समस्त अधिकारों को आत्मसात् करके व्यवस्थापक या प्रबंधक प्राचीन शासकों का रूप धारण कर लेंगे, विश्वासास्पद नहीं जान पड़ता क्योंकि जनता अपने गणतांत्रिक नियंत्रण से उन्हें कदापि मुक्त नहीं रख सकती।

पूँजीपति और उद्योगपति प्रभुतासम्पन्न व्यक्ति हैं। बिना उत्तरदायित्व के किसी प्रकार की प्रभुता की कल्पना नहीं की जा सकती। टायलर का मत है कि योजनाकरण के बिना, समाजवाद को किसी-न-किसी रूप में अपनाये बिना समाज का काम चलने का नहीं। लेकिन योजना का मार्ग इस ढंग का हो कि केवल केन्द्रीकरण ही न हो, प्रत्युत् विकेन्द्रीकरण का पूरा समावेश भी हो। जैसा कि जीवकिस ने अपनी पुस्तक "Ordeal By Palanning" में बतलाया है—जिस तरह किसी सुअर का इतना बढ़ना कि वह हाथी के समान मोटा हो जाय असंभव है, उसी प्रकार किसी भी केन्द्रीय सरकार के लिये यह संभव और निरापद नहीं कि वह सम्पूर्ण स्थानीय आर्थिक समस्याओं को स्वयं सम्पादित कर सके और गणतांत्रिक स्वराज्य के अस्तित्व का दंभ भर सके। अतएव हमें योजनाकरण को अनिवार्य

स्वीकार करते हुए भी विकेन्द्रीयकरण की महत्ता को स्वीकार करना पड़ता है और यह कहना असंगत नहीं होगा कि युग का झुकाव इसी दिशा की ओर है। पूँजीवाद की यह नई लहर युग-धर्म के इस लहराते समुद्र में सदा के लिये विलीन होने वाली है। जिस तरह रेशम का कीड़ा अपने वैभवाधिक्य का शिकार बनता है उसी तरह पूँजीपतियों की भी अन्तिम दशा होगी।

ऊपर यह निवेदन किया जा चुका है कि किस तरह वर्तमान आर्थिक चिन्ता-धारा का तृतीय स्कूल पूँजीवाद के नियतिवादी दृष्टिकोण की दुहाई देता है। कुछ भी हो, यह स्कूल अभी तक किसी विशिष्ट मतवाद की महत्ता प्राप्त नहीं कर सकता है। उसकी रूप-रेखा भी अभी निश्चित और ठोस नहीं हो सकी है। फिर भी इस विचार का अभिनंदन कुछ उदीयमान अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने किया है। इनमें से एक ओजस्वी आधुनिक लेखक हैं प्रो० शूम्पेटर जो हार्वार्ड विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के एक विख्यात आचार्य हैं। उनकी नवीनतम कृति है "पूँजीवाद, समाजवाद और प्रजातंत्र"। वे उस विचार के अनुयायी हैं जो विश्वास करता है कि यद्यपि पूँजीवाद को पाश्चात्य समाज का आर्थिक ढांचा रहना चाहिये, तथापि उसमें इतनी शक्ति नहीं रह गई है कि वह जीवित रह सके। उनकी धारणा है कि पूँजीवाद के अनिवार्य विघटन से एक समाजवादी ढंग के समाज की उत्पत्ति होगी। किसी समाजवादी और शूम्पेटर में यही फर्क है कि वे इस भावी स्थिति का स्वागत करने को तैयार नहीं, बल्कि वे इसपर पश्चाताप प्रकट करते हैं। उनका दावा है कि पूँजीवाद आत्म-सृष्ट शक्तियों के द्वारा आहत हो रहा है और उसे इस घटना से बचाने वाला कोई नहीं।

ठीक कार्ल मार्क्स की तरह उनका विश्वास है कि पूँजीवाद का अधःपतन अवश्यंभावी है। पूँजीवाद की परिणति होगी समाजवाद में। तो भी उनके विश्लेषण की एक विशेषता है। खासकर समाजवाद की प्राप्ति की विधि के संबंध में उनका विचार कार्ल मार्क्स के विचार

से सर्वथा भिन्न है। वर्ग-वर्ग के मध्य रहनेवाली संघर्ष-भावना में उनकी आस्था एकदम नहीं। इसके अतिरिक्त वे हिंसा के माध्यम द्वारा समाजवाद की प्रतिष्ठा करने के हिमायती नहीं। इसके विपरीत उनका मत है कि जब पूँजीवादी समाज परिपक्वता की दशा प्राप्त कर लेता है तो वह अपने अन्दर एक विशेष गति को पैदा करता है जो अन्ततः समाजवादी राष्ट्र में परिवर्तित हो जाता है।

महाशय शूम्पेटर का कथन है कि पूँजीवाद का अन्त इसलिये अवश्यंभावी है कि अपने क्रमिक विकास की गति में ही यह उन अवस्थाओं को जन्म देता है जो इसके संरक्षक सामाजिक तत्वों को विनष्ट कर डालती हैं। इन्हें जरा भी सन्देह नहीं कि यदि पूँजीवाद आगामी अर्द्ध शताब्दी में गत पचास वर्षों के कारनामे पुनः दुहरा देता है तो यह उत्पादन तथा आय में वैसी वृद्धि कर सकेगा जो एक ओर तो दरिद्रता को समूल दूर कर देगी और दूसरी ओर सामाजिक अभिवृद्धि को संभव बना सकेगी जिससे पूँजीवाद के विद्रोहियों के कटाक्षों का कोई महत्त्व नहीं रह जायगा। परन्तु वे यह बात मानने को तैयार हैं कि पूँजीवाद में पुनः अपने कृत कार्यों को सम्पन्न करने की क्षमता है ही नहीं। बहुतेरे अर्थशास्त्रज्ञों ने बतलाया है कि वे शर्तें या हालतें जो आर्थिक अभ्युदय के लिये आवश्यक हैं और जो पूँजीवादी प्रणाली के प्रधान चिह्न हैं, धीरे-धीरे मिटती जा रही हैं, यद्यपि उनका अस्तित्व एकदम खतम नहीं हो गया है।

पूँजीवादी प्रणाली के अन्तर्गत समाजवाद निहित है और पूँजीवाद शनैः शनैः समाजवाद की ओर पैर बढ़ा रहा है। समाजवाद उसका निर्दिष्ट बिन्दु है। वहाँ वह प्रकाशस्तम्भ देदीप्यमान हो रहा है जिसकी अशेष ज्योति में पूँजीवाद रूपी पथिक बढ़ता जा रहा है। पूँजीवाद उतने से ही सन्तुष्ट नहीं, वह वस्तुओं और व्यक्तियों को समाजवादी साँचे में ढालता जा रहा है। पूँजीवाद अन्त में समाजवाद में रूपान्तरित होगा ही, किन्तु उसके लिये स्पष्ट कार्य की जरूरत होगी और कतिपय समस्याओं को सुलझाना पड़ेगा।

इस स्कूल का तर्क इस प्रकार का है:—किसी आर्थिक व्यवस्था के साफल्य की जाँच है कि वह "कितना और" सम्पूर्ण उत्पादन में जोड़ सकती है। शूम्पेटर ने बतलाया है कि सन् १८७० से सन् १९३० तक संयुक्त राज्य अमेरिका के आर्थिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से हम देखते हैं कि प्रतिवर्ष प्राप्त उत्पादन में २ प्रतिशत वृद्धि हुई थी। यदि पूँजीवादी इंजिन इसी वेग से और पचास वर्ष उत्पादन करती रही तो सन् १९७८ में समूचा उत्पादन सन् १९२८ के उत्पादन का २½ गुणा होगा। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति की आय भी १९२८ की आय से दुगुनी होगी। याद रहे कि १९२८ में एक अमरीकन की औसत आमदनी ६५० डालर मानी गई थी।

उपर्युक्त वर्णन को देखते हुए यह कहना कि पूँजीवाद की अब शव-परीक्षा होनी चाहिये, विरोधाभास-सा प्रतीत होता है। परन्तु बात वास्तव में कुछ दूसरी ही है। कुछ लोगों का वक्तव्य है कि पूँजीवाद में वृहत् पैमाने पर उद्योग-धंधे बढ़ रहे हैं। एकाधिपत्य का ताँता बढ़ता जा रहा है। इसका दुष्परिणाम यह होगा कि प्रतियोगिता की समाप्ति हो जायगी। कहना नहीं होगा कि पूर्ण और स्वतंत्र प्रतियोगिता ही पूँजीवाद की आत्मा ठहरी और वही उसके नेत्र की पुतली है, तथा वही उसके चरित्र को उदात्त बनाती है, उसे एक अनोखा स्वर देती है। जब यही नहीं रहेगी तो पूँजीवाद भी जिन्दा नहीं रह सकेगा। नियतिवाद स्कूल के प्रतिनिधि लेखक इस विचार को अस्वीकार करते हैं। वे तो वृहत व्यवसायों की दुहाई देते हैं। वे कहते हैं कि ये सब जीवन के स्तर के उन्नयन में बड़े सहायक रहे हैं।

पूँजी-नियोग के अवसरों का जमाना लद गया। पुरातन काल में ऐसे अवसर अनेक थे। जब ये ही अवसर मिट चले तो पूँजीवाद के विनाश की बात सोचना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। उन्नीसवीं सदी में आर्थिक अभ्युदय के प्रोत्साहक कितने साधन थे जो अब नहीं रहे। आबादी का विकास मन्द या अवरुद्ध-सा हो गया है। नयी जमीनें नहीं कि उनसे अन्नोत्पादन के लिये श्रमिकों और

पूँजी को लगाया जाय। यांत्रिक (टेकनालोजिकल) अनुसन्धान भी निकट भविष्य में बहुत कम हो जायेंगे। यदि गत अर्द्धशताब्दी में मौद्रिक साधनों में आशातीत उन्नति हुई तो भविष्य में उनमें अशान्ति होने के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। पूँजी लगाने लायक बहुतेरे जो क्षेत्र थे वे अब आपूरित हो गये हैं। खालिस पूँजी नियोग की सुविधाओं के स्थान सार्वजनिक पूँजी-योग की संभावनाएँ अत्यधिक बढ़ रही हैं। सबसे प्रधान बात तो यह है कि १८७० से १९१४ के बीच अपेक्षाकृत राजनीतिक शान्ति का जो वातावरण था उसकी उम्मीद आगामी कुछेक शताब्दियों में नहीं की जा सकती। इस मत के अनुसार उत्पादन के नियोगी तत्वों के योग के लिये जो गुंजाइश है वह यांत्रिक प्रगति की गति के साथ जुड़ी हुई है।

इन नियतिवादी चिन्तकों का एक और तर्क है। वे कहते हैं कि आधुनिक पूँजीवाद की सांस्कृतिक विशिष्टताएँ इसके जीवन-धारण करने में बाधक हैं। प्रथमतः बहुमत भले ही पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली और इसके मानसिक दृष्टिकोणों को अंगीकार करें, परन्तु उसमें इस प्रणाली की रक्षा करने के लिये जी-जान से लड़ने की अभिवृत्ति अंतर्हित है ही नहीं। आरंभ में स्वतंत्र प्रेरणा की पद्धति की रक्षा करना अगणित प्रभावशाली व्यक्तियों के अपने हित एवं सुख से संबंध रखता था, उसके रक्षण पर ही इनकी भलाई अवलम्बित थी। सौ वर्ष पहले कृषि और छोटे पैमाने के उद्योग ही प्रधान आर्थिक रूप थे और उनमें आधिपत्य तथा प्रेरणा दोनों का मणिकांचन—हेम-मोद—संयोग था उनमें व्यक्तिगत आपत्तिवाहन के तत्त्व का प्राचुर्य था। पहले के उद्योगपतियों में रण-सुभटों की उमंग थी, तेज था, अदम्य साहस था, साहस की भावना थी। आपको ऐसे लोग बहुत मिलते जो इस संग्राम में अपने को प्रवृत्त करने को उत्कट रहते थे, अपना सर्वस्व भी व्यवसाय में झोंक देने की ऐंठ उनमें भरी थी, वे जितना हो सके उतना हड़पने की अभिलाषा से उत्प्रेरित थे। वे अनियंत्रित ढंग से काम तो जरूर कर रहे थे, परन्तु उसका फल

अन्ततः लाभदायक ही होता, नयी भावनाओं की उत्पत्ति होती, अभिनव आविष्कार और अनुसन्धान होते और इनसे आर्थिक विकास के नये अवसरों की उत्पत्ति होती।

महाशय शूम्पेटर का कथन है कि पूँजीवाद का विघटन इसलिये होगा कि सम्पत्ति के भौतिक सार पदार्थ का खात्मा हो रहा है। आर्थिक विकास शनैः शनैः अवैयक्तिक और स्वतः प्रेरित हो रहा है। मध्यकाल में जिस तरह रण-बांकुड़े और तस्कर-बटमार बैरन लोग थे उसी तरह विगत शताब्दी में पूँजीपति तथा उद्योगपति भी होते थे। आज इनका स्थान सम्मिलित पूँजी कम्पनियों और कॉरपोरेशनों और वेतन पाने वाले प्रबन्धकों, कर्मचारियों तथा समितियों ने ले लिया है। किसी व्यवसाय का मालिक कोई है तो उसका संचालक कोई दूसरा। पहले किसी वस्तु का अधिपति उसके उत्कर्षापकर्ष, उसके लाभदायिता की बातें सोचता था, परन्तु आज वह बात नहीं। अधिपति को प्रबन्ध के बारे में तनिक भी सोचने की न अभिरुचि है और न फुरसत ही—जितने प्रबन्धक और कर्मचारी हैं वे अधिपति की दृष्टि से व्यवसाय के लाभालाभ पर विचार कर ही नहीं सकते। इस तरह परम्परागत रुचि और प्रेरणा का क्रमशः अधःपतन हो रहा है। इतना ही नहीं, बड़े-बड़े उद्योग-धंधों को चलाने वाले व्यक्ति जरूरत पड़ने पर पूँजीवाद की रक्षा के लिये वैसी आवाज नहीं उठा सकते जैसी वाणी उनके मालिक उद्घोषित कर सकते थे। इस तर्क की मार्मिक अभिव्यक्ति शूम्पेटर के शब्दों में ही देखिये, "पूँजीवादी पद्धति किसी मिल या फैक्टरी की दीवालों और मशीनों के बदले शेयरों की एक गट्ठर उपस्थित करती है। इस तरह मानो वह लाभ-वृत्ति की जान ही ले लेती हो। वह वैध्य अधिकारों और अपनी वस्तु के साथ मनचाही करने की योग्यता की सबल पकड़ को भी हिला डालती है। किसी उद्योग का मालिक (शेयराधिकारी) अपनी फैक्टरी और उसके ऊपर अपने हक, इन दोनों के लिये आर्थिक, प्राकृतिक, राजनीतिक, प्रभृति साधनों से लड़ने की इच्छा को खो देता

है। पहले वह फैक्टरी की सीढ़ियों पर लड़ते-लड़ते जान गँवा देने की इच्छा रखता था, लेकिन अब वह बात जाती रही।

इस प्रकार की विचारधारा का प्रभाव एकांगी नहीं, सर्वांगीण और चतुर्दिक है। साधारण कर्मचारियों और आमजनता पर भी इसका असर जादू डालता। आज का व्यक्तित्वशून्य, निर्जीव, निकम्मा और अनुपस्थित "स्वत्व" प्रभावोत्पादकता से रहित है और संचालक—मंडल तथा सेवकों से वैसी सेवा-वृत्ति और लगन-भावना की उपलब्धि की आशा नहीं कर सकता। बड़े व्यथित स्वर में शुम्पेटर एलान करते हैं, "बृहत्काय व्यवसायों और उद्योगों के भीतर-बाहर अब वैसे लोग नहीं रहे जो उनके समर्थन के लिये सन्नद्ध जान पड़ें।" ये लोग कहते हैं कि वर्तमान श्रमिक पूँजीपति बन जाने पर भी इस "वाद" की रक्षा के लिये जी-तोड़ प्रयास नहीं कर सकता। इनका तर्क है कि नागरिक, औद्योगिक मजूर आज पूँजीवाद का दुर्द्धर्ष शत्रु बन रहा है। पूँजीवाद के संरक्षकों—जैसे जमींदार, राजे-महाराजे चर्च, सेनाएँ—का भी अन्त पूँजीवाद के क्रमिक विकास से होता नजर आ रहा है।

पूँजीवाद की समाधि खोदनेवाले कितने ही प्रभाव हैं। पूँजीवाद चैतन्य का जनक है और चैतन्य से बुद्धिजीवियों की उत्पत्ति होती है। पूँजीवादी समाज ने अपने आर्थिक विकास के लिये शिक्षा-दीक्षा के व्यापक अवसरों का निर्माण और प्रबन्ध किया है। इसका अन्तिम फल हुआ है कि यह पूँजीवाद के आलोचकों की प्रिय प्रसुति-भूमि बन गया है। जो बुद्धि-परिकर है वह वस्तुतः आलोचक भी है। पूँजीवाद स्वभावतः क्रमभंग, अनायोजित और अनैतिक पद्धति है। इसलिये बुद्धिमान व्यक्ति को इससे उसकी सुकोमल क्रम-भावना को आघात पहुँचता है। अतएव वह उन प्रतिगामी शक्तियों को परिपुष्ट करने में जरा भी नहीं हिचकता जो इस पद्धति को नष्ट करने पर आरूढ़ रहती हैं। पूँजीवाद का जैसा रंग-ढंग है उससे शिक्षितों में भी एक सर्वहारा वर्ग की पैदाइश होती है और क्रमशः बौद्धिक बेकारी बढ़ती जाती है। खासकर धर्म-प्रधान और जाति-प्रधान देश, जैसे भारतवर्ष पूँजीवाद

तथा सामन्तवाद को विभीषिकाओं के अतिरिक्त जातिवाद के जहर से भी, जिसकी वजह से प्रवीणता और योग्यता की कोई मर्यादा ही जातीयता के समक्ष नहीं रह जाती, आज का युवक क्षुब्ध हो उठा है। इस प्रकार लोगों में एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण का पुटपाक हो रहा है। एक प्रकार की आर्थिक अभिरुचि का जन्म होता है जिससे एक तरह की वर्ग-चेतना की प्रसूति होती है। अतः बहुत-से बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति पूँजीवाद के शत्रु बन जाते हैं। धीरे-धीरे पूँजीवाद के सहायक तत्वों का प्रभाव घट रहा है। उदाहरणार्थ, रीति-नीति के भाष्यकर्त्ताओं का प्रभाव न्यून हो रहा है, । राजनीतिक चिन्तकों की घबड़ाहट बढ़ रही है। इससे इस मत के मर्मज्ञ वक्ताओं में घोर निराशा का संचार हो रहा है।

इस स्कूल की विशेषता दो प्रकार की है। एक तो इसकी बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिन्हें समाजवादी विचारधारा के अनुयायी भी स्वीकार करते हैं। दूसरे, इसका विचार उस स्कूल के विचार से बहुत मिलता-जुलता है जिसका कथन है कि पूँजीवाद की सार-वस्तु की रक्षा किसी भी दशा में नहीं हो सकती है। फिर भी इस स्कूल की बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिन्हें हम स्वीकार नहीं कर सकते। शूम्पेटर का विवेचन ठोस होने पर भी कई अंशों में भ्रामक है। उसका ऐतिहासिक पृष्ठाधार भ्रममूलक है। एक तरह से यह अपनी सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति को एक कल्पित आदर्शगत स्वर्ण-युग से सम्बद्ध करता है। उसी प्रकार यह कहना कि लोग पूँजीवाद को बचाने से उदासीन दीख पड़ते हैं विश्वासास्पद नहीं जान पड़ता। जैसा कि बेवाइन महोदय ने अपने ग्रन्थ में बतलाया है, एक सामान्य मजदूर भी अपेक्षित शिक्षा प्राप्त कर अपने को एक भारी पूँजीपति के पद पर आरूढ़ होने की क्षमता से परे नहीं मान सकता और उसके दिल में उस स्थिति के लिये एक बेहद तड़प भी है। पूँजीवाद की रक्षा के लिये प्राचीन और आधुनिक इच्छा में कोई गंभीर अन्तर नहीं है। इतना ही नहीं, जब इस स्कूल का दावा है कि पूँजीवाद मानव-समाज के जीवनस्तर के उन्नयन

और व्यावसायिक अभ्युदय में सहायक रहा है तब कैसे यह आशा की जा सकती है कि पूँजीवाद की राख पर समाजवाद का उदय हो सकेगा ? फिर, टेकनिकल संभावनाओं का कोई अभाव भी नहीं दीख पड़ता ।

सबसे बड़ी आलोचना जो इस स्कूल की हो सकती है वह यह है कि इस सिद्धान्त में शहरूपन की बू बहुत अधिक है और इसके समझने के लिये बुद्धि की जरूरत है। इसको वही मान सकता है जो दुनिया से ऊब गया हो और जो सामाजिक अवस्था के ऊपर दृष्टिपात करने से विमुख हो। विशिष्ट अर्थशास्त्रवेत्ताओं में भी कितने ऐसे व्यक्ति हैं जो वर्तमान सामाजिक बुराइयों की केवल परीक्षा करके ही चुप रह जाते हैं और विश्व के निर्माण में भाग नहीं लेते हैं। अब इस स्कूल का कोई महत्व नहीं रह गया है। यह वैसे कुछ लोगों के मस्तिष्क की उपज है जिन्हें सामाजिक सुधार के लिये कुछ करना-धरना नहीं है। यह पूँजीवाद का मरण-गान (swan-song) मात्र है।

शूम्पेटर के विश्लेषण में हमने देखा कि उद्योग-धंधों के तथाकथित अधिपति और स्वत्वाधिकारी के स्थान वेतन पाने वाले कर्मचारी और प्रबन्धकर्त्ता अन्ततोगत्वा ले लेंगे और इस ढंग से समाजवादी समाज की उत्पत्ति होगी। इस विचार-धारा को जेम्स बर्नहम ने अपनी पुस्तक "दी मैनेजेरियल स्टेट" में विशद रूप में अभिव्यंजित किया है। उनका कहना है कि जब ऐसी सूरत आ खड़ी होगी तो प्रबन्धकर्त्ता प्रभुत्व ग्रहण करेंगे और उनके शासन-सूत्र वहन करने से एक नूतन समाज का आविर्भाव होगा जिसे "प्रबन्धकर्त्ता संचालित समाज" का नाम प्रदान कर सकते हैं। वह आज के पूँजीवादी समाज का विपरीत होगा। मोटे तौर से बर्नहम भी समाजवादी तौर के समाज की ही परिकल्पना करते हैं, लेकिन वे उसे "मैनेजेरियल" समाज कहना अधिक अच्छा समझते हैं। इस समाज का प्रादुर्भाव इस प्रकार होगा:—पूँजीवाद का जो रवैया है उससे एक दिन समस्त कारोबार के संचालक मैनेजर ही होंगे उनकी ही देख-रेख रहेगी। सम्पत्ति के

वितरण में उन्हें विशेष सुविधा मिलेगी। उनकी मर्जी पर बहुत-कुछ निर्भर करेगा। ऐसा क्यों ? यह इसलिये नहीं कि वे लोग उद्योग-धंधों के मालिक हैं, बल्कि इसलिये कि वे उनके प्रबंधक हैं, वे राष्ट्र के सूत्रवाहक हैं। अतएव अप्रत्यक्ष रूप से वे उद्योग-धंधों के अधिकारी और प्रबन्धक हुए। धीरे-धीरे वे शासक-वर्ग की जगह ले लेंगे।

बर्नहम महोदय के विचार से साम्य रखता हुआ डरबीन साहब का विचार है। इनकी पुस्तक का शीर्षक है "दी पोलिटिक्स ऑफ डेमाक्रैटिक सोशलिज्म"। लेखक ने उसमें गणतांत्रिक समाजवाद का सपना देखा है जिसमें पूँजीवाद बड़े वेग से उस क्रान्ति से गुजर रहा है जो समाजवादी अर्थप्रणाली को पैदा करती है। बड़े-बड़े कारखानों में स्वत्व का विभाजन कितने व्यक्तियों के बीच होता है। डरबीन भी शूम्पेटर की तरह अपने तर्क उपस्थित करते हैं। वे बतलाते हैं कि पूँजीवादी समाज क्रमशः तीन व्यापक खंडों में विभक्त हो रहा है। वे खंड हैं—(अ) पूर्ण संचालकों (डाइरेक्टरों) का खंड (ब) पूर्ण लाभग्राहियों (रेएटीयरों) का खंड और (ग) पूर्ण प्रबन्धकों (मैनेजरों) का खंड। डरबीन महोदय का तर्क है कि यदि आप पाश्चात्य देशों के विशाल उद्योगों का निरीक्षण करें तो आप पायेंगे कि डाइरेक्टर आज उनके सर्वेसर्वा नहीं रहे। उनकी जगह नियंत्रण के क्षेत्र में प्रबन्धकों ने ले ली है। इस तरह डाइरेक्टरों के प्रभुता का जो ह्रास हुआ है वह यथार्थतः आर्थिक प्रभुत्व का ह्रास ही है। जो आर्थिक प्रभुत्व का नियंता है वही राजनीतिक प्रभुत्व का भी वाहक है। डरबीन का यही मत है और मार्क्स का विख्यात सिद्धान्त भी इसकी पुष्टि करता है। शेयराधिपतियों का मतलब अब केवल डिविडेएड (बाँट) आँटने से रह गया है। शेयर अथवा स्टाक बाजार उनकी मृगया-स्थली (hunting ground) बन चुके हैं। सट्टा करने वालों की एक श्रेणी समाज में बढ़ती जा रही है। इस तरह पूँजीवादी समाज में एक भयानक क्रांति फैलती जा रही है। जिसका अंतिम परिणाम होगा समाजवादी समाज की अवतारणा।

ऊपर जो कुछ निवेदन किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नियतिवादी आधार पर पूँजीवाद को नाड़ी टटलने वालों का मन्तव्य है कि पूँजीवाद के भस्म पर समाजवाद की प्रतिष्ठा होगी, परन्तु इसके समर्थन में वे लोग जो तर्क प्रस्तुत करते हैं उनपर विश्वास जमांना कठिन जान पड़ता है क्योंकि वस्तु-स्थिति से यह बात असत्य प्रमाणित होती है। पूँजीवादी समाज में धनिकों का प्रभाव इतना बढ़ रहा है कि प्रजातंत्र की दुहाई देने वाले राष्ट्रों में भी उनका ही बोलबाला है और शासन के सूत्र राजनीतिक प्रभुत्व आर्थिक प्रभुता का स्रोत दास-सा बनता लक्षित होता है। इसके कुफल भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं और जनता के बीच प्रतिक्रिया की आग क्रमशः धधकती जा रही है। जो लोग शासन के आसन पर बैठे हैं वे सर्वथा बहरे व अन्धे नहीं। वे महसूस कर रहे हैं कि उनका निरंकुश शासन अधिक दिन चलने का नहीं। वे इधर-उधर थोड़ी-बहुत राजनीतिक सुविधाएँ देकर क्रांति की गति को मन्द तथा गुमराह करने की भरपूर चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु उनकी सफलता के लक्षण संदिग्ध ही हैं और यह कहना नहीं होगा कि जनता के व्यापक आन्दोलन से किसी न किसी दिन समाजवाद की, भले ही उसका रूप गणतांत्रिक समाजवाद का हो, प्रतिष्ठा होकर ही रहेगी।

———

अष्टादश अध्याय

अर्थ और उद्योग (Finance and Industry)

किसी उद्योग की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रश्न एक बहुत ही प्रधान प्रश्न है और आजकल उसकी प्रधानता और भी बढ़ गई है, यह प्रश्न ऊपर-ऊपर बहुत सीधा प्रतीत होता है लेकिन यह इतना सीधा और सरल नहीं। सुविधा के लिये हम इस प्रश्न के ऊपर दो दृष्टिकोणों से विचार कर सकते हैं :—(१) हम किसी एक फर्म की आर्थिक समस्याओं के ऊपर विचार करेंगे। उनको भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : (अ) किसी फर्म को शुरू करने का सवाल (ब) किसी चलते हुए फर्म को आर्थिक सहायता देने का सवाल (२) हम किसी उद्योग के कई फर्मों को आर्थिक सहायता देने के प्रश्न के ऊपर विचार कर सकते हैं।

आजका युग संयुक्त-पूँजी की कम्पनियों का युग है। सर्व-साधारण लोग अपनी थोड़ी-बहुत बचतों को किसी-किसी कम्पनी में जमा कर देते हैं। कुछ बैंक भी कम्पनियों की स्थापना में आर्थिक सहायता देते हैं। पहले तो उनका मतलब केवल अर्थ-प्रदान करना रहता है लेकिन बाद में वे कम्पनियों के शासन में भी भाग लेने लगते हैं। वे कम्पनियों के शासन-मंडल में अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। संयुक्त पूँजी की कम्पनियों की महत्ता यह है कि इनके द्वारा काफी पूँजी जो यों जमा नहीं हो सकती थी जमा हो जाती है।

किसी व्यवसाय को तीन प्रकार की पूँजी की जरूरत पड़ती है। (१) एक तो प्रारंभिक पूँजी है जिसके बिना कोई व्यवसाय कायम ही नहीं हो सकता। (२) एक स्थायी पूँजी है जो मकान, मशीन आदि में लगाई जाती है। (३) एक प्रकार की पूँजी चल (wo-rking) पूँजी होती है जिसके सहारे दैनिक कार्य सम्पन्न होते हैं।

तीसरे प्रकार की पूँजी देने का काम साधारणतया बैंकों का होता है। वे किसी उद्योग के उत्पादन और वाणिज्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करते नहीं लेकिन उसकी जोखिमों को उठाते हैं। इस का के लिये बैंकों में विशिष्टीकरण भी होता है। डिस्काउन्ट हाउसेज और एकसेपटिङ्ग हाउसेज दैनिक पूँजी प्रदान करने में सभी बैंकों में आगे रहते हैं।

पहले प्रकार की पूँजी कई जरिये से मिलती है—व्यवसाय खोलनेवाले कुछ हिस्सा देते हैं, कुछ लोग इनको रुपया कर्ज देते हैं, बैंक भी कुछ हिस्सा देते हैं। बैंक तरलता अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि उसीपर उनका लाभ निर्भर करता है। तरलता और लाभ (Liquidity and Profitability) के सिद्धान्तों में परस्पर संघर्ष चलता है। बैंक छोटे फर्मों की मदद करते हैं क्योंकि उन्हें कम रुपया उधार देना पड़ता है। बड़े फर्मों को एकसेपटिंग हाउसेज, अन्डर राइटिंग हाउसेज और इसूइंग हाउसेज की शरण लेनी पड़ती है।

द्वितीय प्रकार की पूँजी को देने का सवाल जरा टेढ़ा है। कई बार ऐसा हुआ है कि कुछ बैंकों ने कुछ उद्योगों की मदद की लेकिन बाद में उन्हें रुपया समय पर वापस मिल न सका और उन्हें न चाहते हुए भी उन उद्योगों का आंशिक अधिपति और शासक बन जाना पड़ा।

वर्त्तमान व्यवसाय-जगत् में कुछ मौलिक परिवर्तन हुए हैं। पहले रचनात्मक (Constructive) बुद्धिवाले व्यक्तियों का आदर-मान बहुत था। अब वाणिज्यात्मक (Commercial) बुद्धिवालों की कद्र अधिक है। अब व्यापार के रहस्य कम हो गये हैं। अब उन्हीं लोगों की प्रधानता है जो पूँजी पर अधिकार रखते हैं और खरीद बिक्री में होशियार होते हैं। यह संयुक्त पूँजी को कम्पनियों के अभ्युदय का परिमाण है। यह प्रो० मार्शल का कथन है। प्रो० कोल भी कहते हैं कि आज पूँजीवाद के जिस विकसित रूप को हम देख रहे हैं उसमें उद्योगपति से अधिक प्रधानता पूँजीपति की है। पूँजीवाद

की पिछली अवस्था में व्यापारी से उद्योगपति की प्रधानता बढ़ गई थी। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उद्योगपतियों और पूँजीपतियों के वर्ग अलग-अलग हैं। बहुत ऐसे दृष्टान्त हैं कि जो उद्योगपति हैं वे ही पूँजीपति भी हैं।

जब कोई नया फर्म खुलता है तब कच्चे माल के बेचनेवाले भी उधार सौदा देकर संस्थापकों की मदद करते हैं। विज्ञापन द्वारा भी कुछ बाहरी व्यक्तियों को पूँजी लगाने के लिये आकृष्ट किया जाता है। लेकिन नये फर्मों की हालत जब तक वे बड़े पूँजीपतियों के द्वारा खोले नहीं जाते तब तक बड़ी नाजुक रहती है। उन्हें बैंकों की अधूरी सहानुभूतियाँ सहायता मिलती है। हाँ, यदि सरकार चाहे तो उनकी हालत सुधारने के लिये हस्तक्षेप कर सकती है, बैंकों को उन्हें कर्ज देने के लिये प्रेरित कर सकती है, नई आर्थिक संस्थाओं को खोलकर उन्हें आर्थिक सहायता दे सकती है।

नये फर्मों की स्थापना में कम्पनी से संवर्द्धक (Company Promoter) बड़ी मदद पहुँचाते हैं। ये उनके लिये पूँजी इकट्ठी करते हैं। वे खूब स्फूर्ति और जानकारी, संगठन-शक्ति का परिचय देते हैं। वे प्रारंभिक अवरोधकों को हटाते और उन्हीं चीजों का उत्पादन करने का आदेश देते हैं जिनके उत्पादन में प्राकृतिक साधनों और पूँजी का सर्वोत्तम उपयोग हो सकता है। वे प्रतियोगी फर्मों को संगठित भी करते और आपस के मतभेदों को मिटाते भी हैं। वे अलसाये फर्मों में नई जान फूँकते हैं। वे हर चीज की जानकारी रखते। वे पूँजी से सर्वाधिक फसल तैयार करना जानते हैं लेकिन वे किसी एक फर्म या कम्पनी की स्थापना और संचालन में ही अनुरक्त नहीं रहते। उन्हें आलस्यपूर्ण जीवन नहीं सुहाता। और जब उनके द्वारा कायम किया हुआ फर्म रूपी बच्चा अपने पुराने सिलाये कपड़ों में अटने नहीं पाता तब वे नये देशों की विजय के लिये प्रयाण करने लगते हैं। वे ऐसे फर्मों में अपनी पूँजी नहीं लगाये होते। लेकिन अब वे किसी-किसी फर्म में अपनी भी कुछ पूँजी लगाते भी हैं। तब

वे उसके सच्चे पूँजीदाता भी बन जाते हैं। यही पूँजीपति और उद्योगपति के कर्मों का सम्मिलन होता है। कभी उन्हें पारिश्रमिक के रूप में नकद रुपया मिलने के बदले शेयरों के रूप में जल-पूँजी (water in capital) ही मिल जाती है। जब ऐसी बात पैदा होती है तब वे उसके अप्रत्यक्ष रूप से आंशिक शासक भी बन जाते हैं। नहीं तो दूसरी अवस्थाओं में उनका मतलब कम्पनी या फर्म कायम कर नकद रुपया पारिश्रमिक में पा लेना भर रहता है। वे शासन, आदि में उलझते नहीं। कम्पनियों के संचालक उनके जन्मदाता होते हैं और उनके प्रबन्धकर्त्ता भी। यहाँ भी उद्योगपति के दोनों कार्यों का सम्मिश्रण होता है।

यदा-कदा निजी कम्पनियाँ सार्वजनिक कम्पनियों में परिणत हो गई हैं। यह इसलिये कि वे चिरस्थायित्व प्राप्त करना चाहती थीं या बाहरी व्यक्तियों को भी अपने छोटे-मोटे शेयराधिपति बनाना चाहती थीं। लेकिन शासन का सर्वाधिक अधिकार निजी कम्पनियों के वर्तमान संचालकों के ही हाथों में रहता है। ऐसा भी हुआ है कि खुले बाजार में धनो-मानी कुछ व्यक्तियों ने किसी फर्म के काफी शेयरों को खरीद लिया और वे उसकी नीति के निर्माता बन गये। कम्पनी के प्रोत्साहकों ने भी जल-पूँजी के द्वारा कम्पनी के शासन में अपना सिक्का कभी-कभी जमा लिया है। इतना ही क्यों ? किसी संयुक्त-पूँजी की कम्पनी के इतिहास को देखने पर ज्ञात होता है कि उसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—पहली अवस्था में पूरा प्रजातंत्र रहता है—बहुत से शेयर-मालिक होते हैं और वे सब उसकी देख-रेख करते हैं। दूसरी अवस्था में प्रजातंत्र और कुलीनतंत्र (Aristocracy) दोनों साथ-साथ चलते हैं—शेयर मालिक तो अनेकों होते हैं लेकिन सच्चे शासक मुट्ठीभर लोग। तीसरी अवस्था में केवल स्वार्थतंत्र (Oligarchy) का प्राबल्य रहता है—शेयरमालिक इने-गिने रहते हैं और शासन करते भी वे ही हैं।

पूँजी और उद्योग का संबंध भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूप

ग्रहण करता रहा है। ग्रेट ब्रिटेन में उद्योगों को पूँजीपतियों के द्वारा नियंत्रित होने की बात को लोग व्यापार और राष्ट्रीय चरित्र की दृष्टियों से अच्छा नहीं समझते। लेकिन जर्मनी में पूँजी और उद्योग के सम्मिलन को बुरा नहीं समझा गया है और वहाँ इस तरह के सम्मिलन की प्रगति आदर्श और अनुरूप हुई है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में इस तरह का आन्दोलन बराबर चलता रहा है यद्यपि उसमें जब-तब कुछ रुकावट भी हो गई है।

इंगलैंड में बैंक उद्योगों को रुपया-पैसा उधार नहीं देना चाहते। उसके कारण ये हैं: (१) उन्हें दिवालिया (Insolvent) साबित होने का भय रहता है (२) उद्योगों में जो पूँजी लगाई जाती है वह "Sticky"—लसलसाह—होती है और उसे अवसर पड़ने पर झट से निकाला नहीं जा सकता। ब्रिटिश बैंकिंग प्रणाली का प्रधान सिद्धान्त लेनी (Assets) को अधिकाधिक तरलावस्था (Liquid) में रखना है। इसके चलते उद्योगों को उचित सहायता बैंकों द्वारा नहीं मिल सकी है। उद्योगों को दीर्घकालिक सहायता चाहिये। इससे कठिनाई और भी बढ़ जाती है। जर्मनी के कितने बैंकों ने फर्मों और कम्पनियों के कितने शेयर आरंभ में खरीद लिये और बाद में आम जनता के हाथों उन्हें बेंच भी दिया और कितनी दशाओं में वे उद्योगों के संचालक भी बन गये।

नये उद्योगों को बैंकों से रुपया मिलने में दिक्कत होने का सबसे जबरदस्त कारण यह है कि वे बैंक-मैनेजरों को यकीन नहीं दिला सकते। उदीयमान फर्मों के रुपया उधार माँगने पर बैंक के मैनेजर कृत-कृत्य करना चाहते तो हैं लेकिन अल्पावधि के लिये ही उधार देकर ही वे ऐसा करना चाहते हैं। उन्हें भी दीर्घावधि के लिये कर्ज देने से ये हिचकते हैं। हाँ, ऐसा कई बार होता है कि अल्पकालिक ऋण को दीर्घकालिक ऋण में ये बैंक बदल देते हैं।

वाणिज्य-बैंक (Commercial Banks) व्यावसायिकों को ओभरड्राफ्ट द्वारा या उनके बिल ऑफ एक्सचेन्ज की कटौती करके

ऋण देते हैं। इस तरह के ऋण देने का सहज लोभ बैंक भी संवरण नहीं कर सकते हैं क्योंकि और किसी ऐसेट की अपेक्षा यह अधिक लाभदायक होता है।

गत बड़ी सस्ती के काल में बहुत से बैंक इसलिये नष्ट हो गये कि उन्होंने अपनी काफी पूँजी ऐसे उद्योगों में लगा दी थी जो उस काल में नष्ट हो गये। इसका नतीजा यह हुआ कि मिश्रित बैंकिङ्ग (Mixed Banking) यूरोपीय देशों में अप्रोत्साहक मालूम पड़ने लगी।

ब्रिटिश बैंकों की तरह भारतवर्ष के बैंक भी अभी हाल तक उद्योगों को दीर्घकालिक ऋण देने से भागते रहे हैं। दोनों महायुद्धों की मध्यावधि में ब्रिटिश बैंकिङ्ग प्रणाली में एक गहरा परिवर्तन हुआ और ब्रिटिश बैंक उद्योगों को उधार देने में अधिक इच्छुक दिखाई पड़ने लगे। लेकिन इसे पुरानी प्रणाली में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं कह सकते। १९१८ ई० के बाद जो महँगी का काल शुरू हुआ उसमें उन्होंने अधिक कर्ज दिये लेकिन महँगी की अधोगति के साथ उन्होंने जिन उद्योगों में अपनी पूँजी लगाई थी उन्हें गुटों या कम्पनियों में रूपान्तरित होने के लिये प्रभावित किया। वे उन उद्योगों की कीमत निर्धारित करने लगे। १९३१ ई० में मैकमिलन कमिटी बैठाई गई। इस कमिटी ने ब्रिटिश बैंकों की उद्योगों के प्रति की उदासीनता की कटु आलोचना की और उन्हें आर्थिक सहायता देने का परामर्श दिया।

बीमा-कम्पनियाँ भी उद्योगों को आर्थिक सहायताएँ दिया करती हैं। वे उनसे सुरक्षितपत्र (सेक्यूरिटी) लेकर कर्ज देती हैं। ग्रेट ब्रिटेन में १९४५ ई० में दो नई आर्थिक संस्थाएँ स्थापित की गईं। वे हैं—फाइनेन्स कॉरपोरेशन फॉर इन्डस्ट्री तथा इन्डीस्ट्रियल ऐंड कॉमरशियल फाइनेन्स कॉरपोरेशन।

परन्तु इस हेर-फेर का कोई ठोस प्रभाव भारतीय बैंकिंग प्रणाली पर नहीं पड़ा। कुछ परीक्षण ढंग पर प्रयास किये गये लेकिन वे सब बुरी तरह से विफल हुये। एक टाटा इन्डस्ट्रियल बैंक नये और पुराने

फर्मों को सहायता देने के लिये स्थापित किया गया लेकिन वह विफल हुआ। इस देश में जभी से औद्योगीकरण की चर्चा चली तभीसे उद्योगों को मदद देने के लिये सुव्यवस्था करने की भी बात चली। १९१६–१८ के बीच जो भारतीय औद्योगिक कमीशन स्थापित हुई उसने अर्थाभाव की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया और औद्योगिक बैंकों को कायम करने की राय दी। लेकिन विदेशी सरकार कुछ भी नहीं कर सकी थी। १९४८ ई० में Indian Finance Corporation of India को कायम करने के लिये १९४८ ई० में एक कानून पास हुआ और यह कॉरपोरेशन तीन सालों से कायम भी हो गया है। इस कॉरपोरेशन की स्थापना भारतवर्ष के औद्योगिक इतिहास का एक देदीप्यमान स्तम्भ है। अब यहाँ के उद्योगों को दूसरे बैंकों से भीख नहीं माँगना होगा। फिर भी अभी वह समय दूर है कि केवल एक ही संस्था भारत के औद्योगीकरण की समस्या को हल करले। गत वर्ष इस कॉरपोरेशन ने अपनी जो द्वितीय रिपोर्ट प्रकाशित की थी उसमें बतलाया गया है कि १९४९–५० में उद्योगों को लगभग ३½ लाख रुपया कर्ज में दिया गया।

नई पूँजी चलाकर भी कितने उद्योग पूँजी उगाह लेते हैं। प्रति-वर्ष जो मुनाफा होता है उसके एक निश्चित हिस्से को नई पूँजी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पृथक कर दिया जाता है। इशूहाउसेज नई पूँजी के पत्रों (Papers) को बेचने में मदद पहुँचाते हैं। वे दलाल का काम करते हैं। वे आम जनता को ललचा-लुभाकर इन शेयरों को खरीदने के लिये तैयार करते हैं। स्टॉक दलाल भी इस काम में सहायता करते हैं। स्टॉक एक्सचेन्ज फर्म भी इसमें मदद करते हैं। इस तरह के काम को "offer for sale" कहते हैं। यह सस्ता भी पड़ता है और उसमें परिवर्तनशीलता भी अधिक रहती है। लेकिन इसमें यह खतरा रहता है कि ये मध्यस्थ संस्थाएँ कहीं बुरे साधनों को अपनाने न लगें। अगर वे ऐसा करने लगें तब उससे सर्वसाधारण पूँजी-योग करने से हटेंगे।

कितने चलते फर्मों का पूँजी एवं स्वत्व के आधार पर संगठन होता है। इस तरह जो गुट बनते हैं उनको कई भागों में बाँटा गया है, जैसे—ट्रस्ट, होल्डिङ्ग कम्पनी, कारटेल, "इन्टरलॉकिङ्ग डाइरेक्टरेट" (इनका हमने पिछले अध्याय में अलग वर्णन किया है।)

यह ठीक है कि कितने उद्योगपति ऐसे हैं जिनके पास काफी पूँजी रहती है और उन्हें बैंकों का भरोसा नहीं करना पड़ता है। ऐसे उद्योग-पति पूँजीपति या अर्थदाता बन जाते हैं और द्विविध खेल को खेलते हैं। इन्हें "Financial elite" की श्रेणी में रख सकते हैं। ये लोग देश में संकट भी उपस्थित कर सकते हैं। ये अर्थ की पूर्ति पर नियंत्रण करते हैं। लेकिन इनकी ताकत मन्दी शुरू करने में जितनी है उतनी महँगी शुरू करने में नहीं। वे पुनरुत्थान (Recovery) आरंभ करने की भी उतनी ताकत नहीं रखते। वे लोगों को अपनी पूँजी उधार देने के लिये प्रेरित नहीं कर सकते। वर्तमान पूँजीवाद का हृदय ही यह "महान अर्थ" है। यह मूल शक्ति (key power) है।

अमेरिका में पूँजी और उद्योग का अन्तर्प्रवेश (Interpenetration) अक्रमबद्ध और अचानक हुआ। बाद में जनता ने साथ दिया और अब इन्टरलॉकिङ्ग डाइरेक्टरेट की प्रधानता है। जर्मनी में पूँजी तथा उद्योग का अन्तर्प्रवेश नियमित और व्यापक हुआ और उसके पाँच बड़े (Big Five) बैंकों ने जी खोलकर उद्योगों को पूँजी दी। इंगलैंड के पाच बड़े बैंक तो उद्योगों को मदद देने से सदा भागते रहे हैं।

जब पूँजी और उद्योग सम्बद्ध हो जाते हैं तब यह कहना बड़ा कठिन हो जाता है कि दोनों में किसका पलड़ा भारी है, किसकी प्रधानता है। अमेरिका में उद्योगपतियों के अपने बैंक हैं। भारत में भी ताता, बिड़ला और डालमिया जितने बड़े उद्योगपति हैं उतने ही बड़े बैंकर भी हैं।

जब उद्योगों के ऊपर पूँजी का प्राधान्य स्थापित होता है तब निम्नलिखित लाभ होते हैं :—(१) पूँजीपतियों ने भारी उद्योगों के पनपने में अमूल्य सहायता पहुँचाई है और पहुँचाते हैं। भारत में

भी मैनेजिंग एजेन्सी सिस्टेम के द्वारा अनेकों उद्योगों की उन्नति हुई है। (२) पूँजीपति उद्योगों की मानो—आर्थिक—हालत में सुधार-परिष्कार करके उनमें एक नई जान डाल देते हैं। (३) वे उद्योग की सच्ची परिस्थिति पर विस्तृत और विलग दृष्टि से विचार कर अपने उचित कर्तव्यों को निर्धारित कर लेते हैं (४) वे उद्योगों के प्रधान प्रश्न को हल करने की अपूर्व क्षमता रखते हैं। वे जानते हैं कि किस काम में साधन लगाने से सबसे अधिक मुनाफा होगा। (५) उनके पास उद्योगों का पूरा ज्ञान भी रहता है और धन की तो कोई कमी ही नहीं होती। (६) उनके हाथ में उद्योगों की देख-रेख पड़ने से उनकी भरपूर उन्नति होती है। (७) उनकी दूरदर्शिता प्रभावोत्पादक होती है।

इतना होते हुए भी उद्योग के ऊपर पूँजीपति के प्राधान्य हो जाने से कुछ नुकसान होते हैं। वे ये हैं—(१) उद्योगपति किसी उद्योग के आरम्भकाल से ही उसमें काम करता आया है और इसलिये उसका अनुभव बहुत बड़ा होता है। उसे एकदम हटाकर पूँजीपति ठीक तरह काम नहीं कर सकता। अनुभव एक बहुमूल्य वस्तु है। (२) पूँजीपति बहुत ही लोभी होते हैं। वे पूँजी लगाते तो हैं लेकिन वे तुरंत मुनाफा चाहते हैं। और अधिक मुनाफा चाहते हैं। इस तरह की भावना से उद्योग को क्षति पहुँचती है। (३) पूँजीपति उद्योगों को चलाने की कला भी जाने यह कोई जरूरी नहीं है। बहुत-से ऐसे भी बैंकर और पूँजीपति हैं जो व्यापार और उद्योग की विशेषताओं से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। (४) पूँजीपति मजदूरों के लिये विदेशी-जैसा होता है। फिर पूँजीपति मजदूरों के सुख-दुःख का पूरा ख्याल नहीं रखते। इससे मजदूरों की हालत बुरी हो जाती है। (५) पूँजीपति औद्योगिक संकट को दीर्घकालिक बना देते और मन्दी की अवधि को भी बढ़ा देते हैं। व्यापार-चक्र आधुनिक उत्पादन व्यवस्था का Achilles Heel है। देखते-देखते मन्दी का प्रभंजन समाज को उन्नति के शिखर से अवनति के

गर्त में गिरा देता है। (६) उद्योगों में उनके प्रवेश की कटु आलोचना हुई है। कहा जाता है कि पूँजीपति अर्थ-संबंधी सुधार के हिमायती तो होते हैं लेकिन वे उद्योगों की निपुणता और लाभदायी शक्ति को नहीं बढ़ाना चाहते। (७) वे आर्थिक गुटबन्दियों को प्रोत्साहित करते और उनका निर्माण भी करते हैं। वे प्रतियोगिता के हन्ता होते हैं। यह समाज के लिये बड़ा अहितकर कार्य है। (पूँजी और उद्योग के सम्मिश्रण और वियोग के राजनैतिक प्रभावों का उल्लेख पीछले कुछ अध्यायों में किया गया है। फिर भी उद्योग और पूँजी का सम्मिश्रण एक स्वस्थ विकास है और यदि उसका ध्यानपूर्वक नियंत्रण किया जाय तो उससे फायदा ही हो सकता है।)

एकोनविंशति अध्याय

उपभोक्ता की सार्वभौमिकता

(Consumer's Sovereignty)

पूँजीवाद अर्थात् स्वतंत्र प्रतियोगिता की पद्धति में भोक्ता की उपमा राजा से दी गई है। डाक्टर बेनहम ने लिखा है, "किस वस्तु का कितना उत्पादन होगा यह बात इसपर निर्भर करती है कि भोक्तागण की चुनी इच्छाएँ या पसन्दियाँ (Preferences) क्या हैं और वे किन रूपों में प्रकट होती हैं।" भोक्ताओं की जो इच्छा होगी उसीके अनुसार वे अपनी आमदनी को खर्च करेंगे और उसीके अनुरूप उत्पादकों को वस्तुओं का उत्पादन भी करना होगा। डाक्टर रॉबर्टसन का भी कहना है कि भोक्ता पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली में राजा की तरह है और इस राजा की सेवा करने के निमित्त सबसे प्रबल उद्योग सेनानी (Captain of Industry) सतत तैयार रहेगा। कीमत की प्रणाली बड़ी खूबी के साथ काम कर रही है। वह भोक्ताओं की पसन्दियों और इच्छाओं को मूल्य के माध्यम से प्रकट करती है। क्रय-शक्ति से सम्पन्न माँग को "प्रभावोत्पादक माँग" कहते हैं। कीमत द्वारा परिचालित इस प्रणाली में प्रत्येक वस्तु अपनी उचित जगह ठीक बैठती है।

समूची उत्पादन-मशीन भोक्ता की आज्ञानुसार काम करती है। उसकी आज्ञा भी सार्वभौम है। उसकी इच्छाओं के अनुरूप ही आर्थिक कार्यों का विस्तार होता है। आर्थिक कार्य उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हैं। उत्पादन उसकी इच्छाओं, नापसन्दियों, आकांक्षाओं, आदि की उपज है। वर्त्तमान उद्योगों के सभी प्रवर्तक उसके जन्मजात दास हैं, वे उसके एजेन्ट हैं और उसके आदेशों का पालन करने के लिये वे पैदा हुए हैं। जब भोक्ता के होठों पर संतोषजन्य मुस्कान की हल्की रेखा खिंच आती है तब उत्पादकों

की दृगों में आनंद की सरिता प्रवाहित होने लगती है। जब भोक्ता के मुख पर रोष भर आता है तब उत्पादकों का हृदय-कुसुम मुरझा जाता है। इसका कारण यह है कि जहाँ पहली बात से उत्पादकों को काफी लाभ मिलने की आशा होती है वहाँ दूसरी बात में उन्हें क्षति की गहरी जोखिमों की पूर्वसूचना मालूम पड़ती है। अगर भोक्ता खुश है तब उत्पादक भी प्रसन्न और उन्नत होंगे। अगर भोक्ता असंतुष्ट है तब उत्पादकों के बुरे दिन आ गये।

पहले भोक्ता की सार्वभौमिकता अविजित और अजेय थी। यह सबको विदित भी थी। जहाँ उसने आदेश दिये तुरंत उत्पादकों ने उनका पालन किया। आदेश का पालन भी बड़ी फुर्ती और निष्ठा के साथ होता था। उत्पादक भोक्ताओं के स्वर में स्वर मिलाकर काम करते। भोक्ताओं की इच्छाओं और आकांक्षाओं का जो राग फूटता था उसी राग के अनुसार उत्पादक अपनी मधुर तान छेड़ते थे। उत्पादन उनके आदेश (आर्डर) मिलने पर ही शुरू किया जाता था। उत्पादक इन आदेशों की प्रतीक्षा करते थे। जो वस्तुएँ तैयार की जाती थीं वे रंग-रूप, डील-डौल, आकार-प्रकार, सब कुछ में भोक्ताओं की अभिरुचियों के ठीक अनुरूप होती थीं। फलतः भोक्ताओं को यथार्थतः वही चीज मिलती थी जो वे चाहते थे। वे सचमुच राजा थे और उनकी सत्ता सबके द्वारा आदृत और मान्य थी। उनकी हुकूमत सभी दिशाओं में अभिव्यक्त भी होती थी।

लेकिन अब ऐसी बात नहीं है। वर्तमान काल में जो उत्पादन होता है वह पूर्व आदेश (Previous Order) के अनुसार नहीं होता। ऐसा नहीं होता कि पहले किसी चीज के लिये भोक्ताओं के द्वारा माँग हुई और माँग ज्ञात हो जाने के पश्चात् उत्पादन का कार्य आरंभ हुआ। अब तो उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा है। काफी तादाद में कोई वस्तु तैयार की जाती है। उत्पादक अनुमान करते हैं कि कितनी माँग किसी वस्तु के लिये होगी। वे उसी अनुमान के

आधार पर उत्पादन का कार्य आरंभ करते हैं। अगर माँग प्रकाशित होने के बाद उत्पादन का काम शुरू किया जाय तब माँग को पूरा करने में बहुत ही समय लग जाय। आज की उत्पादन-प्रणाली में पूँजी का बहुत ही महत्वपूर्ण सहयोग है और पूँजी के आने से यह प्रणाली बहुत ही विस्तृत हो गई है। माँग तो शीघ्र ही संतुष्ट की जानी चाहिये। वह तो अधिक काल तक ठहर नहीं सकती। यही कारण है कि उत्पादक प्रत्याशित माँग के अनुसार उत्पादन करते हैं। वे माँग का अन्दाज लगाते हैं। इसी अन्दाज लगाने में ही उनकी सच्ची कुशलता निर्भर करती है। इसमें पैनी बुद्धि की जरूरत होती है। उन्हें दूरदर्शी होना चाहिये। तभी वे उचित अनुमान कर सकते हैं। उचित और ठीक अनुमान करने पर ही भोक्ताओं के मनोनुकूल उत्पादन हो सकता है और उनकी इच्छाओं को संतृप्ति हो सकती है। इतना ही नहीं, उत्पादकों को भोक्ताओं की इच्छाओं को सर्वाधिक संभव मात्रा में संतृप्त करना पड़ता है। बस इसी अनुमान के करने के बाद उत्पादक भोक्ताओं के द्वारा चाही वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन आरंभ कर देते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक उत्पादन प्रत्याशित होता है। लेकिन इस कथन से भोक्ताओं की सार्वभौमिकता की असत्यता नहीं अभिव्यक्त होती, इस क्षेत्र में भी उनकी तरजीहों का पूरा प्रभाव पड़ता है। अगर कोई उत्पादक इतना चतुर नहीं कि वह भोक्ताओं की आवश्यकताओं का अन्दाज -लगा सके या उनकी क्रयशक्ति का अटकल लगा सके तब उसकी कुल चीजें नहीं बिक सकेंगी। अगर वह इतना उत्पादन कर देता है या वस्तुओं का इतना दाम रख देता है कि भोक्ता न उतने की माँग करते हैं और न उस दाम पर उन्हें खरीद सकते हैं तब नतीजा यह होगा कि उसकी सारी चीजें नहीं बिकेंगी। बहुत-सा माल उसकी गोदाम में ही पड़ा रह जायगा। इससे उसको बड़ा नुकसान पहुँचेगा। हो सकता है, उसका व्यवसाय ही खराब हो जाय। वह नुकसान थोड़े ही समय तक उठा सकता है। वह बहुत वर्षों तक उत्साह और साहस के साथ इस दर्दनाक परिस्थिति

का सामना नहीं कर सकता। उसे अपनी योजनाओं और कार्य-क्रम में आवश्यक परिवर्तन करना पड़ेगा। उसे अपने उत्पादन को भोक्ताओं की इच्छाओं और आय के अनुसार करना होगा। अगर वह ऐसा नहीं कर पाता तब उसके उद्योग को विनाश के गर्त में गिरने से कोई भी नहीं बचा सकता। विनाश जल्दी ही आ सकता है या देर से। लेकिन वह आयगा जरूर। विनाश अवश्यंभावी है। अगर वह भोक्ताओं की इच्छाओं के अनुरूप अपनी उत्पादन-व्यवस्था को बना लेता है तब उसको लाभ ही लाभ होगा। वह अपने मालिक—भोक्ता—की मर्जी के अनुसार चलेगा। वैसा ही करने में उसकी भलाई है। उसीसे उसे मुँहमाँगी मुराद मिल सकती है।

पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली में वही कार्य सफल हो सकता है जो भोक्ताओं को सबसे अधिक संतुष्ट करने में सफल होता है। उत्पादकों को जो लाभ होता है वह उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में वे अपने स्वामी भोक्ताओं को संतुष्ट करते हैं। जो भोक्ता को सबसे अधिक संतुष्ट करता है वह सबसे अधिक लाभ उठाता है। जो भोक्ता को सबसे कम संतोष प्रदान करता है वह सबसे कम लाभ उठाता है। इसके संबंध में दो मत नहीं हो सकते। यह विचार उन लोगों का है जो पूँजीवाद में परिव्याप्त भोक्ताओं की सार्वभौमिकता के ऊपर जोर देते हैं। वे कहते हैं कि भोक्ता ही उत्पादन का नियंत्रण और नियमन करते हैं। भोक्ता अपनी आय को जिस-तिस तरह खर्च करने का जो निश्चय करते हैं यही निश्चय उत्पादन का नियंत्रण करता है, उसकी रूप-रेखा का निर्धारण करता है। व्यापक उपभोग व्यापक मत-दान से साम्य रखता है। यह नियंत्रण का प्रजातंत्रात्मक साधन है। इस मत-दान के लिये केवल एक ही योग्यता की जरूरत है। यह योग्यता है पास में पैसा या क्रय-शक्ति रखना। अगर पास में पैसा रूपी नोट है तब मनोवांछित वस्तुओं के क्रय में कोई भी व्यवधान नहीं अनुभूत होगा। राजनैतिक निर्वाचन में जिस तरह मत-दान की व्यवस्था है उसी तरह आर्थिक निर्वाचन में भी। अगर आर्थिक

निर्वाचन की परिपाटी में कोई व्यक्ति जितना वोट देना चाहे दे सकता है। इसके ऊपर कोई भी नियंत्रण नहीं है। जितनी अधिक क्रय-शक्ति उसके पास है और उसमें जितना वह खर्च करना चाहता है उतने के ही अनुपात में वह पैसों का मत-पत्र दे सकता है। आर्थिक निर्वाचकों की आन्तरिक अभिलाषा हो जाय कि वे अपना पैसा जीवन की जरूरियातों को खरीदने के बदले फिजूल चीजों के खरीदने में खर्च करेंगे तब वे ऐसा करने के लिये पूर्ण स्वतंत्र है और उत्पादकों को जीवन की जरूरियात चीजों के बदले इन्हीं फिजूल चीजों को तैयार करना होगा। अगर भोक्ता इस बात पर तुल जायँ कि वे सुन्दर और विशुद्ध सामानों को खरीदने की जगह कुरूप और निकृष्ट चीजों को ही खरीदेंगे तब वे ऐसा करने के लिये पूर्ण स्वतंत्र हैं और वे ऐसा कर सकते हैं। उस हालत में उत्पादकों को भी कुरूप और निकृष्ट चीजों का ही उत्पादन करना पड़ेगा। भोक्ताओं की चयन-वृत्ति, चाहे वह उचित हो या अनुचित, चाहे बुद्धिपूर्ण हो या बुद्धिहीन, औद्योगिक पद्धति की क्रिया-प्रक्रियाओं को संचालित करती है। एक विद्वान् ने इस पद्धति की तुलना बिजली की एक पद्धति से की है। जिस तरह स्वीच दबाते ही बिजली काम करने लगती है या बन्द हो जाती है उसी तरह भोक्ताओं की जैसी इच्छाएँ होती हैं वैसा ही उत्पादन होता है। अगर भोक्ता उत्पादन करना चाहते हैं तब उत्पादन की मशीन के पहिये चलने लगेंगे। अगर वे किसी वस्तु की माँग स्थगित कर दें तब उस वस्तु के उत्पादन की मशीन की गति भी स्थगित हो जायगी। पूँजीवादी बाजार तो मत-पत्र-मंजूषा की तरह है। जिसको जितना लेना है उतने का दाम दे दे और बाजार उसकी माँग की पूर्ति कर देगी। दुनिया के जितने आर्थिक प्रयास हैं वे सभी भोक्ताओं की इच्छाओं को लेकर ही पैदा होते और उनको ही संतुष्ट करने में लगे रहते हैं।

उत्पादक-सामानों का निर्माण भी भोक्ता-सामानों के उत्पादन का पीछा करता है। यदि भोक्ता के सामानों की माँग न्यून हो जाय या

व्यापार-चक्रों के चंगुल में फँस जाय तब उत्पादक-समानों की माँग भी अचिरात् न्यून हो जाएगी। सबसे पहले मन्दी के बीज भोक्ताओं की माँग के क्षेत्र में ही प्रकट होते हैं और बाद में उनका गहरा असर उत्पादन के सामानों पर पड़ता है। यह बात भी भोक्ताओं की सार्वभौमिकता का समर्थन करती है।

उत्पादन और वितरण में भी घनिष्ट संबंध है। वितरण का अभिप्राय भोक्ताओं की क्रय-शक्ति से है। क्रय-शक्ति के अनुपात में ही उनकी इच्छाएँ और अनिच्छाएँ अभिव्यक्त होती हैं। उन्हीं इच्छाओं और अनिच्छाओं के मुताबिक वस्तुओं का उत्पादन भी होता है। और जितना उत्पादन होगा उसीके अनुकूल उत्पादन के साधनों की और सेवाओं माँग होगी और उत्पादन की व्यवस्था ही उनके पारिश्रमिक का निर्णय करेगी। इस तरह उत्पादन और वितरण, वितरण और उपभोग में अति निकट लगाव है।

समाजवादी भावनाओं की प्रगति के साथ भोक्ताओं की, खपत की, महत्ता बढ़ती गई है। समाजवाद भोक्ताओं के दुःख-दर्द का बड़ा विचार रखता है और पूँजीवाद में होनेवाले भोक्ताओं की तकलीफों को मिटाना चाहता है। पहले भोक्ताओं की खपत के ऊपर भी समाज द्वारा नियंत्रण रखे जाते थे। मध्ययुग में क्या लोग खा सकते थे, क्या नहीं, इस बात का भी निर्णय सामाजिक रीति-नीतियाँ करती थीं। लेकिन जब से नवीन युग का आरंभ हुआ और इस तरह की परिपाटी के विरुद्ध आवाज उठाई गई तब से भोक्ताओं को अपने मन के मुताबिक उपभोग करने की पूरी आजादी मिल गई। वे अपनी आवश्यकताओं के निर्णायक आप हैं। इसके साथ वे उत्पादन के भी निर्णायक हैं। इस विवेचन का सार तथ्य यह है कि पूँजीवादी अर्थप्रणाली के सार्वभौम शासक एकमात्र भोक्तागण हैं।

लेकिन यह कहना कि पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली के सर्वेसर्वा भोक्ता हैं अतिशयोक्ति जान पड़ेगी और यह अधिक इसलिये कि हम आधुनिक युग की वस्तु-स्थिति से पूर्णतया अवगत हैं। भोक्ता की सार्वभौमिकता

एक मिथ्या ढोंग है। इसकी असत्यताएँ हम सबको ज्ञात हो चुकी हैं। अब कोई भी आदमी इस बात को सर्वांश मानने के लिये तैयार नहीं होगा कि भोक्ताओं की सार्वभौमिकता कहकर कोई वस्तु इस युग में है। भोक्ताओं का असीमित राजतंत्र नहीं चलता। वे निरंकुश राजे भी नहीं। अधिक-से-अधिक वे वैधानिक शासक हो सकते हैं। अधिक-से-अधिक उनका सीमित राजतंत्र चल सकता है। हम इतना मानने के लिये तैयार हैं कि भोक्ताओं की इच्छाओं का प्रभाव किसी न किसी रूप में आधुनिक उत्पादन-व्यवस्था पर पड़ता है लेकिन पहले वह जितना गहरा पड़ता था उसके प्रसंगों में भी अब नहीं पड़ता। हम अधिक से अधिक यह स्वीकार कर सकते हैं कि भोक्ताओं को राज्य-सिंहासन से हटाया नहीं गया है। भोक्ता रूपी राजा की हत्या नहीं हुई है भोक्ता अभी भी राजगद्दी पर हैं परन्तु उनकी आज्ञा के अनुकूल काम नहीं हो रहा है। वे किसी तरह अपने दिन काट रहे हैं। उनकी सार्वभौमिकता का जमाना लद चुका है।

वर्तमान युग में भोक्ताओं का प्रभाव बहुत कम पड़ गया है। वे वैधानिक शासक की तरह हैं। उनकी हुकूमत चलती नहीं। फिर भी वे परम्परा और प्रजा के भक्ति-भाव के कारण राजगद्दी पर विराजमान हैं। शासन-सूत्र तो दूसरे संभालते हैं। भोक्ता अब दूसरों के निर्णयों में हाँ-में-हाँ मिलाते हैं। वे दूसरों के विचार-पत्रों पर हस्ताक्षर मात्र करने के लिये हैं। अपने प्रतिद्वन्द्वियों के सामने उनका वश नहीं चल रहा है। उत्पादकों के सामने भोक्ता मानों घुटने के बल खड़े गिड़गिड़ा रहे हों। वे विवश हैं। उनकी प्रभुता के ऊपर अनेकों प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं।

अब हमें विचार करना है कि ये प्रतिबन्ध कौन-कौन से हैं। नीचे उनका पृथक-पृथक संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

पहले वर्ग के प्रतिबन्ध वे हैं जो प्राकृतिक शक्तियों द्वारा लगाये गये हैं। व्यापक उपभोग के लिये व्यापक उत्पादन की आवश्यकता है। अगर माँग अपरिमित हो जाय तब पूर्ति भी अपरिमित नहीं

हो सकती। जिसतरह व्यक्तियों के लिये अभाव का प्रश्न है उसी तरह समाज या देश के लिये भी अभाव का प्रश्न है। व्यक्ति के लिये जो 'अभाव' है वह थोड़ा है लेकिन समाज के लिये यह अभाव बहुत ही अधिक होता है। प्रकृति के द्वारा दिये गये साधन सीमित हैं। उत्पादन के लिये टेकनिकल—यंत्रसंबंधी—निपुणता की आवश्यकता है। लेकिन यह निपुणता अपरिमित परिमाण में उपलब्ध नहीं है। यह ऐसी कोई चीज नहीं की तुरंत पैदा की जा सके और माँग में जो परिवर्तन हों उनके अनुरूप ही उसमें भी परिवर्तन हम कर सकें। फिर, सभी लोग सब काम नहीं कर सकते। यह श्रम-विभाजन का युग है। विभिन्न व्यक्ति विभिन्न कलाओं में निपुण हैं, विशिष्ट हैं। जब एक काम के लिये अधिक व्यक्तियों की सेवा की माँग होती है तब हो सकता है कि उसकी पूर्ति शीघ्र नहीं हो सके। जब मजदूर ही नहीं प्राप्य होंगे, जब उत्पादन के लिये आवश्यक साधन ही नहीं मिल सकेंगे तब आवश्यक उत्पादन कैसे हो सकेगा? जब बाजार में अपेक्षित परिमाण में वस्तुएँ विक्रयार्थ नहीं आवेंगी तब सभी भोक्ताओं की इच्छाएं किस प्रकार तृप्त हो सकेंगी? कुछ भोक्ता किसी वस्तु को कुछ भिन्न रूप-रंग में माँग रहे हों परन्तु उस रूप-रंग में तैयार करने की निपुणता ही उत्पादकों में नहीं तब वह कैसे उपलब्ध हो सकेगी और किस तरह उन भोक्ताओं की माँग पूरी हो सकेगी? वे शिशु की भाँति चन्दामामा के लिये गला फाड़कर चिल्ला सकते हैं लेकिन चन्दामामा तो धरती पर उतर ही नहीं सकते। इस तरह हम देखते हैं कि वास्तविक उत्पादन टेकनिकल शक्ति और योग्यता पर अवलम्बित है। टेकनिकल निपुणता उस वेग से बदल भी नहीं सकती जिस वेग से भोक्ताओं की रुचियाँ बदलती हैं। हम इस तरह की रेलगाड़ियों और मोटर-गाड़ियों की अभिलाषा रखते हैं जो खूब आरामदेह हों, ढक-ढक और आवाज करनेवाली न हों, जो धूल न उड़ावें, आदि। लेकिन वर्त्तमान उत्पादन ढंग के लिये यह संभव ही नहीं है। हमें उस समय

की प्रतीक्षा करनी होगी जब टेकनिक में इतनी तरक्की हो जायगी कि इस तरह की रेलगाड़ियों और मोटर गाड़ियों को बनाना भी कारीगरों के लिये बायें हाथ का खेल हो जायगा। जैसा कि बहुधा देखा जाता है भोक्ताओं की इच्छाएँ और उनकी माँगें समय की पूर्तिगत सामर्थ्य से बहुत आगे रहती हैं।

दूसरे वर्ग के प्रतिबन्ध भोक्ताओं के व्यावहारिक जीवन से उद्भूत होते हैं। अपने जीवन के सामान्य व्यवसाय में भोक्ता अलग-अलग वस्तुओं में अनुरक्त नहीं होते। ऐसा नहीं होता कि वे पृथक-पृथक वस्तुओं के रूप में अपने व्यय पर विचार करते हों। वे सभी वस्तुओं को सम्मिलित रूप में देखते हैं वे यह नहीं सोचते कि उन्हें चावल खरीदना और वह इतने का, दाल खरीदनी है और वह इतने की। इसके विपरीत वे सोचते हैं कि उन्हें चावल और दाल खरीदना है और उनके पास कुल इतने पैसे हैं। वे पृथक वस्तुओं पर स्वतंत्र रूपसे विचार न कर वस्तुओं के विभिन्न समन्वयों पर संगठित रूप से विचार करते हैं। वस्तुओं की माँगें सम्पूरक (Complementary) होती हैं। मुद्रा के बटवारे से इन्हें बारीकी के साथ अलग नहीं किया जा सकता। भोक्ताओं के समक्ष कई रास्ते संभव हैं। अपनी सीमित आय के कारण उन्हें सोचना-विचारना पड़ता है कि पहले से उत्पादित वस्तुओं में वे क्या खरीदें और क्या नहीं खरीदें, किसके बिना उनका काम नहीं चल सकता और किससे उनका काम चल जा सकता है।

भोक्ताओं की सार्वभौमिकता पर तीसरा जबरदस्त प्रतिबन्ध उनको अपनी आय की बिसात ही है। उनका अपना कोष जितना होगा उसी अनुपात में ही वे सार्वभौम होंगे और उसी अनुपात में उनका प्रभाव पड़ सकेगा। वस्तुएँ स्वयं उनके पास नहीं आ जाती। सागर की लहरें स्वभावतः कूलों का स्पर्श करती हैं। वे इसलिये उनका स्पर्श नहीं करतीं कि कोई एडवर्ड राजा वहाँ बैठा है। चीजें उनके पास इसीलिये दौड़ नहीं पड़तीं, आकर्षित नहीं होतीं कि वह उनके

बनानेवालों का भी स्वामी है। वल्कि चीजें उसके पास इसीलिये आती हैं और तभी आती हैं जब उनके पास मुद्रारूपी छड़ी रहती है। अगर क्रय-शक्ति की छड़ी उनके पास न रहे तब वे चाहे गला फाड़-फाड़कर आसमान को ही अपने ऊपर क्यों न उठा लें, चीजें उनके पास नहीं आ सकतीं। उत्पादक उनकी परवाह नहीं करेंगे। हम विशुद्ध घी और दूध चाहते हैं लेकिन उत्पादक बाजार में डालडा और पानी मिले दूध से हमारा स्वागत करते हैं। और अगर देहातों में विशुद्ध घी मिल भी रहा है, अगर कांग्रेसी फार्मों में विशुद्ध दूध मिल भी रहा है तब भी हम सबके पास उतना पैसा नहीं कि उतना महँगा घी और दूध हम मोल ले सकें। समाज में बहुत-से ऐसे लोग आपके सामने हैं जिनकी वास्तविक इच्छाओं की संतृप्ति नहीं हो रही है और वह इसलिये कि उनके पास अर्थ नहीं कि वे अपनी तीव्र इच्छाओं को प्रभावोत्पादकता का बाना पहना सकें। फिर व्यक्तिगत भोक्ता की बात कौन उत्पादक सुनता है ? उसका मूल्य एक कौड़ी का भी नहीं। जहाँ हजारों भोक्ता ऐसे हैं जो उत्पादक की वस्तु के लिये माँग करते हैं वहाँ उत्पादक उनमें से एक-दो भोक्ताओं की क्या फिक्र करेगा ? वह उनके खुश और नाखुश होने की तनिक भी परवाह नहीं करता। इस तरह हम देखते हैं कि सभी भोक्ता किसी हालत में राजा नहीं कहे जा सकते। थोड़े ही भोक्ता राजा हैं जिनकी प्रसन्नता और अप्रसन्नता की चिन्ता उत्पादक को रहती है। बाजार में समन्वित माँग की मर्यादा है वैयक्तिक की माँग की नहीं।

चौथे प्रकार का प्रतिबन्ध विज्ञापन और विक्रय की कलाबाजी के मद में होनेवाले अत्यधिक खर्च से उत्पन्न हुआ है। भोक्ता अपनी स्वतंत्र इच्छाओं के अनुकूल माँग नहीं करते। वे विज्ञापकों और विक्रेताओं के द्वारा प्रेरित और प्रभावित होकर चीजें खरीदते हैं। विज्ञापन और विक्रय संबंधी कलाबाजी की इतनी धूम है कि भोक्ताओं की इच्छाएँ दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही हैं। उत्पादक विज्ञापन के

द्वारा भोक्ताओं की रुचियों को नये साँचे में ढालते जा रहे हैं। वे भोक्ताओं की पुरानी रुचियों के ऊपर भी कड़ा नियंत्रण रखते हैं। शायद ही कोई ऐसा भोक्ता है जो विज्ञापन और प्रचार के जादू भरे प्रभाव से अप्रभावित रह सके। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वह इनके द्वारा प्रभावित होता है क्योंकि इनके प्रभाव सूक्ष्म और संक्रामक होते हैं। आजका भोक्ता किसी खास तरह की वस्तु खरीदना चाहता है परन्तु वह किसी अन्य तरह की वस्तु खरीदने के लिये बाध्य होता है। अगर विज्ञापन और प्रचार का इतना जाल नहीं फैलाया गया होता तब वह उसी तरह की वस्तु खरीद सकता। भोक्ता लाचार है, असहाय है। ऐसा मालूम पड़ता है कि कोई उसको नकेल पकड़कर काम करा रहा हो। वही उत्पादक अधिकतम लाभ अर्जित करता है जो भोक्ताओं की इच्छाओं के अनुसार पूर्ति नहीं करता बल्कि अपनी पूर्ति के अनुसार माँग करने के लिये उनको प्रेरित करता है। वह उन्हें उसके ब्रान्ड की चीज खरीदने के लिये विवश करता है। भोक्ता कहीं भी जाय, जिधर भी देखे वहीं और उधर ही नए-नए विज्ञापन, नए-नए पर्चे उसका स्वागत करते हैं। सड़क की मोड़ों पर, वृक्षों की डालों पर, दीवालों और रेलवे प्लेटफार्म पर विज्ञापन ही विज्ञापन दृष्टिगोचर होते हैं। विज्ञापनों से भरे समाचार पत्र और पत्रिकाएँ नित्य-प्रति उसका स्वागत करतीं हैं। अब विशुद्ध विज्ञापन-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होने लगी हैं। भोक्ताओं की आँखें लाचार होकर इनका निरक्षण करने लगती हैं। तथाकथित भोक्ता रूपी राजा के लिये ये प्रसाधन पंचम दफे का काम करते हैं। ये उसके आधिपत्य को मटियामेट कर रहे हैं। भोक्ता उत्पादकों पर शासन क्या करेगा? वह तो खुद उत्पादकों के द्वारा शासित हो रहा है। विज्ञापन तथा प्रचार-कार्य में ४० प्रतिशत जो व्यय होता है वह भोक्ताओं को खुश करने के लिये नहीं बल्कि उत्पादकों की आमदनी को बढ़ाने के लिये। इस दिशा में खर्च किया हुआ प्रत्येक रुपया भोक्ता की सार्वभौमिकता की कब्र में एक और काँटी का काम करता है।

इस प्रतिबन्ध के पक्ष में डा० बेनहम ने एक अजीब तर्क पेश किया है। भोक्ता को विविध वस्तुओं में और दो प्रतियोगियों में चुनाव करना पड़ता है और विज्ञापन से उसको यह चुनाव करने में सहायता मिलती है। विज्ञापन और प्रचार के प्रसाधन तो राज्य के सभासद हैं और वे भोक्तारूपी राजा को राय-परामर्श दिया करते हैं, वे उसका मन बहलाते हैं। लेकिन इससे राजा का महत्त्व घट नहीं जाता। राजा तो राजा ही है। उसकी सार्वभौमिकता के ऊपर इससे कोई प्रतिबन्ध नहीं पड़ता। लेकिन बेनहम के इस कथन से हम सहमत नहीं। अगर भोक्ता इस तरह का राजा है तो ऐसे राजा से और ऐसी सार्वभौमिकता से गुलाम और गुलामी ही भली।

भोक्ताओं की सार्वभौमिकता के ऊपर केवल ये ही चार प्रतिबन्ध नहीं। दो-चार और भी प्रतिबन्ध हैं। यह युग एकाधिकारों का है। वे भी भोक्ताओं की सार्वभौमिकता को कम कर देते हैं। उन्हें बलात् एकाधिकारी से चीजें खरीदनी पड़ती हैं। एकाधिकारी को छोड़कर उस वस्तु की पूर्ति करने का कोई दूसरा जरिया है ही नहीं। एकाधिकारी उत्पादन-साधनों का उपयोग अपनी इच्छा के अनुसार करता है। इस विषय में भोक्ताओं की अक्ल काम नहीं देती। एकाधिकारी क्रेताओं से अपनी शर्तों (टर्म्स) पर चीजें बेचता है। भोक्ता न तो दाम का निर्धारण कर सकते हैं और न इसी बात का निर्धारण कर सकते हैं कि किसी चीज का कितना उत्पादन होगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पूँजीवाद में भोक्ताओं की सार्वभौमिकता की जो मनोहर कल्पना हम करते हैं उसका सबंध हमारे वास्तविक जगत् से न होकर काल्पनिक जगत् से है।

इसके अलावे राज्य भी भोक्ताओं की सार्वभौमिकता में रोड़े अटकाता है। वह सामानों को खंडों में विभाजित करता है—प्रतिबन्धित सामान और अप्रतिबन्धित सामान। जिन सामानों के उपभोग के ऊपर प्रतिबन्ध लगाया जाता है उनको खपत भोक्ता मनमाने ढंग से नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये नशीली चीजें हैं। इनकी खपत सरकार

के द्वारा शासित होती है। असामान्य काल में जब कोई संकट उपस्थित हो जाता है, युद्ध छिड़ जाता या दुर्भिक्ष पड़ जाता है, तब सरकार वस्तुओं की कीमतों का नियंत्रण करती है और वह उनके वितरण को भी परिचालित करती है। इससे भोक्ताओं की स्वतंत्रता कम हो जाती है। राज्य समाज में सबसे बड़ा भोक्ता है और वह सबसे धनाढ्य संस्था भी है। यदि वह चाहे तो अपनी क्रय-नीति के द्वारा वह उपभोग और उत्पादन क्षेत्र में एक बवंडर पैदा कर अपने से छोटे भोक्ताओं की तथाकथित सार्वभौमिकता की कमर तोड़ सकता है। राज्य के सामने तब कोई भोक्ता सार्वभौमिकता न रह जायगा। सारे-के-सारे भोक्ता उसके दास ही प्रतीत होंगे।

लेकिन आज की अधिकांश सरकारें प्रजातंत्रीय हैं। वे अपने नागरिकों की इच्छाओं के अनुसार काम करती हैं। राज्य के द्वारा जिन नियमों और नियंत्रणों का विधान किया जाता है वह इसलिये कि नागरिकों के प्रतिनिधि उन्हें समाज के हित के लिये अनिवार्य समझते हैं। अगर प्रजा उनका विरोध करे तब वे ठहर नहीं सकते, शीघ्र ही नष्ट हो जायेंगे। अतएव इस तरह का प्रतिबन्ध भोक्ताओं की सार्वभौमिकता पर यथार्थ प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता।

फिर, भोक्ताओं की अपनी आदतें भी उनकी सार्वभौमिकता में बाधक हो जाती हैं। बहुत से ऐसे भोक्ता आपको मिलेंगे जिनके उपभोग का ढर्रा एकदम परम्परागत और बँधा-बँधाया होता है और उसमें रद्दोबदल होने का कोई नाम ही नहीं रहता। वे अपनी चयन-वृत्ति का मुक्त एवं स्वतंत्र उपयोग नहीं करते। उनके लिये सार्वभौमि-कता की चर्चा करना निरर्थक ही कहा जायगा।

बहुत-से ऐसे भोक्ता हैं जो प्रामाणिक चीजों को मोल लेने के लिये बाध्य किये जाते हैं। दूसरे विशिष्ट चीजों को खरीदते हैं। आधुनिक उत्पादन-प्रणाली व्यक्तिगत भोक्ताओं की बहुत कम खुशामद करती है, उनका बहुत कम ख्याल रखती है। भोक्ताओं की गति भेड़ों की-सी हो गई है। उत्पादक भोक्ताओं की सामूहिक माँग पर ध्यान

रखते हैं। उनके लिये भोक्ता अलग-अलग राजा नहीं, भोक्ताओं का एक विशाल समुदाय उनके लिये कहीं राजा होता है और यह भी हरदम नहीं। किसी गरीब देहाती को या किसी कारखाने में अहर्निश खटनेवाले मजदूर को यह विश्वास दिलाना टेढ़ी खीर है कि वह उस सब चीज का निर्णायक, और निर्धारक है जिसे वह अपनी आँखों से देख रहा है। वह यह मानने के लिये तैयार नहीं कि कारखाने इसलिये चल रहे हैं, रेलगाड़ियाँ इसलिये दौड़ रही हैं, दुकानदार दूकानों पर बैठे इसलिये बेच रहे हैं कि उसकी यही इच्छा है और उसकी इच्छा ही इन सबके लिये आज्ञा है क्योंकि वह उनका सार्वभौम राजा ठहरा! सची बात तो यह है कि सभी लोग अपने स्वार्थ-साधन से लिये काम-धाम कर रहे हैं, दौड़-धूप कर रहे हैं। दुकानदार इसलिये दूकान पर दिन-रात काम करते दीख पड़ते हैं कि इसके द्वारा उन्हें अपनी थैली में नफा का रुपया अधिकाधिक भरना है।

भोक्ताओं के सामने और भी दिक्कतें हैं। बहुत-से भोक्ता बाजार की स्थिति से परिचित नहीं होते, वे वस्तुओं के मूल्यों से अनजान होते हैं। अज्ञानता एक बड़ी बाधा है। कितने भोक्ता तो यह भी नहीं जानते कि उनके लिये सबसे बढ़िया चीज कौन-सी है। वे उत्पादकों और विक्रेताओं के अनन्य अनुचर बन जाते हैं। इसीलिये एक अर्थशास्त्रवेत्ता ने कहा है कि अगर भोक्ता एक दानव है तो वह एक भोंदा दानव है जिसके दिमाग में अक्ल का कोई अस्तित्व ही नहीं और जिसका संसर्ग बुद्धि से कभी हुआ ही नहीं है।

बेचारे भोक्ताओं को मध्यस्थ सौदागरों (Middlemen) का भी मुकाबला करना पड़ता है लेकिन लाख यत्न करने पर भी वे उनका पिंड नहीं छोड़ते। अगर कोई भोक्ता जिस तरह की वस्तु की माँग करता है उस तरह की वस्तु नहीं प्राप्त करता तो इसका कारण ये ही मध्यस्थ सौदागर हैं। इन सौदागरों का काम भोक्ताओं की इच्छाओं

को उत्पादकों के सामने रखना है लेकिन वे भोक्ताओं की इच्छाओं को मौलिक रूप में उत्पादकों के सामने नहीं रखते। वे उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर, नमक-मिर्च मिलाकर रखते हैं। वे उनको विकृत कर डालते हैं। कभी वे इस काम को करने में काफी समय लगाते हैं। इन सौदागरों का काम उत्पादकों से तैयार माल खरीदकर भोक्ताओं के हाथों बेचना भी है। लेकिन इस काम को भी वे ठीक से और ईमानदारी के साथ नहीं करते। वे चीजों को मिलाकर, अच्छी चीज में बुरी चीज मिलाकर वे विकृत चीज उत्कृष्ट चीज के नाम में भोक्ताओं के हाथों बेचते हैं और उनकी आँखों में धूल झोंकते हैं। इस कार्य से भोक्ताओं का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। उनके सुख और आनंद में खलल पड़ता है। इतना ही नहीं, वे भोक्ताओं से बेमुनासिब दाम वसूल करते हैं। भोक्ताओं को उनसे इस बात की शिकायत हमेशा रहती है। बेचारे भोक्तागण सौदागरों की चालों और धूर्तता का सामना नहीं कर सकते। अगर उनका पल्ला किसी एकाधिकारी उत्पादक से पड़ गया तो उनकी शिकायतों का ठिकाना ही नहीं रह सकता।

भोक्ताओं को एक बात से और भी आशंका रहती है। वह यह है कि इन्हें भविष्य में वस्तुओं का कठिन अभाव हो सकता है क्योंकि वर्तमान काल में व्यक्तिगत उत्पादक वर्तमान आर्थिक साधनों और उपादानों का उपयोग बड़ी निर्दयता के साथ करते हैं और वे इतने लोभी हैं कि आवश्यकता से अधिक प्राकृतिक साधनों और उपादानों की खपत करते हैं। चूँकि प्रकृति-प्रदत्त साधनों और उपादानों का भंडार भी परिमित है इसलिये भोक्ताओं को बड़ी आशंका रहती है कि भले ही अभी उन्हें प्रचुर परिमाण में कोई चीज मिलती हो लेकिन आगे चलकर उन्हें उस चीज की तंगी हो जायेगी तथा उनकी संतति को भी उसकी कमी का अनुभव करना पड़ेगा। यह सब इसलिये होता है कि सरकार का कोई नियंत्रण उत्पादकों की व्यक्तिगत नीति और आचरणों पर नहीं रहता है और इसके फलस्वरूप सामाजिक हित और व्यक्तिगत हित में तीव्र संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न तो भोक्ता ही उत्पादकों पर शासन करते हैं और न उत्पादक ही निरपेक्ष रूप से भोक्ताओं पर हुकूमत चलाते हैं। दोनों वर्गों में अन्योन्याश्रय संबंध है। किसी भी देश का आर्थिक अभ्युदय दोनों वर्गों के सुन्दर संतुलन में सन्निहित रहता है। उपभोग और उत्पादन दोनों के बीच पूरा सहयोग-भाव रहना चाहिये। अमेरिकन अर्थशास्त्रवेत्ता महाशय एली ने इसीलिये कहा है कि सामाजिक प्रगति सतर्क और संवेदनशील, उत्तरदायी और चतुर भोक्ताओं के ऊपर जितना निर्भर करती है उतना ही वह निपुण और कुशल, ईमानदार और कर्मठ उत्पादकों के ऊपर भी। अगर भोक्ता बोदा है तो उत्पादक भी बोदा होंगे।

भोक्ताओं के सुख में कौन-कौन से प्रतिबन्ध और त्रुटियाँ हैं उनका उल्लेख हम कर चुके। अब इस बात के ऊपर विचार करना है कि इनका निराकरण किस प्रकार हो सकता है। जहाँ तक चीजों की मिलावट करने और उनके बेचने में चालबाजी करने का सवाल है। वहाँ तक तो कोई भी जिम्मेवार सरकार कानून पास कर और पर्याप्त निरीक्षण का प्रबन्ध करके इन कुरीतियों को रोक सकती है। जहाँ तक व्यक्तिगत उद्योगपतियों के अनावश्यक ढंग से प्राकृतिक साधनों और उपकरणों के दुरुपयोग करने का सवाल है, सरकार कानून पास कर और प्राकृतिक साधनों और उपकरणों का राष्ट्रीय-करण इस कुप्रवृत्ति को रोक सकती है।

उपभोग और उत्पादन में संतुलन स्थापित करने के लिये और भोक्ताओं की प्रतिष्ठा का फिर से पुनर्लाभ करने के लिये सरकार एक व्यापक नीति की सृष्टि कर सकती है। उस नीति के तीन प्रधान अंग होंगे—सहकारिता, सामूहिकवाद और साम्यवाद। सहकारिता (Co-operation) में भोक्ता एक संगठन कायम करके क्रय-विक्रय का व्यवसाय शुरू करते हैं और उसकी देख-भाल का भार उनके ही ऊपर रहता है। सामूहिकवाद (Collectivism)

किसी व्यवसाय या उद्योग का स्वामित्व सरकार का रहता है और सरकार ही उसका संचालन भी करती है। सरकार बाजार और दाम के ऊपर नियंत्रण रखती है। साम्यवाद (Communism) में भी सरकार का ही स्वामित्व और नियंत्रण उद्योगों के ऊपर रहता है लेकिन उसकी एक विशेषता है। वह विशेषता यह है : सरकार का इरादा ऐसा नहीं रहता कि वह किसी वस्तु के उत्पादन में जो लागत बैठे उतने के बराबर दाम उसके खरीददारों से ले। सामूहिकवाद में लागत के बराबर दाम रखा जाता है। साम्यवाद में किसी व्यवसाय से होने वाले नफा और नुकसान पर उतना ध्यान नहीं रखा जाता।

सहकारिता का आन्दोलन भोक्ताओं की तीन शिकायतों को हटाना चाहता है। वे शिकायतें हैं—(१) मिलावट (२) अनुचित दाम (३) जाल-फरेब और बेईमानी। सामूहिकवाद उनकी दो तकलीफों को दूर करने की कोशिश करता है : (१) एकाधिकार-जनित कुरीतियों को दूर करना (२) प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग कराना और भावी अभाव होने से रोकना। साम्यवाद माँग की दुर्बलता को मिटाना चाहता है। वह आमजनता की क्रय-शक्ति को संवृद्ध करने की पूरी चेष्टा करता है।

(इन तीनों प्रणालियों का विस्तृत वर्णन अलग-अलग कुछ अध्यायों में किया गया है।)

अभी तक हमने भोक्ताओं की सार्वभौमिकता का अध्ययन पूँजी-वादी अर्थ-प्रणाली के तत्वावधान में किया है। अब विचार करना चाहिये कि उसकी रूप-रेखा समाजवादी अर्थ-प्रणाली में क्या होगी। स्वभावतः समाजवादी व्यवस्था में वस्तुओं की रूप-रेखा कुछ भिन्न होगी। समाजवाद के भाष्यकर्त्ता कहते हैं कि पूँजीवाद में भोक्ताओं को नाना प्रकार के व्यवधानों का सामना करना पड़ता है और उनकी सार्वभौमिकता केवल कल्पना-जगत् की वस्तु होती है। भोक्ता उससे सर्वथा वंचित रहते हैं। समाजवादियों का कहना बहुत ठीक है। हम देख भी चुके हैं कि भोक्ताओं को किन-किन कठिनाइयों का मुकाबला

करना पड़ता है। लेकिन समाजवादियों की इस आलोचना से उनका पक्ष सबल नहीं हो जाता। समाजवाद में भी जैसा कि हम अभी देखेंगे भोक्ताओं की सार्वभौमिकता नहीं रह जाती। इसका पहला कारण यह है कि समाजवादी अर्थ-प्रणाली में सरकार का नियंत्रण प्रत्येक सामाजिक क्रिया पर रहता है। समूचा समाज सरकार की प्रत्यक्ष देखभाल में रहता है। इसे अंगरेजी में 'Economic Regimentation' अर्थात् आर्थिक नियंत्रण कहते हैं। 'अभाव' का सवाल आर्थिक योजनाकरण में भी उतनी ही विकरालता से उठता है जितना स्वतंत्र आर्थिक-प्रणाली (Free Economy) में मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में। समाजवादी सरकार इसी प्रश्न का निदान ढूँढ़ती है। वह सम्पूर्ण जनता की इच्छाओं की सूची तैयार करती है। फिर वह देखती है कि किस इच्छा को पहले संतुष्ट करना चाहिये और किस को पीछे। जीवन की जरूरियातों को पहला स्थान मिलता है। उनको संतुष्ट करने का प्रयत्न सरकार पहले करती है। समाज के साधन और अवदान उनमें पहले लगाये जाते हैं। उसके बाद जीवन की आरामदेह और विलासिता की वस्तुओं का सवाल प्रस्तुत होता है। यदि समाज के साधन और अवदान उनमें लगाने लायक बचे तो उन्हें उनमें लगाया जाता है। सरकार सबके आटा-दाल का सवाल हल करने के बाद अल्पसंख्यक धनिकों के पफ-पाउडर, स्नो और क्रीम का सवाल हल करती है। अगर साधन पर्याप्त न रहे तब इनकी माँग पूरी नहीं हो सकती। वित्त-सम्पन्न भोक्ता इनके लिये माँग करते रह जायेंगे लेकिन वह कभी भी पूरी नहीं होगी। वैसी हालत में उनकी सार्वभौमिकता की कोई बात ही नहीं रह जाती।

भोक्ताओं की सार्वभौमिकता के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) अपनी आमदनी को अपने मन के लायक वस्तुओं को खरीदने में "खर्च करने की" स्वतंत्रता (२) अपने मन के अनुसार वस्तुओं को "उपलब्ध करने की" स्वतंत्रता। जहाँ तक पहले प्रकार की स्वतंत्रता का सवाल है हम निश्चयता पूर्वक कह सकते हैं कि किसी भी आयो-

जित (Planned) आर्थिक-प्रणाली में इस तरह की स्वतंत्रता सुलभ और संभव है। उदाहरण के लिये हम सोवियत रूस की ओर संकेत कर सकते हैं। वहाँ भी समाजवादी अर्थ-प्रणाली है। वहाँ भी योजनाकरण का अस्तित्व है। लेकिन वहाँ के नागरिक अपनी अर्जित कमाई को अपनी चाहों के मुताबिक चीजों के खरीदने में खर्च कर सकते हैं। वे खुले बाजार में जाकर दुकानों से उन्हें खरीद लेते हैं।

जहाँ तक दूसरे प्रकार की "भोक्ताओं की सार्वभौमिकता" का प्रश्न है हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि इस प्रकार की सार्व-भौमिकता के लिये न तो समाजवाद में ही जगह और न योजना-संचा-लित अर्थ-व्यवस्था में ही। दृष्टान्त के लिये सोवियत रूस को ही लीजिये। वहाँ लोगों को प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं के तत्वावधान में उद्योग-सामग्रियों का बड़ा ही कठिन अभाव महसूस हुआ था। हम पीछे कह आये हैं कि सभी भोक्ता अपनी आवश्यकताओं के कुशल निर्णायक नहीं होते। वे नहीं जानते कि उन्हें क्या खरीदना चाहिये और क्या नहीं खरीदना चाहिये, वे नहीं जानते कि किन चीजों के खरीदने से आत्म-कल्याण के साथ सामाजिक कल्याण भी होगा, आदि। डॉब महाशय का कथन है कि योजना पर आधारित अर्थ-प्रणाली में भोक्ताओं की चाहों के ऊपर ख्याल किया जाता है लेकिन भोक्ताओं की इच्छाएँ और अनिच्छाएँ ही केवल उत्पादन की रूप-रेखा को निर्धारित नहीं करतीं। सरकार के विचार पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। योजनामंडल के सदस्यों के विचार के ऊपर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। ये सदस्य अपने-अपने क्षेत्र के मँजे ज्ञाता होते हैं। फिर, समाजवादी राज्य में साधारण इच्छाओं (wants) और आवश्यक इच्छाओं (needs) में विभेद किया जाता है। उसमें पहले मनुष्य की मौलिक आवश्यक इच्छाओं को संतुष्ट करने का इन्तजाम किया जाता है। आवश्यक इच्छाओं की उत्पत्ति जीवन की जरूरियातों तथा निपुणतादायक वस्तुओं की पूर्ति के निमित्त होती

है। इन वस्तुओं को पहले प्रदान करना है। समाज का हरएक इंसान उनकी ख्वाहिश रखता है। हर आदमी गेहूँ की समस्या पहले हल कर लेता है। उसके बाद गुलाब की समस्या आती है। यो तो समाज का हर-इंसान गुलाब की अभिलाषा रखता है लेकिन सबके पास उतना पैसा नहीं कि वह गेहूँ को खरीदने के बाद गुलाब भी खरीद सके। जिन के पास उतना पैसा है और जो धनी हैं वे ही गुलाब खरीद पाते हैं। पूँजीवादी समाज में जो उत्पादन होता है वह लाभ की आशा से। उत्पादकों को सर्वाधिक लाभ गुलाब के उत्पादन से होता है, न कि गेहूँ के। सरकार उत्पादकों को गुलाब के मन चाहे उत्पादन करने से रोकती नहीं वह धनिकों को भी गुलाब के ऊपर खर्च करने से नहीं रोकती। नतीजा यह होता है कि गेहूँ का उत्पादन जितना होना चाहिये नहीं होता। उसके उत्पादन में जितने साधन (खेत,) श्रम, पूजी, आदि लगाने चाहिये उतने लगाये नहीं जाते। दूसरी ओर, गुलाब के उत्पादन में आवश्यकता से अधिक साधन लगाये जाते हैं। समाजवादी समाज में ऐसा नहीं हो सकता। वह समाज हो गेहूँ और गुलाब के असमान वितरण के विरुद्ध क्रान्ति के रूप में पैदा होता है। वह गेहूँ के उत्पादन और पर्याप्त वितरण पर जोर देता है। आरंभ में तो वह गुलाब का उत्पादन स्थगित कर देता है। पीछे जब समाज में गेहूँ की पर्याप्त पूँर्ति हो जाती है और साधन साथ देते हैं, तब वह थोड़े गुलाबों की भी उत्पत्ति कराता है। ऐसा ही सोवियत रूस में हुआ भी। उसकी प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में पूँजी-सामानों (Capital goods) अर्थात् मशीन, आदि का जोर-शोर से उत्पादन हुआ। साथ ही जीवन को आवश्यक वस्तुओं का भी उत्पादन चलता रहा। रूसियों को कम तकलीफ नहीं उठानी पड़ी। उन्हें कम मुसीबतें नहीं झेलनी पड़ी। वे वस्तुओं के अभाव में विलमिला रहे थे। लेकिन वे बराबर सोचते रहे कि वे जो तकलीफ उठा रहे हैं वह अस्थायी है। मशीनों का उत्पादन करना जरूरी है। जब तक चीजों को बनाने वाली मशीनों और उन मशीनों को भी बनाने वाली मशीनों को नहीं बना

लिया जाता तबतक कोई देश आत्मभर नहीं हो सकता। सोवियत रूस इसी ध्येय से अनुप्राणित था और उसके नागरिक भी देश-प्रेम के सजीव रूपक थे। वे अहर्निश खटते रहे। १० वर्षों के बाद रूसकी ताकत इतनी अधिक हो गई कि वह मित्र-राष्ट्रों के बीच तृतीय स्थान प्राप्त कर सका। युद्धकाल में उसके ऊपर आपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। फिर भी उसने बड़ी हिम्मत के साथ उसका सामना किया। और जब जमाना २० वर्ष और ज्यादा खिसक चुका है, जब रूस में चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का आधान हुआ है। रूस दुनिया के सामने एक जबरदस्त शक्ति के रूप में निकला है। वह अमेरिका—जैसे शक्तिशाली देश से भी होड़ लेने के लिये तैयार है। हर एक रूसी भौतिक सुखों का आनंद लूटता है। उसे गेहूँ की कोई कमी नहीं और अब जिन्हें गुलाब की इच्छा होती है वे गुलाब भी पा लेते हैं। रूस ने बाजी मार ली है। उसने समूची दुनिया के आगे एक नमूना पेश किया है। जब हम रूस की प्रथम पंचवर्षीय योजना के ऊपर दृष्टिपात करते हैं और फिर चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तिम परिमाण पर अनुमान करते हैं, तब हम पाते हैं कि वहाँ के भोक्ताओं की सार्वभौमिकता में भी विकास हुआ है और होगा। योजनाकरण के प्रथम प्रहर में वैसी कोई चीज नहीं रह गई थी लेकिन उसके वर्तमान प्रहर में तो उसकी ऐसी मात्रा विद्यमान है जिसे हम मानवता के कल्याण की कसौटी पर कस सकते हैं और दूसरे देशों की तुलना में, जहाँ मानवता फटे दामन से विलाप करती नजर आ रही है, अवश्य ही रूस में उपस्थित भोक्ताओं की यह थोड़ी सार्वभामिकता कहीं अच्छी है। लेकिन किसी भी समाजवादी राज्य में, चाहे वह रूस हो या और कोई देश, भोक्ताओं की पूरी सार्वभौमिकता स्थापित ही नहीं हो सकती। इसकी वजह यह है कि समाजवादी राज्य लोगों को व्यक्तिगत छूट नहीं देना चाहता और उसकी आर्थिक व्यवस्था अनियंत्रित नहीं होती, उसमें योजनाकरण का अभाव नहीं होता। फिर, जिस समाज में सरकार की तरफ से नियंत्रण रहता है, योजना-

करण रहता है वहाँ भोक्ताओं की सार्वभौमिकता नहीं चल सकती। वहाँ केवल राज्य की, सरकार की सार्वभौमिकता है, भोक्ताओं की सार्वभौमिकता उसमें अँट नहीं सकती। "एक म्यान में दो तलवारें समा नहीं सकतीं"। पूँजीवादी प्रणाली में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को आसमान में चढ़ा दिया जाता है। भोक्ताओं की सार्वभौमिकता को गहरे उज्ज्वल रंग में हम रंगते हैं। उसकी दुहाई दी जाती है लेकिन वास्तव में उसका गला घोंटा जाता है। समाजवादी प्रणाली में व्यक्ति को उतनी स्वतंत्रता नहीं दी जाती और भोक्ताओं को सार्वभौम नहीं कहा जाता लेकिन उनके सार्वभौम न रहने पर उनकी माँगों को यथासंभव और क्रमिक ढंग से पूरा करने का पूरा प्रयत्न किया जाता है।

भोक्ताओं की सार्वभौमिकता की समस्या पर विचार करते हमें यह भी देखना होगा कि प्रजातंत्र और योजनाकरण के बीच क्या संबंध है। कहा जाता है कि प्रजातंत्र और योजनाकरण की नहीं बनती। अगर हम किसी प्रजातंत्रात्मक देश में योजनाकरण का प्रस्थापन करें तब उसका दुष्परिमाण यह होगा कि भोक्ताओं की सार्वभौमिकता खत्म हो जाएगी। लेकिन अगर गंभीरतापूर्वक हम इस कथन पर विचार करें तब हमें पता चलेगा कि इसमें ठोसता नहीं है। उस तरह की भोक्ताओं की सार्वभौमिकता को लेकर होगा ही क्या जिससे समाज के अधिकांश व्यक्तियों की अभिलाषाएँ पूर्ण होने नहीं पातीं और केवल मुट्ठीभर लोगों की फालतू अभिलाषाओं की ही पूर्ति होती है? आय और सम्पत्ति के विषम वितरण और बहुमत-दान व्यवस्था की अपेक्षा आय और सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण और नियमित मत-दान व्यवस्था अच्छी है।

फिर भी हमारा निष्कर्ष स्वतंत्र होगा। अगर पूँजीवाद के आलोचक उसकी खिल्ली इसलिये उड़ाते हैं कि उसमें भोक्ताओं की सार्वभौमिकता नहीं रहती तो हम कह सकते हैं कि ये आलोचक यह नहीं तर्क पेश कर सकते कि समाजवाद में भोक्ताओं की सार्वभौमिकता

रहती है। वह तो समाजवाद के लिये एक अपूर्ण सपना है। सोवियत रूस के सुआलोचक लुई फिशर महोदय ने भी वहाँ की वितरण-व्यवस्था की निन्दा की है और उन्होंने बतलाया है कि उसकी हालत गड़बड़ है। गोदामों में कितनी चीजें पड़ी-पड़ी सड़ जाती हैं लेकिन भोक्ताओं को प्राप्त नहीं होतीं। वहाँ लाल फीतेबाजी और नौकरशाही का सितारा बुलन्द है।

पूँजीवाद में भले ही भोक्ताओं की सार्वभौमिकता खत्म हो गई हो, फिर भी उसमें भोक्ताओं की इच्छा और अनिच्छा, पसन्द और नापसन्द की कद्रदानी अभी है। योजनाकरण के तत्वाधान में भी कुछ-न-कुछ अंश में उनकी ओर ध्यान दिया जाता है। उसमें भोक्ताओं की इच्छाओं के महत्तमसमापवर्तक को उत्पादन और पूर्ति का लक्ष्य बनाया जाता है। योजना-मंडल के अधिकारी लक्ष-लक्ष भोक्ताओं के आचरणों के ऊपर दृष्टिपात करते हैं, वे उनकी इच्छाओं और अनिच्छाओं का विचार करते हैं, और अपने कार्य-क्रम में उनकी प्रवृत्तियों को स्थान देने का भरसक प्रबन्ध करते हैं। उस हदतक भोक्ताओं की चयन-वृत्ति की मर्यादा अक्षुण्ण रहती है और उसका संवर्द्धन भी होता है।

मुद्रा-व्यय करने की स्वतंत्रता मुद्रा की तरलता या प्रवहनशीलता (Fluidity) का प्रश्न है। लेकिन मुद्रा-व्यय करने की अनियंत्रित स्वतंत्रता योजनाकरण के बुनियादी सिद्धान्तों के बिल्कुल खिलाफ है। अगर इस प्रकार की स्वतंत्रता रहने दी जाय तब उससे उस आदमी का जेब ही भरती जायगी जिसके यहाँ ऐसी चीजों की भरमार है जिनको दूसरे लोगों के लिये खरीदना दिन पर दिन मुश्किल होता जायगा और उनकी जेब धीरे-धीरे खाली होती जायगी।

केन्द्रीय योजना-मंडल रैशनिङ्ग (खाद्य-सामग्री की वितरण-पद्धति) को अपनाता है लेकिन यह वितरण की एक निकृष्ट पद्धति है। महाशया बरबरा ऊटन का यही मत है। फिर भी योजनाकरण की शुरुआत में हम इस पद्धति की भर्त्सना नहीं कर सकते क्योंकि यह

अभाव को दूर करने तथा धनी-गरीब के बीच की खाई को कम करने का एक सुन्दर तरीका है। यह मंडल मूल्य-नियंत्रण प्रणाली को भी अपनाती है लेकिन इसमें भोक्ताओं की सार्वभौमिकता के ऊपर रुकावट पड़ती है। फिर भी मूल्य-नियंत्रण योजनाकरण के लिये आवश्यक है क्योंकि उससे वैज्ञानिक मूल्यकरण की योजना में सहायता मिलती है। समाजवाद में बिना मूल्य-नियंत्रण की व्यवस्था के वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण हो ही नहीं सकता है।

हम भोक्ताओं की सार्वभौमिकता के पीछे पागल नहीं बन सकते। वह स्वयं पूज्यास्पद वस्तु नहीं। वह जीवन का चरम लक्ष्य नहीं। उत्पादन की किसी व्यवस्था के लिये वह सबसे सुन्दर चीज नहीं कही जा सकती। वह खुद कोई साध्य नहीं। वह अधिक-से-अधिक एक साधन है। आर्थिक जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिये कई साधनों के समन्वय की आवश्यकता है। और इस समन्वय में भोक्ताओं की सार्वभौमिकता को निरपेक्षरूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। हमें न तो इसे अत्यन्त अधिक परिमाण में स्वीकार करना है और न हम इसका सम्पूर्ण विनाश ही आर्थिक जीवन के लिये कल्याणवर्द्धक समझते हैं। इसे एक निश्चित और क्रियात्मक सीमा तक ही हमें ग्रहण करना है। पाठ्य-पुस्तकों में वर्णित आदर्श पर बनी भोक्ताओं की सार्व-भौमिकता केवल कल्पना की वस्तु है, उसका समावेश समाजवाद या योजना-संचालित अर्थ-प्रणाली में हो ही नहीं सकता। लेकिन इस असंभवनीयता पर आँसू बहाने की कोई जरूरत नहीं क्योंकि जब भोक्ताओं को सुख और आराम का अनुभव होगा तो वे थोड़े इसकी चिन्ता करेंगे कि उनकी सार्वभौमिकता जिन्दा है या मरी हुई।

लेकिन एक बात स्पष्ट है और कोई भी विचारक उसे अस्वीकार नहीं कर सकता। वह यह है कि पूँजीवाद अपने वर्त्तमान रूप में समाज की माँग को पूरा करने में असमर्थ है। वह चीज को प्रस्तुत (To deliver the goods) नहीं कर रहा है। इसलिये उसे अपनी काया पलट देना चाहिये। अपने लड़खड़ाते जीवन में किसी

संजीवनी शक्ति का समावेश करना चाहिये। अगर वह अपना जीर्णोद्धार स्वयं नहीं कर पाता, अपना परिष्कार खुद नहीं करता तो उसे बरबस एक अधिक समर्थ और कुशल आर्थिक प्रणाली के लिये अपना तख्त खाली कर देना और ऐसी प्रणाली की छाया पूँजीवाद के साथ लगी हुई मौका की ताक में है। यह वह प्रणाली है जो पूँजीवाद की त्रुटियों को दूर करके एक स्वर्णिम युग का निर्माण करेगी जिससे मानवता का कल्याण हो सकेगा।

विंशति अध्याय

सहयोग का आन्दोलन

(Movement For Co-operation)

सहयोग समितियाँ (Co-operative Associations)

श्री फे ने सहयोग समिति की व्याख्या इन शब्दों में की है:— "यह वह संस्था है जो संयुक्त व्यापार के उद्देश्य से स्थापित होती है। इसका उद्भव दुर्बलों के द्वारा होता है। इसका सम्पादन निःस्वार्थ भाव से होता है। इसके सदस्यों को अपने शेयरों के अनुपात में समिति की सेवा करनी पड़ती है।" आधुनिक पूँजीवादी समाज में पूँजीपति गरीब मजदूरों को काम देकर उन्हें बहुत ही कम मजदूरी देते हैं। आज मानवता के फटे दामन से भयंकर दरिद्रता दृग्गोचर हो रही है। मजदूर नाना प्रकार की यातनाओं को सहन-वहन कर असह्य जीवन बिताने पर बाध्य हो रहे हैं। आज श्रमिकों को बहुत ही तुच्छ पारिश्रमिक दिया जाता है। छोटे-छोटे उत्पादकों को अनुचित प्रतियोगिता द्वारा पराजित करके बड़े उत्पादक मालोमाल हो रहे हैं। भोक्ताओं को अनुचित मूल्य देना पड़ता है। जो लोग पूँजी उधार लेते हैं उन्हें बहुत अधिक सूद देना पड़ता है। इस सहयोग भावना के द्वारा पूँजीपति को बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया जाता है। लोगों का मत है कि उत्पादन के क्षेत्र में उद्योग-प्रणेताओं को जरूरत ही नहीं है। प्रणेता तो भोक्ताओं तथा मजदूरों के हिस्से को भी हड़प लेते हैं। अतः वे इन आर्थिक तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास करते हैं। इस तरह प्रजातंत्र भावना का प्रश्रय लेकर दरिद्र तथा दुर्बल स्वयं संगठित होकर उत्पादन का कार्य करना चाहते हैं, इनका ध्येय कमजोर और कष्ट सहते लोगों का हित करना है। वे व्यवसाय का स्वत्व तथा शासन प्रजातंत्र-भाव के आधार पर खड़ा करना चाहते हैं। सम्मिलित पूँजी-कम्पनी में यह बात नहीं है। भले ही

स्वत्व में यह भावना हो पर शासन में तो निरंकुशता ही विराजमान रहती है। इस प्रकार की प्रथा के कुछ रूप हैं जो नीचे वर्णित किये जा रहे हैं।

उत्पादकों का सहयोग (Producers' Co-operation)

श्रमिक स्वयं पूँजी शेयर खरीदकर एकत्र करते हैं। वे व्यवसाय का प्रबन्ध अपने हाथों में रखते हैं। वे व्यवसायगत खतराओं को सामान रूप से उठाना चाहते हैं। वे अपने से ही आफिस के लिये कर्मचारियों को चुन लेते हैं। समिति के लाभ और हानि में वे समान रूप से शरीक होते हैं। वे विचारपूर्वक सभी खर्च करते, पूँजी का सूद, श्रमिकों की मजदूरी और वेतन देते हैं। जो कुछ बच जाता है उसमें से वे अपना परिश्रमिक और लाभ लेते हैं। गत १६ वीं सदी में सहयोग समितियों को बड़ी उम्मीद की दृष्टि से देखा जाता था। ऐसी आशा की गई थी कि उनके द्वारा बहुत-सी सामाजिक तथा आर्थिक बुराइयाँ दूर हो जायँगी। यद्यपि उनसे अपेक्षित सफलता नहीं मिली, फिर भी उन्होंने कुछ बड़े ही अच्छे काम कर दिखाये हैं। यदि भविष्य में लोगों की शिक्षा, चरित्र और योग्यता के संगठन की सुन्दर व्यवस्था की जाय तो अवश्य ही उन्नति प्राप्त होगी जैसा कि कहा गया है। उत्पादकों की संगठन-सहयोगवाली समिति में श्रमिक स्वयं अपना मालिक बन जाते हैं। इस तरह श्रमिकों और प्रवर्त्तकों के कार्यों का सम्मिश्रण होता है। यदि मजदूर स्वयं काफी पूँजी नहीं एकत्र कर सकते तो वे बाहर से कर्ज भी ले सकते हैं। मालिक की जरूरत को हटाने के लिये इस प्रकार की संस्था का निर्माण हुआ है। मैनेजर से लेकर अविज्ञ मजदूरों तक सभी किसी व्यवसाय के मालिक होते हैं। वे काम करने में कोई अप्रतिष्ठा नहीं देखते। उत्पादकों की सहयोग संस्था का कृषि और छोटे उद्योगों में अच्छा विकास हुआ है क्योंकि इस दिशा में औद्योगिक नेतृत्व की अल्पावश्यकता रहती है।

इस प्रकार की संस्था से कुछ विशेष लाभ होते हैं। एक बात तो यह है कि चूँकि मजदूर ही व्यवसाय के मालिक भी हैं इसलिये

वे अधिक ध्यान, प्रेरणा, और परिश्रम के साथ काम करते हैं। उनकी देख-भाल करने की जरूरत भी नहीं रहती। वे कच्चे माल का कोई नुकसान नहीं करते। वे मशीनों के ऊपर पूरा ध्यान रखते हैं। इस तरह आवश्यक व्यय बच जाते हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसी संस्थाएँ श्रम एवं पूँजी के द्वन्द्व से बची रहती हैं। हड़तालें कम होती हैं। मजदूर इनको अपनी संस्था समझकर अनवरुद्ध उत्पादन की चेष्टा करते हैं। वे लगातार काम भी पाते रहते हैं। तीसरी बात यह है कि जो श्रमिक यह काम शुरू करते हैं वे व्यवसाय के जानकार होते हैं। जो मैनेजर उनके बीच से निर्वाचित होते हैं वे भी मन लगा कर और ईमानदारी से काम करते हैं। चौथी बात यह है कि उत्पादन की निपुणता बढ़ जाती है और शासन में भी स्थिरता का समावेश होता है। पाँचवी बात मजदूरों को काम करने के कारण मजदूरी और मुनाफा होने के कारण लाभ दोनों प्राप्त होते हैं। छठी बात यह है कि वे सोच विचार कर कोई काम शुरू करते हैं क्योंकि यदि उनकी क्षति हो तो समस्त व्यवसाय ही नष्ट हो जायगा, अतः वे जल्दीबाजी नहीं किया करते इसलिये उन्हें हानि कम भी उठानी पड़ती है।

परन्तु हमें यह जानकर दुःख होता है कि 'उत्पादकों का सहयोग' व्यावहारिक-जगत् में उतना सफल नहीं हुआ है। इसके कितने कारण हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि चालू आवश्यकताओं के लिये व्यवसाय को बढ़ाने के निमित्त अधिक पूँजी एकत्र करना सहज नहीं है क्योंकि श्रमिकों के पास अपनी जो पूँजी होती है वह बहुत बड़ी नहीं होती और दूसरे, उनको उधार पूँजी मिलने में बड़ी दिक्कतें होती हैं। दूसरी बात यह है कि अन्य बड़े और पूँजीवादी स्वभाव के उत्पादकों का सामना करके बाजार को अधिकृत करना सहज नहीं है। यदि वे बाजार को आकृष्ट भी करलें तो वे बहुत समय तक उसकी रक्षा नहीं कर सकते। तीसरा प्रश्न यह है कि शासन किस तरह सुचारु रूप से किया जा सके? अपने बीच

के आदमी को मैनेजर बनाने के लिये वोट देना, किसी साथी को अपने से अधिक परिश्रमी मानकर विशेष वेतन देने की राय देना, अपने साथियों की आज्ञा का पालन गम्भीरता और तत्परता के साथ करना सभी मजदूरों के लिये संभव नहीं है। चौथी कठिनाई यह है कि बहुत संस्थाओं में सदस्य जो पूँजी देते हैं वे बाहरी लोग होते हैं। इतना ही नहीं, बहुत-से कर्मचारी संस्था के सदस्य भी नहीं बनते। पाँचवी बात यह है कि शासन-मंडलो में बहुत ही कम श्रमिक रहते हैं इसलिये लाभालाभ का सतत पूरा विचार नहीं किया जा सकता है। छठी बात यह है कि मैनेजर बहुत अनुभवी नहीं होते और मजदूर भी मालिक होने के नाते अनुशासन का पूरा पालन नहीं करते। सातवीं कठिनाई यह है कि प्रणेताओं को पद-च्युत करने का प्रयास सर्वदा सफल नहीं होता। ऐसे काम हैं जिनमें प्रणेताओं की शख्त जरूरत होती है। फल यह होता है कि शासन में बड़ी शिथलता आ जाती है। सहयोग-समिति विश्री और विद्रूप हो जाती है। उसकी उपादेयता जाती रहती। "जो सभी का उद्योग कहलाने का दावा रखता है वह वास्तव में किसी का उद्योग नहीं।"

यह सत्य है कि "उत्पादकों का सहयोग संस्था" से न तो उद्योगों में क्रान्ति हुई है और न होने की संभावना ही है। समाजवाद, आदि से इसे चोट पहुँचा है। फिर भी सीमित क्षेत्र में ऐसी संस्था में पूरी संजीवनी-शक्ति तथा परीक्षण की मान्यता वर्तमान रहती है। ऐसी संस्थाओं का भविष्य उज्ज्वल है। जैसे-जैसे शिक्षा का प्रचार होगा वैसे-वैसे श्रमिक चतुर और सचेत होते जायेंगे।

भोक्ताओं की सहयोग-संस्था

(Consumers' Co-operation)

कहा जाता है कि भोक्ता ही पूँजीवादी समाज का राजा है पर यह कहाँ तक सत्य है पीछे बताया जा चुका है। इस 'वाद' के विरुद्ध भोक्ताओं की पाँच प्रकार की शिकायतें हैं। (१) एक शिकायत है कि उन्हें भय रहता है कि वे सर्वदा उसी चीज को नहीं खरीद सकते हैं

जिसको वे चाहते हैं। बात यह है कि भोक्ता तो अपनी इच्छाओं को मध्यस्थ-सौदागर (Middleman) के द्वारा उत्पादकों तक पहुँचाता है। पर इस काम में विलम्ब और दुस्समझ के लिये काफी जगह है। उत्पादक तथा विक्रेता भोक्ताओं तक उनकी इच्छाओं को समाचार-पत्रों द्वारा व्यक्त करते हैं। पर इतना होने पर भी भ्रम तथा भूल का भय रहता है। फिर भी यह निश्चयतापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि घर की बनी चीनी और समस्त दुहे हुये दुग्ध की बराबरी बाजार में बिकने वाली चीनी और दूध कर सकते हैं! यह बात जरूर है कि प्रचार और प्रतियोगिता के अस्त्र इस प्रकार की शिकायत को बहुत बढ़ने नहीं देते। (२) औसत भोक्ता अधिकतर यह संदेह करता है कि जो दाम उसे चीजों को मोल लेने में देना पड़ता है वह वास्तविक दाम से बहुत अधिक है। उसे अपने ठगे जाने का भय लगा रहता है। हो सकता है कि वह शीघ्रता के कारण ऐसा कह रहा हो, पर हम इसपर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे। (३) तीसरे, भोक्ता को यह शंका हो सकती है कि उसकी अभिलषित कुछ वस्तुओं की पूर्त्ति कम की जा रही है और एकाधिकारी दाम को बढ़ा रहे हैं। आजकल व्यापारों, व्यवसायों तथा उद्योगों में एकाधिपत्य (monopoly) की प्रथा कितने ज़ोरों में बढ़ रही है, यह आगे कहा जायगा। यहाँ यही जानलेना अधिक होगा कि विक्रेताओं के एकमत हो जाने से भोक्ताओं को कष्ट जरूर होता ही है। यदि चीजों की कीमत बहुत अधिक है तो भोक्ता चाहे तो उन्हें खरीद सकता है या छोड़ सकता है। एकाधिकारी भाव को बढ़ाकर पूर्त्ति ही बन्द कर देता है। फलतः भोक्ताओं का सम्पूर्ण संतोष न्यून हो जाता है (४) चौथी बात यह है कि भविष्य की दृष्टि से भी भोक्ता की एक शिकायत है। स्वार्थ-साधन के लिये उत्पादक प्राकृतिक उत्पादनों, जैसे-जंगल, खनिज पदार्थ, पशु-पक्षी, आदि को वर्त्तमानकालीन माँग को पूरा करने में बिना होशियारी के खतम कर सकते हैं। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से भोक्ता को शिकायत करने का हक नहीं है तथापि एक नागरिक

की हैसियत से वह ऐसा कर सकता है (५) पूँजीवादी प्रणाली में केवल उन्हीं लोगों की इच्छा पूर्ण होती है जो रुपयों के रूप में वोट दे सकते हैं, कितनों को यह भी ज्ञात नहीं हो सकता है कि उन्हें अपने बच्चों को शिक्षा देना और सुयोग्य नागरिक भी बनाना है। कितने इच्छा से पीड़ित हैं पर पास में पैसा नहीं कि वे उसे फलवती कर सकें।

इन शिकायतों में पहली को सरकारी कानून बनाकर कि उत्पादक लोग चीजों को विकृत न करें और भोक्ताओं की आँखों में धूल न डालें दूर किया जा सकता है। चौथी शिकायत भी सरकार विधान बनाकर दूर कर सकती है और प्राकृतिक उत्पादनों का द्रुत विनाश बन्द कर सकती है। तीसरी शिकायत के निराकरण के लिये एकाधिकारों को या तो दूर करना होगा या उनका संशोधन करना होगा। भोक्ताओं की दो प्रारंभिक असुविधाओं को दूर करने के लिये "भोक्ताओं की सहयोग-संस्था" का प्रतिस्थापन होता है। इसकी स्थापना के लिये किसी भूभाग के भोक्ता छोटे-छोटे शेयरों को खरीद कर पूँजी जमा करते हैं और अपना भंडार खोल देते हैं। वे थोक विक्रेताओं से माल संस्था के लिये खरीद सकते हैं। उन मालों को वे (संस्था के सदस्य) अपने उपभोग के लिये बाजार दर पर मोल ले सकते हैं। संस्था की सदस्यता सबके लिये—जो चन्दा दे सकें—खुली रहती हैं। वे शेयर के अनुपात से वोट भी दे सकते हैं। सभी सदस्यों की राय से शासन-समिति का निर्माण होता है। दूकान का मैनेजर वेतनपानेवाला व्यक्ति होता है। सदस्य लोग अपना थोड़ा-थोड़ा समय संस्था की देख-भाल में लगाते हैं। उन्हें कुछ पारिश्रमिक भी बदले में मिलता है। सदस्यों की दी पूँजी पर बँधा हुआ सूद दिया जाता है। चीजों का जो दाम काटा जाता है उसकी दर खुदरा बिक्री की दर के बराबर होती है। इस प्रकार जो लाभ होता है उसे सदस्यों में विभक्त कर दिया जाता है। विभाजन का निर्णायक सदस्यों की पृथक-पृथक खरीदें होती हैं। मुनाफे में से कुछ संस्था के विकास के लिये अलग रख दिया जाता,

कुछ समाज की भलाई के अर्थ शिक्षण संस्थाओं में दान कर दिया जाता है। कभी-कभी ऐसी संस्थाओं का सम्मिश्रण भी हो जाता है और वे एक में मिलकर एक बड़ी संस्था हो जाती हैं।

इस संस्था की बहुत-सी विशेषताएँ हैं:—(१) सभी सदस्य अपनी संस्था के हितैषी और सेवक होते हैं। (२) लाभ मिलने की आशा से सदस्यलोग संस्था के भंडार का पूरा उपभोग करते हैं। (३) चूँकि खरीदनेवाले संस्था के ही सदस्य होते हैं इसलिये विज्ञापन आदि की जरूरत नहीं पड़ती। (४) चीजों को अधिक काल तक भंडार में रखने की जरूरत भी नहीं होती, क्योंकि वे तो जल्दी खप जाती हैं। इस तरह सहसा क्षति होने का भी भय नहीं होता। (५) शासन की प्रणाली प्रजातंत्र भाव लिये हुये अवैतनिक होता है। व्यवसाय भी सीधे-सादे ढंग का होता है और वाणिज्यगत दृष्टि और योग्यता की उतनी नितान्त जरूरत भी नहीं होती। इस तरह शासन-व्यय में भी बचत होती है। (६) चीजों को प्राप्त करने में किसी मध्यस्थ की जरूरत नहीं रहती। इसलिये ठगे जाने का भय भी नहीं रहता।

पर इस संस्था की कुछ जबरदस्त कमियाँ हैं:—(१) यह ठीक है कि शासन-व्यय में बचत होती है पर यह जानना चाहिये कि अन्त में यह बात हानिकर साबित हो सकती है। मैनेजर कम वेतन पाने की वजह से पूरा मन नहीं लगा सकते। (२) नौसिखुये लोगों को रखना आपत्तिजनक होता है। व्यवसाय के जटिल होने से संस्था अधिक दिनों तक इन लोगों की योग्यता पर टिक नहीं सकती। (३) ऐसी संस्थायें वास्तव में पूँजीवादी ढंग पर चलाई जाती हैं। शासकों और श्रमिकों में विभिन्नता रहती है। (४) चूँकि चीजें इनी-गिनी रहती हैं, अतः लोगों को (खासकर गृहिणी देवी को!) चुनने की गुंजाइश नहीं रहती। इससे भोक्ताओं को अपनी अन्य इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये बाहरी बाजार का सहारा लेना पड़ेगा। संस्था के भंडार में उभयनिष्ठ इच्छाओं की ही गणना होती है। (५) संकुचित सीमा में मैनेजरों को न पूरी स्वतंत्रता रहती है और न विशेष योग्यता दिखाने

का अवसर। (६) बाजार के अति सीमित रहने से प्रामाणिकता (Standardisation) का उपयोग कर पूरा-पूरा लाभ भी नहीं उठाया जा सकता। (७) अपने श्रमिकों के प्रति इन संस्थाओं का जो व्यवहार है वह असंतोषजनक है और पूंजीवादी प्रभाव का वह स्मृतिदाता है। उन्हें भंडार अथवा कारखाने के शासन में मत देने की सुविधा प्राप्त नहीं है। इसलिये उनमें यदा-कदा हड़तालें भी हुई हैं। खपत तथा नियंत्रण के मध्य पुल भले ही बाँधा गया है, पर वह श्रमिक तथा शासक को पार नहीं करता। इस तरह हम देखते हैं कि यह संस्था कितनी कठिनाइयों से आवृत्त है और इसका भविष्य चमकता हुआ नहीं प्रत्युत् मलिन एवं धूमिल है।

पूँजी एवं श्रम का द्वन्द्व
(The Conflict between Labour and Capital)

विज्ञान मानव के लिये वरदान और अभिशाप दोनों है। जब तक मनुष्य विज्ञान को अपना दास बनाये रखता है, वह उससे लाभ उठाता है। पर जब वह उसका क्रीतदास स्वयं बन जाता है, विज्ञान उसके लिये अभिशाप हो जाता है। मशीनों से श्रम-व्यय में कमी जरूर होती है पर सभी दशाओं में ऐसा नहीं होता। पूंजी तथा श्रम का सम्बन्ध बहुत ही गहरा है। पूँजी एक प्रकार से श्रम का फल है। उसमें प्रतीक्षा का अंश भी रहता है। वर्त्तमान युग में पूंजी श्रम की अपेक्षा अधिक काम करनेवाली है। फिर भी उसे श्रम के सहयोग का आश्रयण स्वीकार करना पड़ता। श्रमिकों के संकेत और स्पर्श के बिना मशीनें नहीं चल सकतीं। कार्लमार्क्स ने लिखा है कि पूँजी (मशीन) श्रम को अपदस्थ कर देती है। पहले मनुष्य ही अधिक कामों के लिये खोजे जाते थे। आज का मशीनयुगीन कारखाना नारियों तथा बच्चों को काम में लगाना चाहता है क्योंकि पुरुषों को मजदूरी की अपेक्षा इन्हें कम पैसा दिया जाता है। फल यह होता है कि आज मजदूरों को अपनी स्त्रियों तथा बच्चों को भी बेच डालना पड़ता है। मशीनें खुद श्रमिकों से युद्ध करने लगती हैं। कार्लमार्क्स ने मशीनों को उतना

खराब नहीं समझा है। वे पूँजीवादी प्रणाली की निन्दा करते हैं। महात्मा गांधी ने पूँजी का इतना आधिपत्य देखकर लोगों को आदेश किया था कि वे अपनी नष्ट प्रणालियों का पुनरुत्थान करें, भारत में ही मैनचेस्टर का बीजारोपण करें। हमारा कथन है कि पूँजी निकृष्ट वस्तु नहीं है, आज उसका जिस ढंग से उपयोग हो रहा है वह जरूर ही बुरा है।

मशीनों के आगमन ने बेकारी की समस्या उपस्थित कर दी है। पहले जिस काम को १०० आदमी करते थे उसी काम को मशीनों की सहायता से पाँच आदमी कर सकते हैं। मिल और कारखाने के अधिपति मजदूरों को नियुक्त न कर मशीनों को ही खरीदते हैं। इस तरह श्रम और पूँजी आपस में द्वन्द्वी हैं। औद्योगिक क्रान्ति के समय श्रमिकों ने मशीनों के प्रयोग का जोरों से विरोध किया था। पर उनकी आवाज अनसुनी की गई। मशीनों की स्थापना हुई। लोगों को अनेकों मुसीबतों का सामना करना पड़ा। गाँव-के-गाँव उजाड़ पड़ गये। मजदूरों पर कितने अमानुषिक अत्याचार किये गये। स्त्रियों और बच्चों को तरह-तरह की यातनाएँ दी गईं। गृह-उद्योग नष्ट हो गये। बेकारी का प्रश्न उपस्थित हो गया। कुछ वर्षों तक लोगों को बहुत ही तकलीफें हुईं। पीछे चलकर परिस्थिति बदल गई। लोग अधिक सुख से दिन व्यतीत करने लगे। उनके रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा हो गया। आज इंगलैंड में श्रमिकों की बेकारी का प्रश्न उतना तीव्र नहीं है। वहाँ के मजदूर अपेक्षाकृत अधिक सुखी हैं। इसलिये मशीनों को निकृष्ट कहना अनुचित है।

यह बात ठीक है कि पूँजी की जितनी शक्ति बढ़ती जाती है वह श्रम को हटाने में उतना ही समर्थ होती जा रही है। आज छोटे पैमाने पर उद्योग करनेवाले अपने बड़े प्रतिद्वन्द्वी से पराभूत होते हैं। फलतः उन्हें अपने मजदूरों को हटा देना पड़ता है। मजदूरों को तीन प्रकार की मुसीबतों का मुकाबला करना पड़ता है। यदि उनका मालिक चतुर और सतर्क नहीं है तो उन्हें कम वेतन मिलेगा या डर रहेगा कि वे बेकार

न हो जायँ। यदि उनकी मिलों में नूतन यंत्रों का प्रयोग न हो तो दूसरी मिलें उनका प्रयोग करके उन्हें बेकार बना सकती हैं। तीसरे, व्यापारिक अवनति होने पर उनको काम नहीं मिल सकेगा। इनमें से पहली मुसीबत को तो वे एक मिल से दूसरी मिल में काम लेकर पार कर सकते हैं। यदि वे पहली मिल को किसी क्रिया में अधिक अभ्यस्त हैं तो उन्हें विवश होना पड़ेगा। इस तरह वे दूसरी मुसीबत का भी सामना कर सकते हैं। व्यापारिक अवनति से मजदूरों और उनके मालिकों दोनों की क्षति होती है पर मजदूर बहुत ही बड़ी क्षति उठाते हैं। यदि उन्हें शासन-सूत्र को सँभालने का आंशिक अधिकार दिया जाय तो वे इससे बच सकते हैं। बात यह है कि मालिक तो मजदूरों के कष्ट का ख्याल ही नहीं करते और ऐसे निर्णय करते हैं कि समूचे व्यापार को नुकसान पहुँचता है। बेकारी का दानव मजदूरों का भक्षण करता है। मजदूरों को इतना अधिकार नहीं दिया जाता कि वे अधिकारियों से मिलकर अपनी कठिनाइयों को बतला सकें। जो प्रबन्धक होते हैं वे अधिकारियों के द्वारा बहाल किये जाते हैं और उन्हें भी उतना हक नहीं रहता कि वे मजदूरों की कठिनाइयों को दूर कर सकें। इसलिये तो यही कहना उचित जँचता है कि संसार के राजमार्ग पर उद्योग के वृद्ध अश्व को छोड़ दें और पूँजी का अधिकारी आसन पर बैठ कर सुखपूर्वक आगे बढ़ता जाय तथा उसके पीछे-पीछे श्रमरूपी श्वान भूँकता रहे! श्रमिक-दल पूँजी की चक्की में पिसता रहे और पूँजीपति पूँजी के कशा से उसकी चमड़ी उधेड़े!

अब तक जो कहा गया उससे श्रम एवं पूँजी का पारस्परिक संबंध कृष्ण रंग में रँग गया। पर इसका श्वेत पक्ष भी है। ये दोनों द्वन्द्वी हैं पर कुछ ही समय के लिये। दोनों से राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि में पूरी सहायता मिलती है। जैसा कि प्रो० मार्शल ने कहा है, "Capital without labour is dead, the Labourer without the aid of his own or some one else's capital would not be long alive" अर्थात् श्रमहीन पूँजी मृतप्राय है।

अपनी पूँजी या किसी अन्य की पूँजी की सहायता के बिना श्रम दीर्घजीवी नहीं हो सकता। यदि दोनों हिल-मिलकर काम करें तो दोनों की आमदनी बढ़ जाय। थोड़े आदमियों की बेकारी भले ही हो, पर मशीनों के प्रयोग से उनसे अधिक लोग काम भी पाते हैं। यह इन कारणों से सम्भव होता है:—

(१) मशीनों के द्वारा जो चीजें तैयार की जाती हैं उनका दाम कम होता है। भोक्तागण उन्हें विशेष चाव से खरीदेंगे। अधिक माँग होने से उत्पादन का पैमाना भी बढ़ा दिया जायगा। इसके निमित्त जो लोग मशीनों के प्रवेश के कारण बेकार हो गये थे, पुनः काम पा लेंगे।

(२) यदि चीजों की माँग अधिक न भी हो तो लोगों को दाम कम लगने से कुछ बचतें होगी जिन्हें वे अन्य चीजों को खरीदने में खर्च करेंगे। इसलिये इन अन्य चीजों को तैयार करने के लिये मजदूरों को नियुक्त करना पड़ेगा।

(३) कुछ मजदूर मशीनों को बनाने में लगाये जायेंगे।

(४) मजदूरों को भी चीजों को खरीदने में कम दाम देना पड़ेगा। वे बचे पैसों से दूसरी चीजें खरीदना चाहेंगे। फल यह होगा कि कुछ मजदूर इन चीजों को तैयार करने के लिये रख लिये जायेंगे।

(५) पूँजी के प्रयोग से श्रमिकों को कुछ बचत जरूर होती है। इसलिये वर्गगत हित तो अवश्यमेव होगा ही।

(६) श्रमिकों के द्वारा जो नई खोजें होती हैं उनसे पूँजी को लाभ होता है।

अतः श्रम और पूँजी दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं। कुछ समय तक बेकारी होगी ही पर फिर वह हल भी हो सकती है। यदि व्यवस्थापक चतुर है तो मजदूरों को बेकार नहीं होना पड़ेगा, वह परिस्थिति का नियंत्रण कर सकता है। आवश्यकता इसी बात की है कि हम परिस्थिति को अपने काबू में लावें। सरकार को भी सतर्कता-पूर्वक निरीक्षण एवं परीक्षण करना पड़ेगा। रूस का उदाहरण हमारे

समस्त है। सन् १६२६ की विश्वव्यापी बेकारी की समस्या को उसने जिस चातुरी से हल किया वह अपनी शानी नहीं रखता। जब बड़े-बड़े औद्योगिक राष्ट्र बेकारी की मुसीबत झेल रहे थे, रूस में मजदूरों की कमी हो गई थी। रूस में पूँजी है, पूँजीवाद भले ही न हो। बिना पूँजी के देश के उत्थान की कल्पना करना आधारहीन है। पूँजी और श्रम का संतुलन बेकारी की समस्या को बहुत हो अंशों में हल कर सकता है।

व्यापार-संघ तथा मजदूरी के साथ उसका संबंध
(Trade-Unionism and its Relation with Wages)

व्यापार-संघ एक ही व्यापार के या अनेक व्यापारों के श्रमिकों की एक संस्था है। यह अपने सदस्यों से कोष एकत्र करता है। उस कोष से यह बेकार मजदूरों के जीवन-निर्वाह में सहायता देता है। जरूरत पड़ने पर यह कुछ प्रॉविडेन्ड हित भी करता है। समय के अनुसार इसकी नीति बदलती रहती है। इसके प्रधान ध्येय मजदूरी को बढ़ाना, काम करने के घंटों का कम करना, काम करने की जगह को स्वच्छ तथा स्वस्थ बनाने की चेष्टा करना, मालिकों के अन्याय कार्यों से व्यक्तिगत मजदूरों का रक्षा करना आदि हैं। इस संघ के नियम इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बने होते हैं।

व्यापारसंघ—वर्त्तमान औद्योगिक पद्धति के अनिवार्य फल हैं। मजदूरों की स्वतंत्रता खतरे में है। उनके मालिकों के दुर्व्यवहार से उनकी रक्षा करना जरूरी है। व्यापार-संघ अपने उद्योगों द्वारा मजदूरों की मजदूरी को प्रभावित करते हैं।

(१) ये मजदूरों को अपने कोष तथा सहयोग से इसके योग्य बना देते हैं कि वे अपने मालिकों से अपनी मजदूरी के लिये मोल-तोल कर सकें। यह सर्वसम्मत बात है कि व्यापार-संघों के प्रयास से आज बहुत-से स्थानों के मजदूर अच्छे वेतन पर काम कर रहे हैं और उनको निहायत कम मजदूरी देकर शोषित नहीं किया जा सकता।

(२) सबल व्यापार-संघ मालिकों द्वारा उठाये गये लाभ का पर्याप्त

अंश मजदूरों में ही विभक्त कर सकता है। पूँजी को जो धक्का पहुँचेगा उसका वहन थोड़ीमात्रा में भोक्तागण भी करेंगे। लेकिन हो सकता है कि कभी-कभी पूँजी को धक्का पहुँचाने के कारण मजदूरों को कम काम मिले अथवा मजदूरी की दर भी न्यून हो जाय।

(२) संघ प्रत्यक्ष ढंग से बड़ी कठिनाई से ही सामान्य मजदूरी को बढ़ा सकते हैं। हाँ, यदि मजदूरों की निपुणता बढ़ा दी जाय तो सब समय के लिये मजदूरी बढ़ाई जा सकती है। मार्शल का कहना है कि यदि निम्नलिखित दशाएँ ठीक निकलें तो सर्वदा के लिये मजदूरी बढ़ाई जा सकती है :—

(क) संघों को व्यवसाय को सुगम और निश्चित बनाना चाहिये। यह मजदूरों और मालिकों के बीच पुनः राय-बात करानेवाली संस्थाओं से संभव होता है।

(ख) उन्हें मजदूरों के वर्तमान और भावी रहन-सहन को उच्चतर बनाना चाहिये। उन्हें मजदूरों के बीच गंभीरता, ईमानदारी, स्वतंत्रप्रियता और आत्म-सम्मान, आदि विभूषित गुणों का प्रस्फुटन करना चाहिये। यह भी कार्य थोड़ा-बहुत सभी संघों के द्वारा सम्पन्न होता है।

(ग) उन्हें उन्नति के लिये इच्छुक वर्त्तमान संतति की सहायता करनी चाहिये जिससे वे औद्योगिक चातुर्य को प्राप्त कर सकें और उच्च वेतन के कार्यों को कर सकें।

(घ) उन्हें व्यावसायिक-शक्ति और उद्योग-निधियों को उन्नत करके राष्ट्रीय-सम्पत्ति और आय को अभिवृद्ध करना चाहिये जिससे उत्पादन किफायत और योग्य हो सके।

(च) उन्हें मजदूरों के अन्तःवर्गीय संघर्षों को दूर करने का पूरा प्रयास करना चाहिये।

किसी व्यापार में काम करनेवाले मजदूरों की मजदूरी को कोई व्यापार-संघ उनकी पूर्ति को परिमित करके निम्नलिखित अवस्थाओं में बढ़ा सकता है :—

(१) जब उस व्यापार द्वारा उत्पन्न वस्तु को प्राप्त करने का दूसरा चारा न हो।

(२) उस वस्तु की माँग अलोचवती हो।

(३) उस वस्तु को तैयार करने का हिस्सा जो उनकी मजदूरी के बराबर होता है कम हो जिससे उनमें अनुपातत: वृद्धि होने पर भी उसका दाम बहुत न बढ़ जाय और फलत: माँग न घट जाय।

(४) दूसरे वर्ग के मजदूर और साधनों को परित्यक्त किया जा सके, वे "Squeezable" हों।

अब हमें देखना है कि व्यापार-संघ का मजदूरों की अवस्थाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है। (क) संघों ने पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों को संत्रस्त पाया और उन्हें आदर दिया, आत्मनिर्भरता दी। उनसे मजदूरों में आत्म-विश्वास, साथी-भाव आता है। उन्होंने जनता को मजदूरों की विपन्न बतलायी हैं, उनकी मजदूरी को बढ़ाया है, आदि। (ख) संघों ने मजदूरों के नैतिक चरित्र को सबल कर दिया है। वे गलती करनेवाले सदस्य को दंड देते हैं। इस प्रकार सहश्रम—Espirit de corps से उनकी कितनी बुराइयाँ दूर हो गई हैं। (घ) उन्होंने मजदूरों की निपुणता को बढ़ाने में सहयोग दिया है। (घ) उनका बंधुत्व प्रेम आदर्श है। इससे वृद्धावस्था के कष्ट से मुक्ति, बेकारी की यंत्रणा से मुक्ति प्राप्त होती है।

फिर भी व्यापार-संघ का कुछ बुरा प्रभाव भी पड़ता है।

(क) श्रम-पूर्ति की कृत्रिम सीमितता से मालिक, भोक्ताओं तथा दूसरे व्यापार की मजदूरों को कष्ट पहुँचता है।

(ख) उत्पादन को कृत्रिम ढंग से कम कर देने से श्रम कम उत्पादनशील होता है। जिससे मजदूरों को खुद क्षति उठानी पड़ती है।

(ग) संघ की अनुचित माँग से पूँजी व्यवसाय से कम कर दी जाती है। इससे बेकारी की समस्या उपस्थित हो जाती है। मजदूरी कम हो जाती है।

(घ) हड़तालों के कारण सामाजिक कलह उत्पन्न होता है। जीवन कुछ काल के लिये अस्त-व्यस्त हो जाता है। मगर पूँजीपतियों को अपनी गलती का अनुभव करने के लिये कुछ हड़तालें अच्छी भी हैं।

एकविंशति अध्याय

श्रमिकों की कुछ विशिष्ट समस्याएँ

(Some Special Problems of Workers)

मजदूरी के तीन भेद (Three Kinds of Wages)

मजदूरी के तीन स्थूल भेद किये गये हैं—न्यूनतम मजदूरी minimum wage), जीवनार्थ मजदूरी (living wage) तथा उचित मजदूरी (fair wage)।

"न्यूनतम मजदूरी" उस मजदूरी को कहते हैं जिसके द्वारा खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ और थोड़ा पैसा बचा रहे जिससे निपुणता की रक्षा हो सके। शिक्षा-दीक्षा, दवा-दारू, आदि की सुविधा रहने पर ही निपुणता की रक्षा हो सकती है।

"जीवनार्थ मजदूरी" उस मजदूरी को कहते जो "न्यूनतम मजदूरी" से कुछ अधिक होती है। यह मजदूरी इतनी होती है कि उससे मजदूर अपनी और अपने परिवार की परवरिश कर सकता है। भोजन कपड़ा-जत्ता, तथा घर-द्वार के प्रबन्ध के साथ कुछ आराम के प्रसाधन भी जुटा लेता है। आराम के प्रसाधनों से अभिप्राय शिक्षा-दीक्षा, चिकित्सा की सुविधा और आपत्ति-निवारण, आमोद-प्रमोद के प्रबन्ध से है, ताड़ी-शराब पीने, वेश्यागमन, आदि से नहीं।

"उचित मजदूरी" न्यूनतम मजदूरी से ज्यादा और जीवनार्थ मजदूरी से कम होती हैं। यह जीवनार्थ मजदूरी की दिशा उन्मुख होती है।

दुनिया की प्रगतिशील और उन्नत सरकार न्यूनतम मजदूरी के स्तर से उचित मजदूरी के स्तर की ओर बढ़ रही हैं। भारतीय सरकार ने भी इसके संबंध में कुछ विधान पास किये हैं।

न्यूनतम मजदूरी का प्रश्न (The Problem of Minimum Wages)

कल्पना कीजिये कि सरकार द्वारा अथवा व्यापार-संघ द्वारा न्यूनतम मजदूरी तय कर दी जाती है। अन्त करनेवाले व्यापार में मजदूरी इतनी तय कर दी जाती है कि वह अन्य कार्यों तथा व्यापारों में दी जानेवाली मजदूरी से अधिक हो। यदि तय की हुई मजदूरी पहले से अधिक कर दी गई है तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इससे मजदूरों की भलाई ही होगी। मान लीजिये प्रत्येक व्यापार के मालिक को कानून द्वारा अपने हर-एक मजदूर को "न्यूनतम मजदूरी" देने का आदेश कर दिया जाय पर उसे इसके लिये बाध्य नहीं किया जाय कि उतनी मजदूरी पर तत्कालीन सभी मजदूरों को काम दिया ही जाय तो हो सकता है कि मालिक कुछ मजदूरों को नहीं नियुक्त करें और इसके कारण उन मजदूरों को ऐसे कार्यों में भर्ती होना पड़े जहाँ पुराने काम में पहली मजदूरी से भी कम मजदूरी दी जाती हो। इससे तो उनका कोई कल्याण नहीं हुआ। अगर उन कार्यों में भी मजदूरी की न्यूनतम दर इतनी तय की जाय कि वहाँ के मालिक उसे नहीं दे सकें तो लाचारीवश इन मजदूरों को बेकार घर बैठना होगा। या तो उन्हें भुखमरी के कारण जान दे देनी होगी अथवा सरकार की भिक्षा पर दिन काटना होगा। यदि न्यूनतम मजदूरी, जो सरकार या व्यापार-संघ द्वारा तय की गई है ऐसी हो कि उसपर दूसरे कार्यों से अधिक योग्य तथा निपुण मजदूर लाये जा सकें तो मालिक अपने वर्त्तमान कम योग्य मजदूरों को बर्खास्त कर अधिक योग्य मजदूरों को भर्ती करेंगे। इस प्रकार कार्यों के बीच श्रम का पुनर्वितरण होगा। एक अन्य संभवनीयता भी है। हो सकता कि बढ़ी मजदूरी देने के बजाय मिल-मालिक श्रमिकों को कम करनेवाली मशीनों को ही खरीद कर व्यवहार कर सकें। मजदूरी की दर बढ़ने से तो उद्योग-पतियों का मुनाफा जरूर ही कम हो जाता है। फलतः कुछ कम योग्य उद्योगाधिकारी पदच्युत होंगे। दूसरे अन्य फर्मों में लग जायेंगे।

समय बीतने पर नई पूँजी और उत्साह ऐसे उद्योगों से मुँह मोड़ लेगा। वस्तु का उत्पादन कम हो जायगा। इसके प्रतिफल पुनः दाम बढ़ जायेंगे तथा मुनाफा भी स्वाभाविक होने लगेगा।

फलतः "न्यूनतम मजदूरी" उक्तकथित कार्य में नियुक्त मजदूरों की संख्या कम कर देगी। फिर भी ऐसा होने में कुछ समय लगेगा। स्थिर पूँजी से उद्योग के प्रणेता पहले इतना मजदूर बहाल करेंगे अथवा प्लान्ट के जीर्ण होने पर उसे इस तरह बदल सकते हैं कि श्रम की किफायत हो। इस तरह मजदूरी बढ़ने के बहुत बाद मजदूरों में से कुछ की छटनी होगी। इस प्रकार की बेकारी की वजह है मालिकों की अयोग्यता। बेकारी की हद उस प्रकार के श्रम की माँग को लोच पर निर्भर करेगी। और यह लोच भी श्रमिकों द्वारा तैयार की गई वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर की करेगी। वस्तु की माँग लोचहीन होने पर और श्रमिकों की जगह अन्य साधनों के उपयोग की संभव-नीयता रहने पर मिलमालिक उन साधनों का उपयोग करेगा।

परन्तु यह कहना कोई चरम सत्य नहीं है कि "न्यूनतम मजदूरी" ठीक करने से मजदूरों की हानि होगी क्योंकि चार तरहों से इसके द्वारा उन्हें लाभ भी पहुँच सकता है। पहली बात यह है कि यदि प्लान्ट में परिवर्तन नहीं किया जा सकता तो मालिक अपने मुनाफे को ही कम कर अधिक बेकारी नहीं होने देंगे। उत्पादन घटाकर वस्तुओं का मूल्य बढ़ाया जा सकता है। भोक्ताओं को अधिक दाम देना पड़ेगा और इस तरह जो अधिक पैसा मिलेगा उससे मजदूरों की बढ़ी मजदूरी दी जा सकती है। दूसरी बात यह है कि हो सकता है कि मजदूरी बढ़ने से मजदूर की शक्ति बढ़ जाय। वह अच्छा अन्न खा सकता है। उसके कार्य का गुण बढ़ सकता है। इस प्रकार मजदूरों के गुण बढ़ने से उत्पादन भी अधिक हो सकता। दाम भले ही बढ़े पर उत्पादन की प्रति इकाई का श्रम-व्यय कम हो गया है। इस तरह श्रमिकों की माँग भी बढ़ सकती है। तीसरी बात यह है न्यूनतम मजदूरी तय होने या न होने पर भी मालिक मजदूरों को

शोषित नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा एकान्त अधिकार होने पर ही संभव है। इस न्यूनतम मजदूरी से प्रधानतः मजदूरों की मजदूरी बढ़ती है और उन्हें बेकार होने का कम अवसर रहता है। चौथी बात यह है कि हमें बेकारी से उत्पन्न हित का भी ख्याल करना होगा। यह कहा जा सकता है यदि न्यूनतम मजदूरी के कारण कुछ मजदूर इस तरह बेकार हो जायँ कि मजदूर-वर्ग की सम्पूर्ण आमदनी पहले से घट जाय तो इससे क्या लाभ हुआ? पर इसके साथ एक बात यह भी है कि बेकारी को धनी लोगों पर कर लगाकर बेकार लोगों को रुपया देकर दूर किया जा सकता है। इसलिये धनी-वर्ग से दरिद्र-वर्ग में धन-वितरण का न्यूनतम मजदूरी एक साधन होगी और इसके कारण मजदूर का समस्त व पहले की अपेक्षा अधिक सुखी और सम्पन्न होगा।

इस विवेचन का सारांश यह है कि पहले से अधिक "न्यूनतम मजदूरी" काम में लगे रहनेवालों को लाभ पहुँचायेगी। संभवतः यह कुछ बेकारी उत्पन्न करेगी जिसकी सीमा वर्त्तमान अवस्थाओं पर अवलम्बित रहेगी। जो बेकार हो जाते हैं या निकृष्ट कार्य शुरू करते हैं वे घाटे में होंगे। अतएव इस विवेचनगत उद्योग की आमदनी कुछ काल के लिये कम हो जायगी। वस्तुओं के दाम बढ़ने से उनके भोक्ताओं को क्षति होगी। बेकारी के निराकरण के लिये कर देने वालों को पहले से अधिक कर देना पड़ेगा।

न्यूनतम मजदूरी के तय करने के साथ यह भी विचारणीय है कि यदि सरकार प्रत्येक श्रमिक की वास्तविक मजदूरी को पूरी तरह बढ़ा दे तो उसका क्या असर पड़ेगा। वास्तविक मजदूरी को बढ़ाने के लिये सरकार मुद्रागत मजदूरी को जीवन-यापन की लागत के अनुसार परिवर्त्तित करेगी। यदि अन्न-वस्त्र, घर, आदि चीजों का मूल्य बढ़े तो मुद्रागत मजदूरी का बढ़ाना अनिवार्य है। सापेक्षतः अयोग्य मजदूर जो बेसिक या प्रारंभिक मजदूरी के योग्य भी नहीं वे कम मजदूरी का काम स्वीकार नहीं करेंगे। श्रमिकों का आपस में कार्यगत पुनर्वि-

तरण कम होगा। बर्खास्त किये गये मजदूर फिर से नियुक्त नहीं होंगे। दाम की वृद्धि से लाभ नहीं हो सकता। श्रम को किफायत करनेवाली मशीनों का दाम बढ़ जायगा। उत्पादन करने के साधनों में हेर-फेर करने का क्षेत्र संकुचित हो जायगा। पूँजी के संचय तथा नियोग में बाधा उपस्थित होगी। श्रम की सहयोगी पूँजी की उन्नति अवरुद्ध होने से श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता कम हो जायगी। यदि ऐसी दशा में मजदूरी निश्चित नहीं की जाय तो वह घटती ही जायगी। फिर यदि वर्त्तमान हालत में प्रस्तुत मजदूरी को स्थिर रखा जाय तो इससे और बेकारी बढ़ेगी।

आस्ट्रेलिया में मजदूरी के नियमन का प्रयत्न किया गया था। वहाँ के अनुभव से प्रतीत होता है कि इस कार्य की जो आशंकाएँ हैं वे सत्य हैं और अधिकारियों के द्वारा स्वीकार की गई हैं। उन्हें अपने उद्योग से विचलित होना पड़ा है। वे यह नहीं तय कर पाये हैं कि क्या उक्तवर्णित असंतुलन की अराजकता का गर्त्त अर्थशास्त्रज्ञों के द्वारा सृष्ट दानव का रूपक था या कुछ और ही। (whether the abyss of cumulative disequilibrium described above was merely a bogey created by economists)। लेकिन अब परिस्थिति बदल गई है और ये आशंकाएँ भी मिट गई हैं।

बेकारी का समस्या और लार्ड केन्स के सिद्धान्त

(Lord Keynes on the Problem of Unemployment)

पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली की जटिलतम समस्याओं में बेकारी की समस्या प्रमुख स्थान रखती है। काम करने की इच्छा रखते हुए भी लोग काम नहीं पा सकते। कहा जाता है कि १९३० की विश्वव्यापी मन्दी के समय जहाँ बार्तानिया और अमेरिका—जैसे पूँजीपति देशों में लाखों की संख्या में लोग बेकार हो गये थे, उस समय समाजवाद की आदर्शभूमि रूस में काम करनेवालों का अभाव महसूस किया जा रहा था। कोई भी प्रणाली हो वह पूर्ण रोजी पर जरूर जोर देती है। मानव के हित का एक बड़ा साधन पूर्ण रोजी की व्यवस्था भी है।

बेकारी की यथार्थ परिभाषा के संबंध में अर्थशास्त्रवेत्ताओं में आरंभ से ही मतभेद रहा है। समाज सदा गत्यात्मक है। अतएव यह कल्पना करना कि शत-प्रतिशत लोग काम में लगे रहेंगे भ्रान्तिमूलक ही कहा जायगा। श्रम की माँग और उसकी पूर्त्ति में विभेद होने से अथवा उसके स्थानान्तरण से संघर्षणात्मक (Frictional) बेकारी का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। लॉर्ड बेभरीज ने अपनी पुस्तक में पूर्ण रोजी की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि जब जितने बेकार लोग हैं उनसे कहीं अधिक काम खाली पड़े हों तो समझना चाहिये कि पूर्ण रोजी विद्यमान है। आये दिन हम देखते हैं कि पूँजीवादी देशों में अनैच्छिक (Involuntary) बेकारी वर्त्तमान रहती है। उसकी रूप-रेखा यों है—चालू मजदूरी की दर पर, यदि ऐसे लोग हों जो काम करने के लिये तैयार हों तो उनकी बेकारी इस प्रकार की संज्ञा से अभिहित होगी। जब पूर्ण रोजी का साम्राज्य रहता है, इस प्रकार की बेकारी का नाम हम नहीं सुन पाते, भले ही संघर्षणात्मक बेकारी कुछ मात्रा में रहे।

बेकारी के कारण भी भिन्न-भिन्न युग में विविध प्रकार से बताये गये हैं। क्लासिकल अर्थात् शास्त्रीय स्कूल के अनुयायियों का कथन था कि यह उस समय उत्पन्न होती है जब सरकार मुक्त व्यवसाय (Laissez Faire) के नियम का उल्लंघन करके पूर्ण प्रतियोगिता और स्वतंत्र व्यापार को भंग करने लगती है। पीछे चलकर अर्थशास्त्रज्ञ इसे व्यापार-चक्रों की उपज बतलाने लगे। बेकारी की उत्पत्ति का ठीक-ठीक कारण केन्स ने बतलाया। उनके अनुसार यह माँग की कमी, प्रभावोत्पादनहीनता, या अपर्याप्तता का परिणाम है। समाज का समस्त व्यय, जो खपत और पूँजी-योग दो भागों में बँटा है, ऐसा है कि उसके फलस्वरूप सभी काम चाहनेवाले काम नहीं पा सकते। चाहे व्यापारिक तेजी हो या व्यापारिक मन्दी, अनैच्छिक बेकारी का अस्तित्व कायम रहता है। वस्तुओं और सेवाओं की माँग इतनी कम है कि उससे प्रस्तुत उपादानों का उचित उपयोग नहीं हो पाता। केन्स ने अपनी

पुस्तक "General Theory" (१९३६ में प्रकाशित) में बड़े मार्मिक ढंग से बतलाया है कि केवल मजदूरों के कम कर देने से ही बेकार लोग काम नहीं पा सकते और न बेकारी ही दूर हो सकती, क्योंकि भले ही मजदूरी के घटने से रोजी की मात्रा कुछ बढ़ जाय, किन्तु कुल रोजी में कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि मजदूरी घटने से समाज की अपेक्षा कम हो जाती है और औसत मजदूरी पहले की अपेक्षा कम हो जाती है। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि आर्थिक कार्यों के परिमाण और इसकी वजह, रोजी का परिमाण, समाज के कुल व्यय पर निर्भर है। जभी खपत पर आयें खर्च की जायँगी तभी मजदूरों को यथेष्ट रोजी प्राप्त हो सकेगी।

समाज कई आर्थिक वर्गों में विभक्त है। माँग की अपर्याप्तता उस दशा में पैदा होती है जब समाज का एक वर्ग खपत पर अपना व्यय कम करता है तो दूसरा वर्ग खपत पर अपना व्यय बढ़ाता नहीं। आधुनिक समाज में धनी-गरीब के बीच एक गहरी खाई है। धनी लोग जितनी आमदनी अर्जन करते हैं उस अनुपात में खर्च नहीं करते, गरीब लोगों के पास इतनी सम्पत्ति नहीं कि वे काफी खपत कर सकें। इसका फल यह होता है कि पूरे समाज के कुल व्यय में कमी संभूत होती है। व्यय की कमी से माँग की कमी प्रसूत होती है। जब माँग घट जाती है, उत्पादक के उत्पादन और नियोगी तत्त्व बेकार हो जाते हैं। फलतः समाज की कुल आय भी न्यून हो जाती है। मनुष्य के अन्दर तो जबरदस्त वृत्तियाँ काम करती हैं एक वृत्ति है खपत करने की, दूसरी वृत्ति है—संग्रह करने की। एक के अधिक होने पर दूसरी कम होता है। जब लोग समाज के आवश्यक व्यय के दृष्टिकोण से अधिक आमदनी बचाने का प्रयास करते हैं, कुछ माँग, आय और रोजी घट जाती है। यह अनुभव की बात है कि किसी व्यक्ति की आय जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे वह अपनी खपत बढ़ाता है। परन्तु आय की वृद्धि का जो अनुपात है, वह खपत

की वृद्धि के अनुपात से अधिक होता है। यदि संग्रह किया सम्पूर्ण धन आर्थिक कार्यों में प्रवृत्त कर दिया जाय और आय-संग्रह पूँजी-योग के बराबर हो जाय तो समाज की सम्पूर्ण आय ही सम्पूर्ण व्यय के बराबर हो जाय और अनैच्छिक बेकारी के लिये उसमें कोई जगह ही न रहे। यह सर्वविदित बात है कि आमदनी जितनी ही विशेष होती है, बचत भी उतनी ही अधिक। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आयों का विभाजन जितना ही विषम होगा, उतनी ही अधिक किसी आय से समाज को बचत भी होगी। यदि संग्रह करनेवाले ही पूँजी लगानेवाले होते तब तो कोई सवाल ही नहीं उठता। यहाँ तो बात भिन्न ही है। जो धन-संग्रह करनेवाले हैं वे हमेशा पूँजी-योग करनेवाले भी हों, ऐसी बात कतई ग्राह्य नहीं। पूँजी-योग करनेवालों का अपना वर्ग है। वे लोग ऋण लेकर व्यापार में, कार्यों में धन लगाते हैं। ऐसे बहुत कम लोग हैं जो धन जमा भी करते और उसे व्यवसाय में लगाते भी हैं। पूँजी-योग प्रधानतः पूँजी की सीमान्त कार्य-कुशलता और मनुष्यों की अपने पास मुद्रा रखने-वाली प्रवृत्ति, जिसे केन्स "पूँजी की तरलता के लिये विशेष आग्रह" कहते हैं, पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पूँजी लगानेवाले पूँजी-योगगत आशंका, मुनाफे की आशा, सूद की दर, माँग की स्थिति, प्रभृति बातें सोचते हैं। इनका ही विचार करके वे पूँजी-योग के कार्यक्रम बनाते हैं। पूँजी-योग की इच्छा रखनेवाले तो लाभ-वृद्धि से परिचालित होते हैं, परन्तु पूँजी-संग्रहकर्त्ताओं का कार्य कुछ भिन्न ही निश्चयों की देन है, क्योंकि वह तो संग्रह-वृत्ति एवं आय-वितरण तथा आय-स्तर की प्रसूति है। इस तरह दो कोटियों के निश्चयों में काफी विरोध रहता है। वे सभी दशाओं में संतुलित नहीं होते। यदि कभी वे संतुलित भी हो जायँ तो इसका यह मतलब नहीं कि पूर्ण रोजी का स्तर उपलब्ध हो गया। केन्स ने बतलाया कि मन्दी के अनन्तर आर्थिक कार्यों का विकास आरंभ होता है जिससे पूँजी-पतियों और उद्योगों के सूत्रधारों को आशा बँधती है। पूँजी की

सीमान्त कार्य-कुशलता बढ़ जाती है। फिर भी उसके वर्द्धन की एक सीमा है, एक विन्दु है। इस तरह पूँजी की कार्य-कुशलता के घटने-बढ़ने के साथ पूँजी-योग की सतह में भी कमी-बेशी होती है। यदि खपत करने की प्रवृत्ति स्थिर रहे तो पूँजी-योग में बढ़ती होने पर आय में अवश्य वृद्धि होगी। केन्स ने गुणक (Multiplier) का सूत्र प्रतिपादित करके प्रदर्शित किया है कि वह इकाई में से सीमान्त खपत-वृत्ति घटा देनें पर जो अवशिष्ट रहता है उसीका प्रतिरूप (Reciprocal) है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आय-संग्रह और पूँजी-योग की क्रिया जिसपर श्रम की उत्पादनशीलता और देश की सभ्यता अवलम्बित रहती है, बहुत ही चंचल है। वस्तुओं के दो वर्ग हैं :—पूँजीगत और खपतगत। पूँजीगत चीजों से उक्त क्रिया की चंचलता या अस्थिरता और भी बढ़ जाती है। भोक्ताओं की खपतगत चीजों की माँग अपेक्षाकृत कम चंचल होती है। जिस देश में द्वितीय वर्ग की वस्तुओं को प्रधानता रहती है उसकी बेकारी कुछ अधिक सुगमता से विघटित की जा सकती है।

बेकारी का समाधान खोजते हुए केन्स ने पूँजीवाद को अपरिहार्य माना है और इसी आधार पर अपनी छान-बीन आरंभ की है। वे पूँजीवाद की परम्परागत विशिष्टताओं को समझते हैं, जानते हैं। वैयक्तिक स्वातंत्र्य और उत्पादनशील कुशलता की दुहाई देते हैं। फिर भी वे संयुक्त (Mixed) अर्थ-प्रणाली के हिमायती हैं। वे सरकार के तत्वावधान में ही पूँजीवादी प्रणाली के सुधार और नियमन की स्वीकृति देते हैं। वे कहते हैं कि नाजी जर्मनी और सामजवादी रूस ने बेकारी की भीषण समस्या को हल कर लिया है, परन्तु दोनों राष्ट्रों ने स्वतंत्रता और स्वाभाविक कुशलता की निर्मम हत्या की है—व्यक्तिगत सम्पत्ति, मुनाफा तथा प्रेरणा की तिलांजलि दी गयी है।

भारतवर्ष की बेकारी की अपनी विशेषताएँ हैं। अधिक भारतवासी

कृषि पर निर्भर रहते हैं। इस देश के बहुत भागों में, खासकर देहातों में, मौसिमी बेकारी कृषि के क्षेत्र में पाँच से नव माह तक रहा करती है। यदि सहकारी उद्योग-धंधों (जैसे गृह-उद्योग और दस्तकारी) की स्थापना की जाय तो बहुत ही लाभ पहुँचे। दुर्भिक्ष के होते रहने से भी भारतवर्ष में बेकारी की समस्या इतनी दुखदायी हो गई है। कल-कारखानों की जो उन्नति अभी तक हुई है, वह पाश्चात्य देशों की तुलना में कम ही कही जायगी। इसीलिये उनमें काम करनेवाले श्रमिकों की बेकारी उतनी दृष्टिगोचर नहीं। इतना ही नहीं, इनमें से अधिक श्रमिकों का जीवन खेत और देहात से जुड़ा रहता है। विदेशी सरकार की छत्र-छाया में और उससे पहले अँगरेज व्यापारियों के कारनामों से देहातों के गृहोद्योग-धंधे चौपट हो गये, और उनमें लगे रहनेवालों को अभी तक जीवन-निर्वाह का कोई ठोस संबल नहीं मिल पाया है। भारतवर्ष में मध्यवित्त के व्यक्तियों के बीच भी बेकारी परिव्याप्त है। बात यह है कि ये लोग अंगरेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त कर मानसिक श्रम और किरानीगिरी को ही अपना सर्वस्व मानते रहे हैं जिससे उनमें काफी प्रतिद्वन्द्विता फैल चुकी है। उन्हें बेकारी का शिकार होना पड़ रहा है। बेकारी के अस्तित्व में सामाजिक कारणों का भी हाथ है। भारतवर्ष में जाति-प्रथा, बाल विवाह, संयुक्त परिवार, साम्प्रदायिक विषमता, आदि घृणित चीजें बेकारी को और भी उग्र बना रही हैं। हमारा आर्थिक पिछड़ापन भी कम उत्तरदायी नहीं।

अभीतक भारतव्यापी बेकारी की माप नहीं की गई है। फिर भी श्री विश्वेश्वरैया के अनुसार बेकार व्यक्तियों की संख्या कोई चार करोड़ होगी। कृषि में व्यर्थ जो इतने लोग लग गये हैं उनमें से कुछ को बढ़ते और बढ़ाये जानेवाले उद्योग-धंधों में प्रविष्ट कराया जा सकता है। पाश्चात्य देशों में बेकारी विशेष काल में और अवसर पर पूँजीवादी प्रणाली के अभिशाप के रूप में आती है। परन्तु भारतवर्ष में सदा के लिये बेकार लोगों का एक दल ही पड़ा हुआ है। यह बेकारी व्यापारिक मन्दी में और भी बढ़ जाती है।

भारत में माँग अपर्याप्त और अप्रभावोत्पादक है, यह कहने की बात नहीं। सन् १९३१–३२ में प्रत्येक भारतीय की राष्ट्रीय आय केवल ६२ रु० यह डा० राव ने बतलाई थी। इसीसे हम अनुमान लगा सकते हैं कि हम कितने गरीब हैं। जमीन्दारी की प्रथा से ग्रामों में आर्थिक असमानता बहुत अधिक रही है। पूँजीपतियों की संख्या अन्य उन्नत देशों की दृष्टि से कमजोर है, फिर भी यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उनके कारण वर्ग-वर्ग की आर्थिक विषमता बढ़ी ही है।

विगत महायुद्ध के समय केन्सियन स्कूल के अर्थशास्त्र की लोकप्रियता बढ़ गई, क्योंकि विवृद्ध आर्थिक व्यापारों से लगभग सभी पूँजीवादी देश में पूर्ण रोजी थी। अब उन्हें ह्रास की आशंका है। अतएव वे यह बात सिद्ध करना चाहते हैं कि पूँजीवाद को कार्य-कुशलता और स्वतंत्रता का एकाधिकार प्राप्त है। वे इसे मानने को उत्कट हैं कि रोजी का परिमाण समस्त माँग के परिमाण पर निर्भर है। इसलिये पर्याप्त रोजी की प्राप्ति के लिये माँग बढ़ाने और उसे नियमबद्ध करने का भार वे सरकार के ऊपर सौंपना चाहते हैं।

अब हमें यहाँ विचार कर लेना है कि पूर्ण रोजी की उपलब्ध के प्रधान मार्ग कौन हैं और उनमें से जिस-किस मार्ग का अवलम्बन भारत की बेकारी को मिटाने में किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, रोजी का सीधा-संबंध समाज की आय से है और आय खपत तथा पूँजीयोग पर आधारित है। अतः केन्स के अनुसार पूर्ण रोजी के लिये हमें दो मोर्चों पर लड़ाई लड़नी होगी। वे मोर्चे हैं—खपत और पूँजी-योग के। एक ओर हमें समाज द्वारा खपत पर व्यय की जानेवाली रकम को प्रोत्साहन देना है तो दूसरी ओर पूँजी-योग पर नियंत्रण रखना और उसका समाजीकरण करना है। आज की दुनिया में सरकार पहले की तरह मुक्त व्यवसाय का बाना अपनाये नहीं रह सकती। उसे इन दोनों कार्यों को सम्पन्न करने की भरपूर चेष्टा करनी होगी। कहना नहीं होगा कि सभी सरकारें

समाजीकरण की महत्ता अंगीकार कर अधिकाधिक मात्रा में आर्थिक मामलों में हाथ बँटा रही हैं।

समाज की खपतवाली वृत्ति बढ़ सके, इसके निमित्त सरकार को प्रधानतः तीन कार्य सम्पादित करने पड़ेंगे। वे हैं—धनी लोगों पर अधिकाधिक कर लगाना, आवश्यकतानुसार कर की दर में परिवर्त्तन करना; आयों का पुनर्वितरण करना। पहले कार्य का अभिप्राय आर्थिक असमानता को कम करना है जिससे दरिद्र लोगों को विशेष पैसा मिल सके, जिससे सरकार सार्वजनिक कार्यों को अपने करे और उसके द्वारा दरिद्र वर्गों की कुशलता बढ़ावे, जिससे सरकार दरिद्र लोगों की आवश्यकताओं के उत्पादन में उचित वृद्धि कर सके, आदि। दूसरा कार्य व्यवसाय, आदि में उन्नति तथा ह्रास का रुख देखकर सम्पादित करना होगा। तीसरे कार्य के अनुसार सरकार को मृत्यु-कर, रियासती कर, आदि लगाकर अधिक-से-अधिक आमदनी एकत्र करनी होगी और उसे गरीब लोगों के हित में खर्च करना होगा। हमारी सरकार भी "सामाजिक सुरक्षा" (Social Security) की प्रथा को अपनाने का विचार कर रही है। बरतानिया में तो यह कानून के रूप में १९४८ में ही ग्रहण की जा चुकी है।

पूँजी-योग के क्षेत्र में भी सरकार को सक्रिय भाग लेना पड़ेगा। उसे मुद्रा-बाजार पर अपना अंकुश रखना होगा। उसे व्यवसायियों और पूँजीपतियों की उद्दाम लाभ-वृत्ति कम करनी होगी और उसे राष्ट्रीय हित-चिन्तन की भावना में परिणत करने का प्रयास करना होगा। सरकार को सूद की दर को निर्धारित कर पूँजी-योग को संवृद्ध करना होगा। इतना ही नहीं, उसे समयानुकूल मुद्रा-प्रसार और विदेशी पूँजी का संबल अपनाना होगा। आवश्यक उद्योग-धंधों का राष्ट्रीयकरण करना भी नितान्त अनिवार्य है। हाँ, जहाँ व्यक्तिगत प्रेरणा पूरी सफलता के साथ काम कर सकती है, वहाँ व्यक्तिगत सूत्रधारों को सुविधा देनी होगी कि वे अपने उद्योग-धंधे चला सकें। देश के प्रत्येक जन अपनी बचतें धरती में गाड़कर न रखें, बल्कि

व्यवसाय, आदि में प्रवृत्त करें इसके हेतु राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं को स्थापित करना भी उत्तम ही है जहाँ लोग अपनी बचतें संग्रहीत कर सकें। भारतीय-संघ की सरकार ने भी कुछ प्रधान उद्योगों का राष्ट्रीय-करण कर लिया है। उसने रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर लिया है और सूद की दर तथा मुद्रा बाजार की गतिविधि पर नियंत्रण रखने का संकल्प पहले से ही कर चुकी है, एक औद्योगिक आर्थिक संस्था (Industrial Financial Corporation) की भी नींव डाली जा चुकी है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से पुनर्निमाण और आर्थिक उत्थान के लिये और ऋण लेने की बातचीत जोरों में चल रही है। सरकार इस बात को महसूस करने लगी है कि पूँजीयोग की गतिविधि के निर्धारण करने का निश्चय पूँजीपतियों के ऊपर छोड़ देना कदापि अच्छा नहीं होगा। किसी-न-किसी ढंग पर पूँजी-योग का समाजी-करण करना ही होगा। फिर भी सरकार सामूहिक तौर पर राष्ट्रीयकरण करना इस अवस्था में अच्छा नहीं समझती। केन्स ने भी पूँजीयोग का आंशिक समाजीकरण चाहते हुए भी सामूहिक राष्ट्रीयकरण का समर्थन नहीं किया था। वे संयुक्त अर्थ-प्रणाली के वक्ता थे। वे चाहते थे कि सरकार विविध ढंग से पूँजीपतियों से राय-मशविरा कर उनके उद्योग-धंधों में सहयोग दे, उनपर अंकुश रक्खे। सरकार को आवश्यक रूप से कितने उपादन उद्योग-धंधों में लगाये जायँ और पूँजीपतियों को कितना-मुनाफा दिया जाय तथा श्रमिकों को कितनी मजदूरी मिल सके—इन बातों का निर्णय कर लेना पड़ेगा। समाजी-करण के तत्वों को शांतिपूर्ण ढंग से अपनाना होगा।

सर्वप्रथम कर लगाने की बात लीजिये। केन्स के पहले तक के अर्थशास्त्रवेत्ताओं की यह भ्रान्ति थी कि पूर्ण रोजी की उपलब्धि के लिये यदि सरकार धनिकों पर अधिकाधिक कर लगा-वेगी के इन लोगों की संग्रहात्मक शक्ति न्यून हो जायगी जिससे समाज की न तो पूँजी विकसित हो सकेगी और न उनकी आय ही बढ़ सकेगी। केन्स ने साबित करके बतला दिया कि

यह कथन निर्मूल है। पूँजी का विकास जबतक पूर्ण रोजी की उपलब्धि नहीं हो जाती, अधिक संग्रहात्मक वृत्ति पर निर्भर नहीं करता, प्रत्युत् वह न्यून खपत की वजह से रुकता है। बेकारी की हालत में तो जितना ही अधिक खपत पर व्यय किया जायगा और जितना ही अधिक पूँजी-योग होगा, उतना ही अधिक पूँजी का विकास होगा। आज की दुनिया में पूँजीपतियों और जमींदारों के पास काफी धन जमा है। यदि यह धन खपत और पूँजी-योग की अभिवृद्धि के लिये खर्च किया जाय तो एक ओर तो पूँजी का विकास होगा तथा दूसरी ओर समाज की बेकारी दूर होगी। वर्तमान आर्थिक विषमता अनुचित है और उसके लिये इन साधनों को अपनाना अनिवार्य प्रतीत होता है। जहाँतक भारतवर्ष का सवाल है, हम निस्संकोच ढंग से कह सकते हैं कि यहाँ धनिकों पर जो कर लगाये हैं वे दूसरे देशों में—बारतानिया को ही लीजिये—लगाये करों की अपेक्षा बहुत कम हैं। यहाँ आय-कर की दर ही कम नहीं, बल्कि विलास की सामग्रियों पर जो चुंगी या कर लगाया गया है उसकी दर भी कम है। हाँ, हाल में मृत्यु-कर अर्थात् रियासती-कर लगाने का कानून स्वीकृत कर सरकार ने प्रगतिशील पथ में एक कदम और बढ़ा लिया है। फिर भी यह लिखना ही पड़ता है कि सरकार ने परोक्ष करों की दर तथा सार्वजनिक कार्यों के उपयोग के बदले दिये जानेवाले मूल्यों की दर इतनी कर रक्खी है कि उनसे गरीबों पर अधिक बोझ पड़ गया है। इसलिये सरकार को अपनी कर-नीति में स्वस्थ परिवर्तन करना चाहिये। आजकल भारतीय मुद्रा-बाजार की हालत संतोषजनक नहीं। पूँजीपति सरकार के सुरक्षितपत्र नहीं खरीद रहे हैं। सरकार को सम्मिश्रित साधन द्वारा एक ओर सूद की दर बढ़ाकर पूँजीपतियों को प्रोत्साहित करना होगा, तो दूसरी ओर उनकी उदासीनता पर समाजवादी ढंग से कशाघात करना पड़ेगा क्योंकि सरकार हमेशा उनकी इच्छा पूरी नहीं कर सकती, वह बराबर उनके आगे झुकती नहीं रहेगी।

पूँजी-योग पूँजीपतियों और व्यवसायियों द्वारा भी होता है और सरकार द्वारा भी। अतएव सरकार को प्रथम कोटि के पूँजी-योग को प्रोत्साहित तो करना होगा, दूसरी कोटि के पूँजी-योग को भी अपनाना होगा। सरकार को सामूहिक खपत पर के व्यय को उत्प्रेरित करना है। इसके लिये उसे "घाटे के पत्रक" (Deficit Budget) का प्रश्रय ग्रहण करना होगा। अर्थशास्त्रवेत्ताओं के अनुसार "अवशेषपत्रक" नीति से समाज की आय और रोजी घटती है, संतुलित पत्रक से वे स्थिर होती हैं तथा घाटा पत्रक की नीति से वे उन्मुख और अभिवृद्ध होती हैं। आखिर सरकार किस तरह अपनी आय खर्च करे! सरकार आय को दो प्रकार से खर्च कर सकती है। एक तो वह सार्वजनिक कार्यों को अपना सकती है। इसके मुताबिक वह मार्ग, औषधालय, स्कूल, आदि बनवा सकती है। दूसरे, वह खपत की वृद्धि के लिये आर्थिक सहायताएँ दे सकती है। इसके अनुसार वह मजदूरों को परिवार की दृष्टि से आर्थिक मदद दे सकती है? अथवा उन उद्योग-धंधों को जो आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनकी माँग दरिद्रवर्ग द्वारा बहुत होती है परन्तु जो ह्रासवान हैं उन्हें ऐसी आर्थिक मदद देकर पनपाने का सफल प्रयास कर सकती है। इसके अतिरिक्त वह अपनी आय राष्ट्रीय उद्योग-धंधों की स्थापना और परिचालन में खर्च कर सकती है। परन्तु इस प्रकार के व्यय से समाज की आर्थिक विषमता बहुत कम अंश में दूर हो सकेगी। आर्थिक विषमता का न्यूनीकरण उस हालत में होगा जब सरकार धनिकों से अधिकाधिक कर वसूल करे तथा उनके द्वारा खरीदी जानेवाली विलास, आदि की वस्तुओं पर अधिकाधिक चुंगी लगावे। इससे उनकी संग्रहात्मक वृत्ति घटेगी और समाज की कुल खपत पर व्यय करनेवाली वृत्ति बढ़ेगी। कार्ल मार्क्स ने भी पूँजीवादी प्रणाली के विनाश का एक कारण सर्वहारा की खपत-शक्ति की अपर्याप्तता और फलतः अत्युत्पादन का अस्तित्व बतलाया है। केनूस भी इसी तथ्य को अपने शब्दों में व्यक्त करते हैं। धनिक लोग ऐसे साधन का विरोध करेंगे।

सरकार को अपनी स्थिति के अनुकूल एक साधन पर अधिक जोर, तो दूसरे पर कम जोर देना और दोनों साधनों का यथासंभव सम्मिश्रण करना ही उचित होगा। इससे सामाजिक न्याय भी होगा और पूरी रोजी भी प्राप्त हो सकेगी।

भारतवर्ष अभीतक कृषि-प्रधान देश है और उसकी अर्थ-प्रणाली अनुन्नत ही कही जायगी। जब तक देश पूरी उन्नति और प्रगति नहीं कर लेता तब तक पूर्ण रोजी की उपलब्धि करना दुरूह है। इस विचार से भारतवर्ष को प्रथमतः पूँजी-निर्माण और द्वितीयतः खपत की वृद्धि पर ध्यान देना होगा। यदि उसे खपत पर किये जाने वाले सामूहिक व्यय को कम करना नहीं है तो उसे पूँजी के विकास एवं निर्माण के लिये विदेशी पूँजी का आश्रय ग्रहण करना होगा और यह विदेशी पँजी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से एक निश्चित अवधि के लिये ली जा सकती है। रूस ने भी बेकारी को दूर करने और अपनी आर्थिक उन्नति करने के विचार से पूँजी-निर्माण की प्रधानता अपनी योजना को कार्यान्वित करने के आरम्भ में दी थी। हम भी इसके अनुभव से शिक्षा ले सकते हैं। भारतवर्ष की राष्ट्रीय आय बहुत कम है। अभी उसको बढ़ाना है। इस दृष्टि से कुछ समय के लिये व्यक्ति-व्यक्ति वर्ग-वर्ग की आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयत्न करते समय भी उसी पर खास तौर से जोर नहीं दिया जा सकता है। धनोत्पादन के साथ-साथ यह ध्यान रखना होगा कि उस धन का वितरण न्यायोचित ढंग से और समानतापूर्वक हो। सरकार को अभी सार्वजनिक उद्योग-धंधों की स्थापना और विकास में पूँजी-योग करने पर अधिक ध्यान देना होगा। यहाँ हमें देख लेना होगा कि अभी हमारा देश अति मुद्रा-प्रसार (Inflation) की विभीषिका से उत्पीड़ित है और कहीं ऐसा न हो कि सरकार के इस कार्य से वह और भी अधिक कष्टदायक बन जाय। अर्थशास्त्रियों का कथन है कि पूर्ण रोजी की प्राप्ति के लिये प्रयास करते समय हो सकता है कि देश को उसकी प्राप्ति के पूर्व ही मुद्रा-प्रसार की समस्या से

सहसा जूझना पड़े, क्योंकि श्रमिकों को एक स्थान या कार्य से दूसरे स्थान या कार्य में अदल-बदल करने में उचित शीघ्रता नहीं की जा सकती, और ऐसा करने में उपादानों के अभाव से भी बाधा हो सकती है। दक्ष और कुशल श्रमिकों का भी अभाव उपस्थित हो सकता है। भारत-वर्ष में आज मुद्रा-प्रसार का संकट छाया हुआ है। पूर्ण रोजी की स्थापना के पहले ही यह संकट हमारे समक्ष खड़ा है। हम आगे बढ़ें तो कैसे? इतना ही नहीं, देश में विभिन्न उद्योग-धंधों के लिये दक्ष और कुशल श्रमिकों की कमी है, पूँजीगत (Capital) उपा-दानों के अभाव का कहना ही क्या! इससे यह स्पष्ट है कि सरकार ऐसी स्थिति में उत्साहपूर्वक और गति के साथ मनोनुकूल और पूर्ण रोजी की प्राप्ति के लिये आवश्यक उद्योग-धंधों में व्यय करने से असमर्थ सी है। हाँ, यदि मजदूरी और दाम स्थिर रहे तो वह कुछ उद्योग धंधों की स्थापना और उनका विकास अवश्यमेव कर सकती है, करना चाहिये। भारतीय संघ की सरकार ने जिन उद्योग-धंधों को राष्ट्रीय घोषित कर दिया है, उनके सम्बन्ध में वह अपनी नीति भी कार्यान्वित कर रही है। मजदूरी और दाम के स्थिर रहने से यह मतलब निकालना असंगत है कि श्रमिकों की उत्पादनशीलता बढ़ने पर भी सरकार को मजदूरी की दर नहीं बढ़ानी चाहिये। भारत की आर्थिक-शक्ति का भविष्य सुनहला है, केवल सरकार को सक्रिय होना है।

द्वाविंशति अध्याय

मजदूरों का नियंत्रण और सम्मिलित नियंत्रण

(Workers' Control and Joint Control)

मजदूरों की आर्थिक दशा के प्रश्न के कई रूप हैं—मजदूरों और उनके स्वामियों के बीच कभी-कभी संघर्ष उठ खड़ा होता है, उनमें से अधिकांश गरीब रहते हैं, मशीनों का दिनोंदिन विकास होता जा रहा है जिससे मजदूरों की परवशता बढ़ती जा रही है, मानवीय आत्माओं की गर्मी का ढीला पड़ना, वैज्ञानिक प्रबन्धन का अभ्युदय, मजदूरों का अपने वास्तविक स्वामियों से दूर पड़ जाना और मैनेजरों द्वारा शासित होना नियंत्रण में समन्वय लेकिन श्रम में विभाजन का होना—ये ऐसे प्रश्न हैं जो भोक्ताओं को संगठन, सामूहिकवाद या साम्यवाद द्वारा हल नहीं किये जा सकते। कितने लोग तो कार-खाने और मशीन को विध्वंस कर देने की सलाह देते हैं। दूसरे अपना एक सुझाव देते हैं। उसका ध्येय मजदूरों के ऊपर के नियंत्रण को मजदूरों के स्व-शासन के साथ समन्वित करना है। फ्रांस और इंगलैंड के पुराने समाजवादियों ने इस तरह का विचार बहुत पहले प्रकाशित किया था। वर्तमान शदी की द्वितीय तथा तृतीय दशाब्दी में स्व-शासित वर्कशॉपों और संस्थाओं के लिये स्कीमें तैयार की गई थीं। ये सभी स्कीमें सामूहिकवाद में मिल गईं। १९१७-१९२० के बीच बड़ा अनर्थ पैदा हुआ। लेकिन बाद में इनका प्रभाव ठंढा पड़ गया। इन योजनाओं के नेताओं ने महसूस किया कि न तो उपभोक्ताओं पर विश्वास किया जा सकता है और न सरकार पर ही। अतएव केवल मजदूर ही अपना शासन खुद करें।

१९३०--३९ के बीच सहयोगवाद की बड़ी धूम रही। उसीने "मजदूरों द्वारा नियंत्रण" प्रश्न का जन्म दिया। उन दिनों मजदूरों

की समितियाँ (Workers' Societies) कायम की गई थीं लेकिन उनका जीवन-काल सीमित रहा। बाद में उनका पुनरुत्थान भी हुआ। ग्रेट-ब्रिटेन में ६० के आस-पास में मजदूर-समितियाँ होंगी। उनका आधिपत्य और शासन मजदूरों के हाथ में है। लेकिन उत्पादक-समितियों की कुछ त्रुटियाँ हैं– (१) दैनिक आवश्यकताओं और व्यवसाय के प्रसारण के लिये अपेक्षित पूँजी को प्राप्त करने में कठिनाई है (२) बाजारों पर अधिकार जमाने और उन्हें वश में किये रखने में भी दिक्कत है (३) शासन में भी कठिनाई होती है। मजदूर अपने ही साथी को मैनेजर बनने या अधिक वेतन पाने के लिये कभी-कभी वोट देने से हिचकते हैं। यदा-कदा वे अपने ही साथियों को पूरा अधिकार नहीं देना चाहते और न अपने साथियों द्वारा दिये आदेशों का अक्षरशः पालन करना चाहते। इसका यही नतीजा हुआ है कि ये समितियाँ अपने प्रारंभिक नियमों का पालन नहीं कर सकी हैं। कारखाने के बाहर के व्यक्ति भी उनके सदस्य बन गये हैं और उनमें पूँजी जमा की है। कारखाने के कुछ मालिक भी उनके सदस्य नहीं। फिर भी शासन-परिषद् में मजदूरों का ही बहुमत रहता है।

इस तरह हम देखते हैं कि उत्पादकों की सहयोग समितियाँ (Producers' Co-operation) ने न तो उद्योग को ही आन्दोलित किया है और न निकट भविष्य में ऐसी आशा ही की जा सकती है। पूँजीवाद और समाजवाद ने इन हुनर-समितियों (craft-societies) को खत्मकर दिया है। फिर भी अपने संकुचित क्षेत्र में उनमें अपूर्व जीवन गति और अपनी परीक्षण मान्यता है।

व्यापार के पतन और बेकारी के कारण मजदूर-वर्गों के कष्ट बढ़ जाते हैं। उद्योग में उनकी जोखिम ज्यादा होती है। अच्छी ट्रेनिङ्ग पाये और शरीर से खूब मजबूत मजदूर अपने फर्मों को छोड़कर दूसरे में जा सकते हैं जहाँ उन्हें अधिक मजदूरी मिल सकती है लेकिन ऐसा संभव है कि ये नये फर्म उनकी भलाई बढ़ाने या ट्रेनिङ्ग प्राप्त करने

का कोई सुविधा न देते हों और जब उनकी श्रम-शक्ति घटने लगे तब उन्हें बर्खास्त कर सकते हैं।

मजदूरों की शिकायतों और मुसीबतों को दूर करने के लिये बराबर कोई-न-कोई कोशिश होती रही है। एक बार व्यापार-संघ (Trade-Boards) बने जिनका उद्देश्य शोषण से मजदूरों की रक्षा करना, काम करने के घंटों को सीमित करना, काम करने की अवस्थाओं के दर्जे का निश्चित करना, व्यापार-संघों को सरकारी बनवाना था जिससे मजदूरों की मोल-मोलाई की शक्ति बढ़ सके।

सिन्डीकलिज्म और गिल्ड सोश्लिज्म के आन्दोलन से इस विचार-धारा को प्रेरणा मिली कि जो किसी उद्योग में काम करते हैं वे ही उसका नियन्त्रण करें।

सिन्डीकलिज्म का जन्म प्रथम महायुद्ध के कुछ वर्षों पूर्व हुआ था। फ्रांस में उस समय मजदूरों की समितियाँ थीं। ये ही समितियाँ सिन्डीकलिज्म के पूर्व रूपक (Prototypes) थीं। फ्रांस में छोटे पैमाने के बिखरे उद्योगों को प्रधानता रही है। इंगलैंड में राष्ट्रीय व्यापार-संगठनों (Trade-unions) का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ। सिन्डीकलिज्म का मौलिक ध्येय था:—प्रत्येक कसबे के प्रत्येक व्यापार के मजदूरों के संगठन को उत्पादन के साधनों के नियंत्रण को हस्तगत कर लेना चाहिये। लेकिन मजदूरों के सामान्य हित को कोई भी संगठन विस्मृत नहीं कर सकता। व्यापार-संगठनों के बीच संबंध स्थापित करने के लिये एक संघात्मक मंडल का निर्माण होगा। केन्द्रीय Boure du Travail (अर्थात् व्यापार-संगठन सामान्य नियन्त्रणमात्र करेगा और विभिन्न व्यापार समितियों के दावों को जब वे आपस में उलझें तब समन्वित करेगा। इस तरह केन्द्रीय व्यापार-संगठन उभयनिष्ठ कौंसिल या शोध-गृह (क्लियरींङ्ग हाउस) का कार्य सम्पन्न करेगा। इसका ढाँचा इंगलिश ट्रेड कौंसिल की भाँति था। मजदूरों के द्वारा नियंत्रण का जो विधान था उसमें सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं रहेगा। भोक्ताओं के स्वार्थ उत्पादकों के

स्वार्थों से साम्य रखते हैं। उनकी रक्षा सिन्डीकलिज्म द्वारा हो सकेगी।

सिन्डीकलिज्म (Syndicalism)

राज्य के कार्यों के प्रति विचार प्रगट करनेवाले ये दो "वाद" हैं—सिन्डीकलिज्म और गील्ड सोस्लीज्म। "सिन्डीकलिज्म" की शुरूआत फ्रांस के मजदूर आन्दोलन से हुई। यह सिन्डीकेट" शब्द से निकला है जिसका मानी मजदूर-संघ होता है। यह अचानक आन्दोलन का फल है। इसका दर्शन पीछे निकला। इसके प्रधान वक्ता चार दार्शनिक थे—भिभियानो, ब्रायन्ड, पेल्यूटियर और सोरेल। सोरेल ने बेसमझ और आन्तरिक आवेग (Irrationalism and Intuition) की प्रधानता बताई है। इन्हीं के चलते प्राचीन संस्थाओं की पैदाइश हुई है। सोरेल ने सामाजिक माया-ढोंग (Social Myth) को बहुत जरूरी बतलाया है। इस तरह के ढोंग से आम जनता में वैसी ही उत्तेजना और जोश भर जा सकता है जिस तरह ईसामसीह के पुनरागमन की बात सुनकर उस समय के लोगों में भर गया था। सोरेलने राजनीति और दर्शन दोनों को समाविष्ट करके आध्यात्मिकता का संस्पर्श लगा दिया है।

सिन्डीकलिज्म मजदूरों के हाथ में मिल-कारखानों की देख-रेख सौंपना चाहता है। वह 'बहुमत द्वारा शासन' की बात को बुर्जुआ का अन्ध-विश्वास बतलाया है। उसकी नजर में व्यवस्थापिका सभात्मक मशीनरी दोषपूर्ण है। उससे किसी का उपकार नहीं होने का। सरकार (राज्य भी) समाज के एक वर्ग के हाथ की कठपुतली है जिससे केवल उसीका हित-साधन होता है। सिन्डीकलिज्म "प्रत्यक्ष कार्यवाही" (Direct Action) करना चाहता है। हड़ताल, असहयोग और तोड़-फोड़—इस साधन के तीन तत्त्व हैं। इनसे पूँजीवाद दुर्बल हो जायगा और राजकोय नियंत्रण मजदूरों के द्वारा होगा। हिंसा करना सिन्डीकलिस्ट नहीं चाहते। इसे वे बर्जुआ का साधन मानते हैं।

सिन्डीकलिज्म का समाज व्यापार-संघों के आधार पर बनेगा। व्यापार-संघ सिन्डीकेटों की ओर सिन्डीकेट बर्सडे ट्रवेल की सृष्टि करेंगे। इस समाज में मजदूरों की दशा सुधर जायेगी। उनका चरित्र उन्नत होगा। हड़तालों से उन्हें शिक्षा मिलेगी, उनमें चैतन्य का उद्भास होगा। उनसे नेतृत्व और संगठन की वृद्धि होगी। इससे एकता का भाव बढ़ेगा। इससे समस्याओं का स्पष्टीकरण होगा। व्यापार-संघों से स्वतंत्रता और क्षमता बढ़ेगी और काम में मजदूरों की व्यक्तिगत रुचि पैदा होगी, उनमें गर्व का भाव भरेगा। इससे उत्पादन के गुण और परिमाण दोनों बढ़ेंगे।

पुराने सिन्डीकलिज्म के अनुसार राज्य से सामाजिक एकता भंग होती है। इसलिये राज्य का उन्मूलन होना चाहिये। आजकल का सिन्डीकलिज्म राज्य को अनिवार्य समझता है परन्तु वह उसके नाम को बदल देना चाहता है। वह उसको "Common Spokesman" कहता है। इसके साथ वह राज्य के कार्यों में परिष्कार करना चाहता है।

साम्यवाद और सिन्डीकलिज्म के बीच कई बातों में समानताएँ पाई जाती हैं। दोनों मजदूरों की आत्म-पूर्णता के लिये व्यग्र हैं। दोनों का विश्वास वर्ग-संघर्ष में है। दोनों की नजर में पूँजी चुराई सम्पत्ति है। दोनों सामाजिक आधिपत्य तथा शासन पसन्द करते हैं। दोनों राज्य को किसी खास वर्ग के विचारों का प्रतीक और खिलौना मानते हैं। फिर भी दोनों में कई बातों को लेकर फर्क है। सिन्डीकलिज्म मार्क्स के आर्थिक और राजनैतिक नियतिवाद को नहीं मानता। वह समाजवादियों की तरह हिंसा में विश्वास नहीं करता और उनसे भिन्न, प्रत्यक्ष कार्यवाही को फलोत्पादक मानता है। वह प्रूढो के प्रति ऋणी है, मार्क्स के प्रति नहीं। मार्क्स की आँखें भूतकाल की ओर थीं, भविष्य की ओर नहीं। मार्क्सवाद का कहना_कि दल में एकता की भावना स्थापित रखनेवाली वस्तु सिद्धान्त या विचार होता है गलत है। सिन्डीकलिज्म के अनुसार वह वस्तु दिलचस्पी

है। हाल में उसकी नजर में राजनैतिक दलों और प्रजातंत्र के दूसरे साधन भी उपयोगी प्रतीत होने लगे हैं। फेबियनवाद के आगे सिन्डीकलिज्म का प्रभाव इंगलैंड में बहुत ही कम हो गया है।

सिन्डीकलिज्म राजकीय समाजवाद से भिन्न है। यह सरकार की सहायता को ठुकरा देता है। सरकार उसकी दृष्टि में पूँजीवादी संस्था है। सिन्डीकलिज्म और ट्रेड यूनियन समान संस्थाएँ हैं। दोनों मजदूरों के बीच चैतन्य अथवा जागरण पैदा करना चाहते हैं, उन्हें संगठित करना चाहते हैं।

बाद के वर्षों में व्यापार-संगठनों ने सिन्डीकलिज्म के सिद्धान्तों को अपना लिया। राष्ट्रीय पैमाने पर कोई ऐसी स्पष्ट संस्था नहीं थी जो भोक्ताओं के स्वार्थों की रक्षा करती। इन व्यापार-संगठनों ने उत्पादकों की दृष्टि से उद्योगों का पुनर्संगठन करना चाहा। मजदूरों के विशाल और स्वतंत्र ट्रस्टों के निर्माण की बात चली। "खान खनकों के लिये", "रेलवे रेलवे में काम करने वालों के लिये", (और "कुड़ाकरकट की गाड़ियाँ कुड़ाकरकटवालों के लिये" !) के नारे बुलन्द हुये। मजदूरों को अपने कार्यों के परिणामों की सोच-फिक्र नहीं करनी चाहिये। उन्हें नहीं सोचना चाहिये कि किस प्रकार की सरकार इन कार्यों के प्रतिफल बनेगी। उन्हें केवल अपने सिद्धान्तों का अमल करना चाहिये। इसके लिये सामूहिक हड़ताल भी करनी पड़े तो कोई हर्ज नहीं, उन्हें इसके लिये तैयार रहना चाहिये। हड़ताल होने पर आमजनता का ध्यान भी मजदूरों के साथ खिंच जायगा।

आगे चलकर सिन्डीकलिज्म का तिरोभाव शुरू हो गया। व्यापार-संगठन मजदूर-वर्ग के रक्षक (Bulwark) न रहकर सरकार की काली करतूतों में शरीक हो गये।

सोवियट रूस के समाजवादियों ने सोवियटिज्म का प्रचार किया। इनलोगों ने राष्ट्रीयकरण की नीति का समर्थन किया। यह राष्ट्रीयकरण उद्योगों और भूमि सबका होगा। सोवियटिज्म की नीति है कि प्रत्येक कारखाने की अपनी एक समिति रहनी चाहिये। उसके

अधिकार बहुत से होंगे। स्थानीय सोवियट की स्थापना देशीय आधार पर हुई है, औद्योगिक आधार पर नहीं। लेकिन इस तरह की नीति अधिक काल तक टिक नहीं सकी। शासन के विकेन्द्रीय-करण की जगह घोर केन्द्रीयकरण का प्रावल्य रहा। मॉस्को अधिकारों का निधान बन गया। केन्द्रित व्यापार-संगठन की आवश्यकता ने मजदूरों के स्वतंत्र दलों का प्रभाव कम कर दिया।

सोवियटिज्म के तत्वावधान में उद्योग का जो बोल्शेविक संगठन हुआ उसकी रूप-रेखा इस प्रकार की थी—प्रत्येक व्यापार के ऊपर एक सशक्त निर्देशक मंडल (Directive Body) बनाया गया था। इस Central कहा गया। इस मंडल के नीचे स्थानीय ट्रस्टों का एक झुंड (Ring) था। फिर इन ट्रस्टों के नीचे कारखाने थे। प्रत्येक कारखाने में दो संचालक या डाइरेक्टर Central द्वारा नियुक्त किये जाते थे। एक डाइरेक्टर टेकनिकल विषयों और दूसरा डाइरेक्टर एडमिनिस्ट्रेटिभ—शासन-संबंधी—बातों की देखभाल के लिए रखा गया था। एडमिनिस्ट्रेटिभ डाइरेक्टर को सहायता के लिये एक एडमिनिस्ट्रेटिभ कौंसिल की स्थापना हुई थी। इस कौंसिल में मजदूरों, किरानियों, उत्तरदायी अफसरों, व्यापार-संगठन, स्थानीय सोवियट, स्थानीय किसानों के सोवियट, स्थानीय सहयोग-समितियों के प्रतिनिधि मनोनीत हुये थे। प्रत्येक कारखाने में मजदूरों की अपनी कमिटी थी। यह टेकनिकल डाइरेक्टर के खिलाफ अपील कर सकती थी।

व्यावहारिक जीवन में काम करने वाले केन्द्रीय और स्थानीय ट्रस्टों की बनावट की गुत्थियों को सुलझाना कठिन है। लेकिन एक बात स्पष्ट है। वह यह है कि सिन्डीकलिज्म और सोवियटिज्म की जगह ट्रेडयूनियन आन्दोलन ने ले ली है।

गिल्ड सोस्लिज्म से भी मजदूरों के नियंत्रण से संबंधित आन्दोलन को प्रश्रय मिला। यह भी Self-Government in

industry का हिमायती था। सामूहिकवाद—कलेक्टिविज्म—में राष्ट्रीयकृत उद्योगों को सिविल सर्विस के हाथों में सौंपा जाता है। गिल्ड सोशलिज्म में प्रत्येक उद्योग और प्रत्येक फर्म को अपना एक संगठन देने का सिद्धान्त रहता है। संगठन (Functional) आधार पर बनाया जाता है। गिल्ड समाजवादियों ने उत्पादन के साधनों के स्वामित्व को राज्य के प्रत्येक उद्योग में सुपुर्द करने का विचार किया। वर्कशॉप कमिटियों के द्वारा उद्योग का नियंत्रण हो और उन कमिटियों में जिला और राष्ट्रीय कौंसिलों के मजदूर-प्रतिनिधि रहें।

गिल्ड सोशलिज्म के कई रूप हैं। इसके अन्दर सरकार को भी अपने विचार प्रगट करने का हक है। सरकार अपने प्रतिनिधि गिल्डों के राष्ट्रीय नि ंत्रणकर्त्ता मंडलों (National Controlling Bodies) के पास भेज सकती है। भोक्ताओं के हितों का भी प्रकाशन उनमें हो सकता है। गिल्ड सोशलिज्म में "मजदूर" शब्द का अर्थ व्यापक है और उसमें टेकनिकल, मैनेजेरियल और एडमिनिस्ट्रेटिव दल भी सम्मिलित हैं।

गिल्ड सोशलिज्म मोटामोटी तौर से पूँजीवाद और प्राचीन ट्रेड यूनियनिज्म का सम्मिश्रित रूप है। गिल्ड सोशलिज्म सामूहिकवाद (Collectivism or Socialism) और सिन्डीकलिज्म के मध्य का सिद्धान्त है। इसमें वे थोड़े विद्वान् लोग सम्मिलित रहे हैं जो मजदूरों के आन्दोलन के साथ काम करते रहे हैं जिससे वे उसके प्रभावशाली व्यक्तियों को अपनी ओर मिला सकें। उनका मतलब आम जनता के सहयोग को प्राप्त करना कभी भी नहीं रहा है। गिल्ड सोशलिज्म पूँजीवादी समाज में विद्यमान मजदूरी की प्रणाली की कटु आलोचना करता है। इसका विश्वास है कि उत्पादन में वृद्धि करना असंभव है क्योंकि मजदूरों का इस कार्य में न तो नैतिक आग्रह है और न मनोवैज्ञानिक अभिरुचि। मजदूर उसी तरह बिकता है जिस तरह बनिया का मक्खन! यह एक पाशविक पद्धति है। मजदूरों में

कलात्मकता का पुटपाक करना चाहिये। इसके लिये यह मजदूरों में संगठन का भाव पैदा करना चाहता है। समाज का निर्माण कार्यों के आधार पर होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को उतने वोट देने का हक मिलना चाहिये जितने उसके स्वार्थ (Interests) हैं। यदि कोई व्यापारी और मजदूर दोनों है तो उसको दो वोट देने का हक मिलना चाहिये। मजदूरों को पर्याप्त मजदूरी देनी चाहिये। गिल्ड सोश्लिज्म द्वारा आयोजित समाज का आधार गिल्ड होंगे। गिल्ड में मानसिक तथा शारीरिक श्रम करनेवाले व्यक्ति सदस्य हो सकेंगे। गिल्ड उद्योग के हित की रक्षा करेंगे। सबको सामाजिक हित को पहले और व्यक्तिगत हित को पीछे रखना होगा। भोक्ताओं और उत्पादकों की भलाई करने के लिये दोनों के पृथक-पृथक संघ रहेंगे।

गिल्ड सोश्लिज्म के अनुसार वर्तमान राज्य और उसकी सरकार समाज में सुधार के काम करने के सर्वथा अयोग्य है। परन्तु गिल्ड सोश्लिस्ट सरकार को कायम रखना चाहते हैं। सरकार केन्द्रीय संस्था का काम करेगी। वे बहुसत्तावादी होते हुये भी समुदायों के एकीकरण का भार सरकार पर डालते हैं। सरकार राष्ट्रीय गिल्ड द्वारा बनेगी। राष्ट्रीय गिल्ड स्थानीय गिल्डों का केन्द्रीय गिल्ड होगा। सच पूछिये तो राज्य के प्रति गिल्ड सोश्लिस्टों की धारणा स्पष्ट और दृढ़ नहीं है। बारकर ने बहुत ठीक लिखा है "ये लोग राज्य को सरकार के साथ सामने के दरवाजे से निकाल फेंकते हैं परन्तु पीछे के दरवाजे से उन दोनों को बुला लेते हैं।" फिर भी कोल का विचार सबसे ज्यादा स्पष्ट है। वे राज्य के सभी गिल्डों के ऊपर प्रस्थापित करना चाहते हैं। राज्य को उत्पादन की दशाओं के ऊपर नियंत्रण रखना होगा। उसके हाथों में उत्पादन के साधन होंगे। वही कीमतों का निर्धारण कर सकेगा। आमदनी का भी वितरण उसी के द्वारा होगा।

गिल्ड सोश्लिज्म इंगलैंड की राजनीति में एक घटना-मात्र रहा है। यह फेबियनवाद के प्रतिकूल शुरू हुआ। फेबियन राज्य की प्रधानता को बहुत बढ़ा रहे थे। इसीकी आलोचना करना इसका प्रधान

ध्येय था। परन्तु आज इसका इंगलैंड में अपना कोई अस्तित्व नहीं और वह फेवियनवाद से घुल-मिल गया है।

गिल्ड सोश्लिज्म में कार्य के गुणों और साधनों पर गंभीरता-पूर्वक विचार किया जाता है। ये समस्त व्यापार के लिये उप-योगी होते हैं। प्रत्येक उद्योग को सार्वजनिक सेवा (Public Service) के रूप में देखा जाता है और उसका शासन वे ही लोग करते हैं जो शरीर से मिहनत करते हैं या दिमाग लगाते हैं। गिल्ड सोश्लिजम निरंकुश (व्यूरो क्रैटिक) और जड़ शासन को मिटाना चाहता है। यह सिन्डीकलिज्म के बेढंगे दोषों को प्रत्येक उद्योग के आधिपत्य के अन्तिम अधिकारों को सरकार के हाथों में सौंपकर दूर करना चाहता है

गिल्ड सोश्लिज्म के आन्दोलन का अच्छा प्रभाव पड़ा। इससे मजदूरों को प्रेरणा मिली। उन्हें नियमित रूप से वेतन मिलने, उच्चकोटि की निपुणता और कार्य की गुण-वृद्धि, आदि के आकर्षण प्राप्त हुए। विल्डीङ्ग के व्यापार में इसका प्रयोग किया गया। ऐसे व्यापार में कम पूँजी की जरूरत पड़ती है। आवश्यक चीजों के मिलने और कन्ट्रैक्ट को कार्यान्वित करने में कोई बाधा नहीं होती। सरकार भी मकानों के लिये अधिकाधिक माँग करती है। इस तरह विल्डीङ्ग ट्रेड का भविष्य भी उज्ज्वल ही रहता है। लेकिन मन्दी आने पर इसको गहरा धक्का पहुँचा। भीतरी शासन की गड़बड़ी से भी काफी नुकसान हुआ। १६२१ की मन्दी से गिल्ड सोश्लिज्म की प्रगति अवरुद्ध हो गई। फिर भी समाजवाद से उसका प्रभाव अधिक ही रहा।

मजदूरों का नियंत्रण दो हालतों में अधिक हो सकता है—(१) विनष्ट व्यापारों और कार्यों का पुनरुद्धार हो तथा नए-नए उद्योग-धंधे चलाये जायँ (२) सरकार का हस्तक्षेप व्यक्तिगत उद्योगों में इस तरह से हो कि उससे मजदूरों को कुछ अधिकार मिलता जाय। गिल्ड समाजवादियों का मत है कि सरकार उद्योग के स्वामित्व को

स्वयं ग्रहण कर ले और इसका शासन-भार, एक घोषणा-पत्र के द्वारा, एक राष्ट्रीय या केन्द्रीय गिल्ड को सौंप दे। उस गिल्ड में उस उद्योग के सभी मजदूर सदस्य रहें। इससे उद्योग-धंधे गणतांत्रिक बन सकेंगे।

यदि गिल्ड सोस्लिज्म के आधार पर उद्योगों का संगठन हुआ तो इसका फल होगा कि पूँजीवाद का स्वर्णिम नियम मिथ्या और फिजूल है। पूँजीवाद में पूँजी उधार देनेवाले का स्थान ऊँचा रहता है। उपभोक्ताओं की सहयोग समिति में शेयर होल्डर का बोलबाला जरूर रहता है। सामूहिकवाद में कर देने वाले की तलहीन जेब सरकार के कर्जदाता और किसी जोखिम के बीच बाधक का काम करती है। लेकिन गिल्ड सोस्लिज्म के सिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण उद्योग के खर्च-वर्च को अन्ध और दुर्बल पूँजी (Blind-folded and impotent capital) द्वारा चलाने का प्रयत्न पंगु (Still) साबित हो सकता है। पूँजी शर्मिन्दा हो जाती है। इसको अक्षुण्ण बनाये रखना मुश्किल है। व्यापार में बहुत उलट-फेर और अनिश्चयताएँ होती रहती हैं। मजदूर उद्योग का शासन करेंगे लेकिन पूँजी को कोई क्षति पहुँचेगी उसके जिम्मेवार वे न होंगे। यह गजब बात है। इससे कठिनाई बढ़ जा सकती है। गिल्ड सोस्लिज्म का उद्देश्य मजदूर को चाहे काम करने को मिले या न मिले उसे एक क्रमबद्ध वेतन (Continuous Pay) मिलता रहे इसका प्रबन्ध औद्योगिक धरातल पर करना है। इस तरह के प्रबन्ध से ही बेकारी से छुटकारा मिल सकता है। केन्द्रीय गिल्ड दाम और उत्पादन, भोक्ताओं के अधिकार, आदि पर विचार करेगा। फिर भी गिल्ड सोस्लिज्म को सामूहिकवाद के मौलिक प्रश्नों का समाधान निकालना होगा। आर्थिक मुक्ति के लिये इसके पास कोई सीधा-सपाटा रास्ता नहीं। जहाँ तक सरकार को कर देने की बात है हरएक गिल्ड सरकार को एक ही कर या लगान देगा। भोक्ताओं के हित-पालन के लिये एक कमिटी की स्थापना होगी जो समूचे भोक्ताओं और उत्पादकों (श्रमिकों) का प्रतिनिधित्व

करेगी। वही गिल्ड पर कितना कर लगाया जाय, प्रामाणिक दाम क्या रहें, भोक्ताओं और उत्पादकों के बीच का संघर्ष कैसे मिटे, आदि बातों पर विचार कर अपनी सम्मति देगी। प्रत्येक उद्योग में जो गिल्ड रहेगा वह उस उद्योग के सभी फर्मों के मजदूरों को संगठित कर फ़र्मों में होनेवाले कार्य, अनुशासन, नियुक्ति तरक्की, बख्शिशी, आदि चीजों पर अंकुश रखेगा। गिल्ड सोस्लिज्म के न रहने पर भी आज के प्रगतिशील देशों में इस तरह के कुछ विधान हैं।

सिन्डीकलिज्म, सोवियटिज्म और गिल्ड सोस्लिज्म—तीनों की तीव्र आलोचना हुई। ये तीनों उद्योगों का नियंत्रण मजदूरों के हाथ में निरपेक्षरूप से सौंप देना चाहते हैं। वे उद्योगपतियों और पूँजी-पतियों को सर्वथा ठुकरा देते हैं। यही कारण है कि उनकी व्यावहारिक उपयोगिता परिमित है। यदि पूँजीपति या उत्पादन के साधनों के स्वामी vested interest वाले हैं तो मजदूर भी कम vested interest वाले नहीं। एक vested interst के बदले दूसरे vested interst को रखना कहाँ तक अच्छा है नहीं कहा जा सकता। ये लघु पैमाने पर आधारित वैयक्तिक पूँजीवाद के गुणों को एकदम विस्मृत कर देते हैं। इसीलिये सम्मिलित नियंत्रण का सवाल उठता है।

व्यापार-संगठन अधिक-से-अधिक दो कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं—(१) मजदूरी और कार्य की प्रामाणिक अवस्थाओं को कार्यान्वित करना (२) व्यक्तिगत मजदूरों को जो तकलीफ पहुँचती है उसे कम करना। अब जब क्रान्ति की लपटें शान्त हो चुकी हैं और नये जेरूसेलम के चित्र धूमिल हो चुके हैं बाहरी प्रश्नकर्त्ता पूछते हैं क्या हमारा मतलब मजदूरों के नियंत्रण के प्रति इस अनुदार दृष्टिकोण से नहीं चल सकता, क्या हम पुराने ढंग से सड़क पर फिर से उद्योगरूपी पुराने घोड़े को पूँजी के आसन पर बिठाकर नहीं छोड़ सकते जिससे श्रम पीछे-पीछे भूँकता हुआ जाता रहे ?

इतिहास इस बात का साक्षी है कि बिना उत्तरदायित्व के अधिकार का अनुचित प्रयोग हो सकता है। लेकिन मजदूरों को कुछ-न-कुछ अधि-

कार लेने से एकदम वंचित नहीं किया जा सकता। मान लीजिये मजदूर ऋणात्मक नियंत्रण (Negative Control) के साधन अपनावें। लेकिन ये साधन भयंकर, खर्चीले और दीर्घसूत्री हो सकते हैं। प्रत्यक्ष साधनों से काम सुगमतापूर्वक हो सकता है। यह कहना कि उद्योगपति का शासन निरपेक्ष है गलत है क्योंकि मजदूर उसको हड़ताल करने की धमकी दे अपनी माँग को थोड़ा-बहुत पूरा करा सकते हैं। वे माँग कर सकते हैं कि वे ऐसी हालतों में काम करेंगे, ऐसी हालतों में काम नहीं करेंगे, ऐसे मजदूरों को उनके साथ रहना होगा या नहीं रहना होगा, अमुक मजदूरों या फोरमैन के आधीन वे काम नहीं करेंगे, आदि। चाहे जो कुछ भी हो, यह इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज ऐसे बहुत से मजदूरों का व्यक्तित्व इसलिये विकसित नहीं हो पाता कि उनको शासन में हाथ बँटाने का सुयोग नहीं दिया जाता। मजदूरों के जीवन में आराम और विश्राम, निरापद काम के आश्वासन, आदि का बड़ा महत्त्व होता है। लेकिन ये सब चीजें उस समय तक संभवनहीं हो सकतीं जबतक कोई अति उदार स्वामी ऐसा नहीं करता या जब तक वे खुद इनके लिये प्रबन्ध नहीं करते। मजदूरों के दिल में किसी संगठन की सदस्यता और वोट देने के अधिकार के लिये प्रबल आकांक्षा रहती है। यही कारण है कि बहुत से व्यक्ति पूँजीवाद के ढाँचा को कायम रखते हुये भी मजदूरों को उद्योगों में शासनाधिकार देना चाहते हैं।

अब व्यक्तिगत फर्मों में सम्मिलित नियंत्रण के प्रश्न पर दृष्टिपात किया जाय। इसे Co-partnership कहते हैं। इसके द्वारा किसी फर्म या किसी उद्योग के मजदूरों को उसके शेयर खरीदने की सुविधा दी जाती है। शेयर खरीद कर वे उस फर्म या उद्योग के छोटे-छोटे स्वामी और शासक भी बन जाते हैं। किसी उद्योग के मजदूरों को उसके मुनाफे का एक निश्चित अंश दिया जा सकता है। उस अंश को उन्हें उसी उद्योग में शेयर खरीदकर लगा देना पड़ता है। बाद में उन्हें शेयर के अनुपात में नफा होने पर डिविडेन्ड मिलता है। इसे मुनाफा में

हिस्सा देने (Profit-sharing) की प्रणाली कहते हैं। सबसे पहले इंगलैंड की मेट्रोपोलिटन गैस कम्पनी में यह विधान कार्यान्वित किया गया था। गैस के विक्रय—दाम के आधार पर मजदूरों को मुनाफा पर बोनस Sliding Scale के अनुसार दिया गया था। आगे चलकर मजदूरी के आधारपर बोनस दिया जाने लगा। बोनस देने समय काम करने के गुण-पक्ष पर विचार नहीं किया गया। ५ या ६ प्रतिशत मुनाफा मजदूरों में बाँटा जाता। यह हिस्सा कोई बड़ा नहीं क्योंकि उद्योग में काम करने वाले मजदूरों को बड़ी जोखिमें उठानी पड़ती हैं। पेरिस के Leclair House Painting उद्योग में भी मुनाफा का हिस्सा लगाने का श्रीगणेश हुआ। भारत में भी कुछ उद्योगों में सरकार ने इसका आयोजन किया है।

मजदूरों को शासन—Management—में निम्नलिखित तरीकों से हिस्सा दिया जा सकता है : (१) उन्हें शासन-प्रमंडल में अपने एक या एक से अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया जा सकता है, (२) उन्हें उद्योग का शेयर या स्टॉक दिया जा सकता है जिसके बूते पर वे वोट दे सकते हैं (३) मजदूरों के लिये एक विशिष्ट वर्ग के शेयरों का निर्माण किया जा सकता है और खास दाम पर उनके बीच बाँटा जा सकता है।

लेकिन बहुत वर्षों तक इस प्रकार के ढंग का कोई स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ सका। (१) मजदूरों के प्रतिनिधि या प्रतिनिधियों का शासन-प्रमंडल में न तो कोई बोलवाला ही था और न मजदूरों के ऊपर पूरा हाक-धाक ही। (२) उनके प्रतिनिधि बहुत ही थोड़े रहे हैं। इससे उनका कोई वास्तविक नियंत्रण नहीं रहा है। (३) मजदूरों ने जोखिमों से बचने के लिये अपनी पूँजी को दूसरी जगहों के शेयर खरीदने में लगा दिया है। सम्मिलित नियंत्रण का प्रभाव मजदूरों की भलाई की वृद्धि में ही लक्षित हो सका है—उनके लिये जलपान-गृहों, खेलने-कूदने के मैदान, आराम-घर, वाचनालय, आमोद-प्रमोद के साधन, रेडियो, थियेटर, आदि की व्यवस्था हो सकी है।

वाणिज्य और आर्थिक नीति पर श्रमिकों के प्रतिनिधियों का दबदबा अति तुच्छ रहा है। अनुशासन और टेकनिक विषयक बातों के निर्धारण में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

सम्मिलित नियंत्रण में पूँजीवाद का स्वर्णिम नियम विच्छृङ्खल नहीं होने पाता। यह ठीक है कि डाइरेक्टरों और मैनेजरों का उन्नति करने का उत्साह क्षीण हो जाता है। फिर भी मजदूरों के चाव बढ़ने से उद्योग को फायदा ही पहुँचता है। आधुनिक व्यापार-संघों का समूचा लक्ष्य इसी चाव को बढ़ाता है। सम्मिलित नियंत्रण की सफलता ऐसे उद्योग में सर्वाधिक हो सकती है जिसमें केवल एक ही फर्म सर्वप्रधान हो अर्थात् कोई एकाधिकारी हो। प्रतियोगितारत उद्योग में जिसमें अनेकों फर्म रहते हैं इसकी सफलता की सम्भावना कम रहती है। छोटे उद्योगों या सार्वभौम फर्मों में श्रम-वर्ग की एकता (Solidarity) को बनाये रखना आसान है।

राष्ट्र व्यापी पैमाने पर सम्मिलित नियंत्रण का भी प्रयत्न कुछ देशों में हुआ है। इंगलैंड में १६१६ में ही ह्विटले कमिटी कायम हुई। इसने राष्ट्रीय कौंसिल, जिला कौंसिल और कार्य-कमिटियों की स्थापना के लिये सिफारिश की। इन सब में मालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधि रखे जायँ और ये काम करने की अवस्थाओं, मजदूरों के व्यावहारिक ज्ञान और बुद्धिमानी का अच्छा उपयोग, मशीनरी और संगठन, प्रबन्ध के बारे में उचित प्रश्नों के संबंध में आपस में राय-परामर्श करेंगे। ह्विटले कौंसिलों को मजदूरों और मालिकों के संगठनों को सम्पूटित करना था, प्रस्थापित नहीं। उन्हें उत्पादन और संगठन के प्रश्नों पर विचार प्रगट करने का अधिकार दिया गया। पहले यह अधिकार केवल प्रबन्ध-विभाग का था।

ह्विटले स्कीम कार्यान्वित हुआ था। लेकिन अब इसके बहुत कम चिह्न विद्यमान रह गये हैं। यह जरूर है कि दो महायुद्धों के बीच की अवधि में इस स्कीम के अनुसार सुचारु गति से काम हुआ। मजदूर-

संघ और उद्योगपतियों के संघ दोनों ने मिल-जुलकर मजदूरी और काम करने के घन्टों के बारे में राय-बात की।

सम्मिलित नियंत्रण से दो प्रकार की समस्याओं का समाधान हो सकता है। एक प्रकार की समस्या व्यापार-चक्रों से संबंधित है। व्यापार-चक्रों के कारण मजदूरों की मुसीबतें बढ़ जाती हैं। यह हम शुरू में ही लिख चुके हैं। पूँजीपति मजदूरों की बेकारी का तनिक भी ख्याल नहीं करते। जब मजदूरों का कुछ हाथ शासन में रहेगा तब अपनी मुसीबतों से छुटकारा पाने को कोई-न-कोई उपाय वे जरूर निकालेंगे। दूसरी प्रकार की समस्या मजदूरों को विशिष्ट बुद्धिमत्ता को दमन करने से संबधित है। बहुत-से होनहार मजदूरों को जीवन में उन्नति करने का अवसर नहीं मिल पाता। सम्मिलित नियंत्रण होने पर ऐसे मजदूरों को शिक्षा-दीक्षा की सुविधा मिल सकेगी और वे डाइरेकटर और मैनेजर बनने के लायक बन सकेंगे।

१६३६-४५ के बीच इस क्षेत्र में काफी विकास हुआ। कई देशों में (जिनमें इंगलैंड, अमेरिका, भारत मुख्य हैं) सम्मिलित उत्पादन या कार्य-समितियाँ प्रधान उद्योगों में स्थापित की गई हैं और संगठित मजदूर-वर्गों और उद्योगपतियों के प्रतिनिधि सरकार की केन्द्रीय उत्पादन-कार्यकारिणी और दूसरे स्थानीय उत्पादन-प्रमंडलों के परामर्शदाता बने रहे। युद्ध के बाद भी यही क्रम चल रहा है। युद्धकाल में कुछ समितियों ने अच्छी तरह से काम किया। कुछ समितियाँ पथभ्रष्ट हो गईं और केवल अनुपस्थिति (Absenteeism) या फिजूल बकवास (Talking shop) में पड़ी रहीं और उनके स्वार्थी सदस्य अपना स्वार्थ साधते रहे। बहुत-से उद्योगपतियों ने उत्पादन के संगठन और शासन में किसी किस्म का हस्तक्षेप मजदूरों की तरफ से नहीं होने देना चाहा।

जो कुछ भी हो, इन समितियों को कार्यकारिणी के अधिकार प्राप्त नहीं हैं। अन्तिम सत्ता तो उद्योगपतियों और संचालकों के शासन-प्रमंडल की ही है। मजदूरों के प्रतिनिधि अधिक से अधिक

सुझाव दे सकते हैं। मजदूरों के दावों का ठीक-ठीक सुनने की कोई मशीनरी नहीं।

मजदूरों का अधिकार उद्योग के शासन-प्रबन्धन में उत्तरोत्तर बढ़ता जाता लेकिन इसके मार्ग में एक अड़चन यह है कि लोकमत उसकी ओर उतना सतर्क न होकर एकाधिकारों को उन्मूलित करने की धुन में बहुत व्यस्त है।

त्रयोविंशति अध्याय

(परिशिष्ट)

एकाधिकारों पर कुछ विशेष विचार ❀

(Some Special Reflections on Monopolies)

प्रोफेसर जे० ई० मीड ने अपनी पुस्तक "Economic Analysis and Policy" में पूर्णतया स्पर्द्धाशील आर्थिक प्रणाली की तीन विशेषताएँ बतलाई हैं। वे ये हैं : (१) इस प्रणाली में किसी एक वस्तु का अधिक उत्पादन कर और किसी दूसरी वस्तु का कम उत्पादन करके किसी भी उपभोक्ता को अधिकतर खुशहाल उस समय तक बनाना असंभव होगा जब तक अन्य उपभोक्ताओं को कम खुशहाल (Better off-worse off) नहीं बनाया जाय। यह लाभ दो तथ्यों पर आधारित है : (अ) प्रत्येक उपभोक्ता सम-सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्तानुसार आचरण करता है। (ब) उत्पादन का प्रत्येक साधन उस उद्योग में प्रविष्ट होता है जिसमें उसकी सीमान्त उत्पादकता का मूल्य अधिकतम है। "Allowing for these two facts it would not be possible to improve the position of one consumer without worsening the position of others. This would be possible only if the interest on the cost of movement were less than the increase in the value of the marginal product of the factor due to the move, but these are just the conditions in which the automatic forces of competition will themselves produce the desired movement of factors" (२) उत्पादन चरम (optimal) होगा। वह इस अर्थ

❀इस अध्याय को अष्टम अध्याय के पश्चात पढ़ना अच्छा होगा—लेखक।

में कि दिये हुये उत्पादन-साधनों के परिमाण से यह संभव नहीं होगा कि किसी एक चीज का अधिकतर उत्पादन बिना किसी दूसरी चीज के उत्पादन को न्यूनतर किये हो सके। उत्पादन के साधनों को विभिन्न उद्योगों में सबसे अधिक निपुण समन्वयों (combinations) में प्रवृत्त किया जायगा। इससे उनकी पूर्ण रोजी रहेगी। "Perfect competition will cause the ratio between the marginal products of all factors of production in each industry to be the same" (३) प्रत्येक व्यक्तिगत फर्म सबसे अधिक निपुण विस्तार (efficient size) का होगा। उसका सीमान्त व्यय और औसत व्यय समान होंगे क्योंकि वह चरम या आदर्श (optimum) फर्म बन जाता है। यह इस तरह से संभव होता है कि उत्पादक एक उद्योग से दूसरे उद्योग में प्रस्थान या उसमें नियुक्त होने में पूर्णरूपेण स्वतंत्र हैं। इससे प्रत्येक वस्तु का मूल्य ऑपटिमम साईज के फर्म के औसत उत्पादन-व्यय के बराबर होगा और वह फर्म सारे व्ययों को सधा सकेगा। (इसका विशद विवरण हमने दशम अध्याय के अन्तिम कुछ पृष्ठों में दिया गया है।)

फिर भी मोड ने पूर्ण प्रतियोगिता की त्रुटियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। उन्होंने बतलाया है कि 'लेसेफेयर' पर आधारित आर्थिक प्रणाली में ऐसे कुछ कार्य हैं जो कुछ कारणों से खानगी व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न नहीं किये जा सकते हैं। ये कार्य,—रक्षा, पुलिस और न्याय—व्यवस्था के हैं जिन्हें सरकार करती है। "Individual citizens cannot be left to buy and sell justice in competition"। इन कार्यों को पूरा करने लिये सरकार को प्रजा से रुपया उगाहना पड़ता है। यह न्याय-सम्मत भी है। अन्य आलोचनाएँ ये हैं – (१) ऐसी प्रणाली उन वस्तुओं का उत्पादन ठीक से नहीं कर पाती जो उपभोक्ताओं के लिये सबसे अधिक लाभदायी हैं क्योंकि उपभोक्ता भी समझदारी के रहते भी विभिन्न वस्तुओं में अपनी आमदनी को खर्च करने से चूकते पाये जाते हैं। "This criticism

upon fundamental questions of psychology and politics'। सरकार कई दशाओं में अनेकों उपभोक्ताओं से अच्छा जानती है कि धन का व्यय किन चीजों पर करना चाहिये । वह उनकी अपेक्षा उत्तम निर्णय कर सकती है। ऐसी हालत में राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य प्रतीत होता है। वह कर लगा सकता है, आर्थिक मदद दे सकता है, नशाखोरी बन्द कर सकता है, रैशनिंग चला सकता है, आदि। लेकिन सरकार को सबसे पहले जनता की अनभिज्ञता का निराकरण करना उचित है। उसे सभी बातों में हस्तक्षेप करने का कोई हक नहीं। "Some mechanism analogous in its effect to competitive prices must, therefore be, maintained" (२) दूसरी आलोचना यह है कि किसी खास चीज की एक अधिक इकाई तैयार करने का जो विशेष खर्च समाज को पड़ सकता है वह हमेशा उस खर्च के बराबर नहीं हो सकता है जो किसी खानगी उत्पादक को उसके तैयार करने में पड़ता है। सामाजिक खर्च और व्यक्तिगत खर्च में फर्क पड़ सकता है—एक दूसरे से कम-बेश हो सकता है। ऐसी हालत में सरकार को यह फर्क मिटाने के लिये या तो कर लगाना होगा या आर्थिक सहायता देनी होगी। (३) ऐसी प्रणाली में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं जिससे विभिन्न उपभोक्ताओं के बीच सर्वाधिक अभीष्ट ढंग से आय का वितरण होगा।

जब एकधिकारगत स्थितियों का जोर रहता है तब पूर्ण प्रतियोगिता से जो तीन लाभ होते हैं वे नहीं होने पाते हैं। उत्पादन के साधनों की मुक्तगति बाधित हो जाती है जिससे वे उन व्यवसायों में उत्पादकों द्वारा नहीं लगाये जाते जिनमें उनको भोक्ताओं के हित की दृष्टि से लगना चाहिये। खुद उत्पादन के साधनों को भी उचित पारिश्रमिक नहीं मिल पाता। दूसरा नुकसान यह है कि उत्पादन के साधनों का उद्योग-उद्योग के बीच बँटवारा भी ठीक नहीं रहता। किसी उद्योग में आवश्यकता से अधिक साधन लगाये जाते हैं और किसी में कम।

ऐसा भी होता है कि सम-सीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार किसी उद्योग में जो साधन लगाये जाते हैं उनकी सीमान्त उत्पादकता बराबर नहीं होने पाती। इससे साधनों का सर्वाधिक उपयोग नहीं होने पाता। तीसरा नुकसान यह है कि एकाधिकार विशेष सामर्थ्य (Excess capacity) को पैदा करता है। बहुत-से फर्म किसी उद्योग में रहते हैं। उतने फर्मों की कोई जरूरत नहीं। फलतः व्यक्तिगत फर्म आदर्श विस्तार को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। वे उत्पादन में जो व्यय पड़ता है उसको बिक्री के द्वारा सधा लेते हों लेकिन ऐसा संभव है कि उनमें से प्रत्येक चरम उत्पादन से कम उत्पादन करे। इससे दाम अपेक्षाकृत अधिक रहता है। एकाधिकारगत अवस्था में वस्तु का वैभिन्यकरण (Product-differentition) भी बहुत होता है। भोक्ताओं की तरजीहों को विज्ञापन और प्रचार के द्वारा बेढंगा (Irrational) बना दिया जाता है। इससे उपभोक्ताओं को अपेक्षित बचत नहीं होने पाती। "Monopoly hinders the maximisation of consumers' satisfaction" (Dr. Becham) एकाधिकारी उत्पादन उस बिन्दु के बाद नहीं बढ़ाता है जिस पर सीमान्त-व्यय सीमान्त उपयोगिता से कम है। पूर्ण-प्रतियोगिता में उत्पादन उस हद तक किया जाता है जहाँ सीमान्तव्यय और सीमान्त उपयोगिता बराबर होती है। साथ-ही-साथ जो उत्पादन के साधन लगाये जाते हैं उन्हें उनकी सीमान्त उत्पादकता के मूल्य से कम पारिश्रमिक मिलता है और उद्योग-प्रवर्त्तकों को अपनी सीमान्त उत्पादकता से उतना अधिक पारिश्रमिक मिलता है जितना दूसरे साधनों को नहीं मिलता। भूमि, श्रम और पूंजी का केन्द्रीयकरण कुछ ही फर्मों के बीच होता है। इससे (wastes of monopolistic conditions) पैदा होता है।

एकाधिकार के चलते बाजार में अपूर्णता उपस्थित हो जाती है और प्रत्येक फर्म अपने लिये एक स्वतंत्र बाजार अधिकृत कर लेता है जो प्रतियोगिता से शून्य रहता है और इससे वह अपनी निपुणता

बढ़ाने की एकदम फिक्र नहीं करता। वह एक दूषित वृत (vicious circle) में जीता है।

प्रो० मीड का कथन है कि अगर ऐसा प्रबन्ध किया जाय जिससे फर्मों में प्रवृत्त (hired) उत्पादन के साधनों (भूमि, श्रम और पूँजी) को उनकी पृथक-पृथक उत्पादकता के अनुसार पारिश्रमिक मिले तो एकाधिकारों की शक्ति पर एक प्रतिबन्ध रह सके और उनके स्वामियों को उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर मुनाफा मिल सके।

एकाधिकार के अन्य अवगुणों में ये आते हैं—(१) गलाघोंटी प्रतियोगिता और विज्ञापन पर अनावश्यक खर्च जो मूल्यवान साधनों की बर्बादी है। (२) एक स्थान से दूसरे स्थान में माल ले जाने का अनावश्यक यातायात खर्च (unnecessary expenditure on cross-transport (३) फर्म उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता (specsialise) प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करते इससे भी बर्बादी होती है। (४) उत्पादन का काम सुयोग्य और निपुण फर्म नहीं करने पाते। बहुत-से कमजोर और अक्षम फर्म भी चलते हैं। (५) वस्तुओं का प्रामाणीकरण (Standardisation) नहीं होने पाता। इससे उत्पादन के साधन यथा संभव निपुण नहीं होने पाते। वस्तुओं का उत्पादन-व्यय घटने नहीं पाता। अतएव उनकी कीमतें घटने नहीं पातीं। प्रो० एरिकरोल के शब्दों में—"Many economists have now a very elegant theoretical technique for providing that, in monopoly, price does not necessarily fall to the lowest point compatible with maintenance of production, output does not necessarily expand to the maximum possible, and stability, so far from being strengthed, is undermined"

डा० बेन्हम के अनुसार एकाधिकारी अपने लाभ को पक्षपातपूर्ण

एकाधिकार (Discriminating Monopoly) के द्वारा सर्वाधिक बना सकता है। वह अपनी वस्तु के लिये जो बाजार है उसको कई छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट सकता है और प्रत्येक टुकड़े में वह एक विभिन्न दाम चार्ज करेगा। प्रत्येक बाजार में वह अपने सीमान्त व्यय को सीमान्त आय के बराबर जरूर रखेगा लेकिन बाजार के जिन टुकड़ों में माँग काफी लोचहीन है वहाँ दाम अधिक चार्ज होगा जिससे कीमत भी अधिक होगी। बाजार के जिन टुकड़ों में माँग काफी लोचपूर्ण है वहाँ वह दाम बढ़ाकर उत्पादन भी बढ़ा देगा। लेकिन बाजार के टुकड़े ऐसे हैं कि कम दाम के टुकड़े में से चीज अधिक दामवाले टुकड़े में जाकर बिकती नहीं।

एकाधिकार में देखा जाता है कि कुछ फर्म राय करके दाम और उत्पादन के परिमाण को निर्धारित कर लेते हैं और इस तरह वे प्रतियोगिता की आशंका को दूर करते हैं। "Coll[illegible]ion is important in practice because firms are uncertain of competitor's reactior's and this unncertainty can only be eliminated by reaching formal agreement"। समझौते से अनिश्चयता जाती रहती है। ऐसे गुट को "Gentlemen's Agreement" कहते हैं।

पीछे हम लिख आये हैं कि किन-किन वजहों से समन्वय या सम्मिश्रण (Integration or Combination) होता है। इनमें से अधिकांश वजहों से एकाधिकारों की उत्पत्ति होती है। लेकिन कुछ और भी वजहें हैं। जो उनको पैदा करती हैं। यहाँ हम उनके ही ऊपर थोड़ा-सा लिखेंगे।

कुछ एकाधिकार कानूनी स्वीकृति को (Legal Approval) प्राप्तकर भी पैदा होते हैं। सरकार "पेटेन्ट राईट" देती है। रेलवे कम्पनियों को सरकार की अनुमति ले लेनी होती है तभी वे देश के किसी भाग में खुल सकती हैं। थोड़े एकाधिकार टेकनिकल विचार से भी उत्पन्न होते हैं। काफी पूँजी एकत्र करने या प्रतियोगिता की भयंकरता से

छुटकारा पाने के निमित्त एकाधिकार की सृष्टि अनिवार्य होती है। किसी उद्योग के कुछ फर्म राय-बात कर नये फर्मों को उस उद्योग में प्रवेश नहीं करने देते हैं (प्रवेशावरोध लगा देते हैं)। इंगलैंड में National Shipbuilder's Security Ltd ने शिप-यार्डस को खरीद लिया था और उन्हीं लोगों के हाथ जमीन बेचते जो जहाज न बनाने का प्रण करते। British Iron and Steel Federation ने भी ऐसा ही उपाय किया था। उसने European Steel Cartel के साथ समझौता कर देश में इस्पात के वितरण की एजेन्सी ले ली थी। बिना फेडरेशन की अनुमति के कोई भी नया फर्म नहीं खुल सकता था। व्यापार-निरोध-नीति (Tariff Policy) से भी एकाधिकार की पैदाइश होती है। अगर विदेशी प्रतियोगिता की आशंका है तो किसी देश के अधिकांश फर्म एकाधिकार स्थापित कर समूचे देशीय बाजार पर कब्जा जमा सकते हैं। राशि-पातन (Dumping) की नीति अख्तियार करके कोई देश अपने घरेलू उपभोक्ताओं को ज्यादे दाम पर चीज बेच सकता है और विदेश में उसी चीज को कम दाम पर बेचकर वहाँ के उद्योग को चौपट कर सकता है। कभी-कभी प्राकृतिक कारणों से भी एकाधिकारों की उत्पत्ति होती है। किसी एक जगह (या देश) में कच्चेमाल अधिक पाये जाते हैं और वहाँ उत्पादकों की बन आती है। चिली को शोरा और दक्षिणी अफ्रिका में हीरा की मोनोपली है। वहाँ के उत्पादक शुरू से ही मिल जाते हैं और एकाधिकार का निर्माण करते हैं। लेकिन ऐसे एकाधिकार चिरस्थायी नहीं होते क्योंकि दूसरे देश समकक्ष (प्रतिस्थाप्य) वस्तु या नकली (सिन्थेटिक) वस्तु की खोज में रहते हैं और सफल भी हो जाते हैं। जब परमाणु बम बना तब लोगों का विश्वास था कि केवल कनाडा में यूरेनियम प्राप्य है लेकिन अब तक हम जान गये हैं कि भारत में भी यूरेनियम की खानें हैं और शायद सोवियट रूस को भी उसकी पूर्ति है।

एकाधिकारों के भेद के ऊपर हम पीछे प्रकाश डाल चुके हैं। उन

भेदों को दो व्यापक कोटियों में रखा जा सकता है। एक कोटि में वे भेद आयेंगे जिनकी सत्ता सीमित है और वे सदस्य फर्मों पर एकान्त, निरपेक्ष अधिकार नहीं रखते। दूसरी कोटि में सत्ता लगभग पूर्ण रहती है और जो सदस्य फर्म होते हैं उनपर केन्द्रीय शासन-मंडल का पूरा दबदबा रहता है। डा० बेचम ने स्वतंत्र फर्मों का जो संगठन होता है उसके निम्नलिखित रूप बतलाये हैं। ये पूल और कार्टेल से मिलते-जुलते हैं। वे ये हैं—(१) Gentlemen's Agreement जो विक्रय की शर्तों पर बनता है (२) Voluntary Association of producers—उत्पादन का नियंत्रण करने के लिये इंगलैंड में Rank and Spillers' flour mills, Millers' Mutual Association को प्रभावित करते हैं (३) Voluntary Association of firms—दामों का नियंत्रण करने के लिये Lever Soap Firm U. K. Soap Manufacturers' Association को प्रभावित करता है। लेकिन व्यवहार में उत्पादन और दाम का नियंत्रण पृथक-पृथक नहीं होकर साथ ही साथ होता है। दूसरे और तीसरे प्रकार के एकाधिकारों में कई बातों पर विरोध फर्मों के बीच रहता है। विरोध को कम करने के लिये अब "Sanctions clauses" बनाए गए हैं जो "legally enforceable" हैं। दूसरा उपाय जो विरोध की मात्रा कम करने के लिये काम में लाया जा रहा है वह यह है कि बहुसंख्यक फर्म अल्पसंख्यक फर्मों को अपनी बात या शर्त मनवाने के लिये पार्लियामेन्ट से विधान स्वीकृत कराने के लिये कोशिश करते हैं। इंगलड में १६३८ में रूई के उद्योग में और १६४४ में स्काटलैंड के बोर्ड ऑफ ट्रेड ने कोयला के उद्योग में बहुसंख्यक फर्मों के पक्षों में नियम बनाये हैं। (४) एकाधिकारगत प्रबन्ध का एक दुर्लभ रूप उत्पादकों के बीच का वह समझौता है जिसके मुताबिक वे प्राप्य व्यापार को ठीकाओं (Contracts) द्वारा आपस में बाँटकर करते हैं। "Cast Iron Pipe Association" इसीका एक दृष्टान्त है। इन सभी भेदों को पहली कोटि में मजे से रखा जा सकता है।

दूसर कोटि में होल्डिङ्ग कम्पनी और मर्जर आते हैं। इंगलैंड का Tate and Lyle फर्म Suger-refining उद्योग को पूर्ण रूप से संचालित करता है। कुछ फर्म कभी-कभी मर्जर या होल्डिङ्ग कम्पनी का रूप धारण करके सम्पूर्ण उद्योग को प्रभावित करने लगते हैं— Imperial Chemical Industries रसायन-उद्योग को, Unilever साबुन और नकली मक्खन के उद्योग को, Courtaulds and British Celenese रेयन के उद्योग को, British Aluminium आलुमिनियम के उद्योग को संचालित करता है। इन फर्मों ने अपने छोटे-छोटे प्रतिद्वन्द्वियों को भी अपने में मिला लिया है और बृहत् पैमाने के उत्पादन से मिलनेवाले फायदों को उठाने का ख्याल बराबर उनके दिमाग में रहा है। इस कोटि में कानून द्वारा संरक्षित भी कुछ फर्म आते हैं। उदाहरणार्थ—गैस, बिजली, और पानी की कम्पनियाँ, ब्रिटिश ब्रोडकास्टिङ्ग (आकाश-वाणी!) कॉरपोरेशन, लंदन पैसेन्जर ट्रान्सपोर्ट बोर्ड, आदि। पार्लियामेन्ट ने उपभोक्ताओं के हित-रक्षण के लिये उपयोगी कानून बनाये हैं। फिर भी ये एकाधिकारी संस्थाएँ ही हैं।

एकाधिकार कुछ यत्नों के द्वारा अपनी स्थिति को अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। जहाजी कम्पनियाँ रिबेट (एक प्रकार का कन्सेशन), जो deferred या loyalty हो सकता है, दिया करती हैं। इससे उपभोक्ता उनसे बँधे रहते हैं। इस प्रथा से यह फायदा भी होता है कि व्यापार की राशि स्थिर रहती है और काम किफायती ढंग से होता है। दूसरा यत्न एकान्त एजेन्सी (Exclusive Agency) की पद्धति है। इसके अनुसार सौदागरों से उत्पादक राय-पट्टा कर लेता है कि वह उसका ही सौदा अपने भूभाग या इलाके में बेचेगा, किसी दूसरे उत्पादक का सौदा अपने स्टॉक में नहीं रखेगा। इस पद्धति द्वारा डिलर और एकाधिकारी के बीच नाता जुड़ता है। कभी-कभी वितरणकर्त्ताओं का भी निर्वाचन एकाधिकारी कर लेता है और निर्वाचित वितरणकर्त्ता को ही अपने माल देता है। तीसरा

यत्न कीमत की लड़ाई है। एकाधिकारी कीमत को कम करके दुर्बल उत्पादकों को निकाल बाहर (squeeze out) कर सकता है जिससे उसकी एकाधिकारगत स्थिति ज्यों-की त्यों बनी रहे। जब एकाधिकारी कुछ उत्पादकों को इस ढंग से निष्कासित करता है तब नये उत्पादन भी उसके उद्योग में प्रवेश करने से भय खाते हैं। अमेरिका की Standard Oil Company ने तो इसी यत्न को काम में लाया था। फिर, समर्थ एकाधिकारी उन फर्मों का बायकाट (संबंध-विच्छेद) करते हैं जो उनके द्वारा निर्धारित कीमतों पर नहीं बेचते हैं। इंगलैंड की Imperial Tobacco Company ने एक बार ऐसा ही किया था।

ऊपर जिन यत्नों का उल्लेख किया गया है वे ही सभी यत्न नहीं हैं। संगठित उत्पादक बड़े सूक्ष्म साधनों से नई प्रतियोगिता को दमित कर सकते हैं। किसी देश का कार्टेल किसी अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल से समझौता कर नये उत्पादकों के आगमन को रोक सकता है। एकाधिकारी फर्म उन पूँजीपतियों का कान इच्छुक फर्मों के खिलाफ भर सकता है जो उनकी चीज तैयार करने के लिये उनको मदद चाहते हैं। वे नई वस्तु की झूठी चिन्दी कर सकते हैं, उनके खिलाफ झूठमूठ का प्रोपगंडा कर सकते हैं, उनके प्रोत्साहकों की ईमानदारी के खिलाफ झूठी अफवाह उड़ा सकते हैं।

योजनाकरण के कुछ भाष्यकर्त्ता तर्क देते हैं कि योजनाकरण करते समय एकाधिकारों से मदद मिलेगी, आसानी होगी क्योंकि बहुत फर्मों के बदले जब कुछ एकाधिकारी रहते हैं तब उनकी दाम एवं उत्पादन की नीतियों में बहुत कुछ समानता रहती है और इससे संघटन और सतुलन (Co-ordination) करने में बहुमूल्य सहायता मिलेगी। लेकिन यह तर्क बिलकुल ठीक नहीं है। यह अत्युक्ति मात्र है। योजनाकरण अगर उचित उत्साह के साथ किया जाय तो उसे एकाधिकारों की सहायता की कोई चिन्ता नहीं रहेगी।

जो लोग एकाधिकारों में निपुणता और स्थिरता के गुणों की

प्रचुरता बतलाते हैं वे भी अत्युक्ति करते हैं। पीछे हम एकाधिकारों से होनेवाले लाभों का जिक्र करते समय इन दोनों गुणों के बारे में भी लिख चुके हैं।

प्रो॰ मीड ने एकाधिकारों के नियंत्रण के ढंगों को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया है—(१) Anti-Combination Laws—जिनका ध्येय क्रेताओं या विक्रेताओं के बीच एकाधिकारों के निर्माण को रोकना है। पीगू ने "Clubbing practices" की चर्चा की है। उन्हें रोकना ऐसे नियमों का उद्देश्य है। पीछे (एकाधिकारों का नियंत्रण) हम बतला आये हैं कि किस तरह ये नियम एकाधिकारों की उत्पत्ति को रोकने में असफल हो जाते हैं। सरकार और एकाधिकारियों में कानूनी संघर्ष शुरू हो जाता है। एकाधिकारी अपने व्यवसाय का नाम बदल देते हैं—मानो वह बहुरुपिया (will-o-wisp) हो। अदालती कारवाई में सरकारी वकील की ही हार होती है। यह कारवाई 'ताश के खेल' की तरह बन जाती है। इसीको नजर में रखकर रॉबिन्स ने अपने ग्रन्थ "Monopoly" में लिखा है—'In the struggle of wits between the company-lawyer and the court, the former is one trick ahead and has always one more card to play when the present trick is trumped "। प्रो॰ पीगू इस तरह के कानूनों को "Prevention of Monopolies" की श्रेणी में रखते हैं। (२) Education Measures—इसके द्वारा उपभोक्ताओं की बेतुकी तरजीहों (Irrational Preferences) को हटाने का प्रयास किया जाता है। इससे अजाने अज्ञानता या अनभिज्ञता को दूरकर उत्पादन के साधनों की गति बढ़ाने का भी इन्तजाम इनके द्वारा किया जाता है। (३) Rationalisation—इसके द्वारा कुछ खानगी लेकिन समर्थ फर्मों के हाथों में किसी वस्तु के पूरे उत्पादन का भार सौंपा जाता है। (४) Price control—मूल्यों का नियंत्रण करके एकाधिकारों का नियंत्रण करना। (२), (३) और (४) के अन्दर के साधन

पीगू के अनुसार "Regulation of Monopolies" की श्रेणी में आयेंगे (५) axes and Subsidies—इनके द्वारा एकाधिकारगत उद्योगों के उत्पादन का नियंत्रण किया जायगा। R estoration of Potential competition फर्मों के बीच प्रतियोगिता पनपाकर एकाधिकारों की शक्ति को कम करना। लेकिन अब की परिस्थिति में atomistic competition लाना तो असंभव ही है। (५) और (६) के साधन "Break-up of Monopolies" की श्रेणी में आयेंगे। विल्सन आर्थिक शक्ति की समस्या के आधार पर एकाधिकारों के नियंत्रण का विवेचन करते हैं। प्रो० पीगू और डा० बेवम इन एकाधिकारगत उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का भी सवाल छेड़ते हैं। लेकिन दोनों इस बात को महसूस करते हैं कि एकाधिकारों का राष्ट्रीकरण करना खेल नहीं है। इससे काफी राज-नैतिक और सामाजिक आन्दोलन हो सकता है। आर्थिक संघर्ष भी बढ़ जा सकता है। एकाधिकारी उद्योगों की स्थिर पूँजी का मूल्यांकन करना सहज नहीं। उन्हें कितना मुआवजा देना चाहिये और किस तरह से—नकद या बोन्ड के रूप में—देना चाहिये—ये जटिल प्रश्न हैं जिनपर बड़ी गंभीरता से विचार करना होगा।

एकाधिकारों के बहुत अवगुण हैं। फिर भी उनके गुणों की दुहाई देनेवाले कम अर्थशास्त्री नहीं। प्रो० शुम्पेटर "Socalism, Capi-talism and Democracy" और टॉमस विलसन (Modern Capitalism and Progress) पुस्तक में तो कहते हैं कि पूँजीवाद की जो इतनी उन्नति हुई है वह एकाधिकारी उद्योग और व्यवसाय की बदौलत। एकाधिकार सुस्थिर उत्पादन करने में, दाम की दर को सुस्थिर रखने में, निपुणतापूर्वक काम करने में सफल सिद्ध हुए हैं। फिर, सरकार जब औद्योगीकरण के सिलसिले में रैशनलाइजेशन को कार्यान्वित करेगी तब तो उसे भी बड़े आकार-प्रकार के फर्मों को ही प्रोत्साहित करना होगा। Public Utility Services (octopoid Industries) भी जिनमें सरकार

को "right of eminent domain" है एकाधिकारी उद्योग ही अवश्य होंगे। अतएव सभी प्रकार के एकाधिकारों को उखाड़कर नहीं फेंका जा सकता है। कुछ के लिये सदा जगह रहेगी। डा० बेचम के शब्दोंमें "In considering the control of monopoly we should bear in mind that it is not a thing to be extripated root and branch, but something to be carefully regulated and controlled according to the merits of each particular case"। "Absolute prohibition is undesirable anb probably impracticable" लेकिन हमारे कानों में प्रो० रॉबिन्सन के ये शब्द गूँजते ही रह जाते हैं कि—"Those who seek through "Monopoly" to make the world safe for capitalism are probably doing more than anyone to enesure its ultimate destruction"। एकाधिकार के प्रशंसक छद्मवेष में उसकी कब्र के खन्दक हैं।

चतुर्विंशति अध्याय

उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न

(Problem of Nationalisation of Industries)

उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रवेत्ता अपना-अपना विचार आरंभ से ही देते आये हैं। "स्वर्णिम नियम" शीर्षक अध्याय में हमने प्रो० मार्शल के विचार के ऊपर प्रकाश डाला है। वे उस युग में पैदा हुये थे जब सरकारी हस्तक्षेप को उद्योगों के लिये घातक समझा जाता था। उनकी मृत्यु १९२४ ई० में हुई थी और इसके पहले उन्होंने अपने विचार दिये थे। उन्हें सरकार द्वारा प्राप्त सफलता को देखने का मौका नहीं मिला था। यदि वे जिन्दा रहते तो उन्हें अपने विचारों में काफी परिवर्तन करना पड़ता। मार्शल ने एक जगह ("Trade and Industry" ग्रन्थ) लिखा है "Government intrusion into businesses which require careful invention and fertility of resource is a danger to social progress, the more to be feared because it is insidious"। दूसरी जगह उन्होंने लिखा है "The carcass of municipal electric works belonged to the officials; the genius belonged to free enterprise"। इन दोनों उक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्शल का विश्वास उद्योगों के राष्ट्रीयकरण में एकदम नहीं था। लेकिन वे अपने "Principles" में यह इच्छा प्रकट करते हैं कि सरकार को कर लगाकर या कर-मुक्ति देकर खानगी उद्योगों पर अंकुश रखना चाहिये जिससे उद्योग एकाधिकारी नहीं बन जायँ और उपभोक्ताओं की बचतों को अपहृत नहीं करने लगें।

प्रो० पीगू मार्शल के शिष्य हैं और वे भी शास्त्रीय भावना के ही

पोषक हैं। फिर भी उन्होंने अपने विशाल (magnum opus) ग्रन्थ "Economics of Welfare" में ऐसे कई मार्ग बनाये हैं; जिनका अवलम्बन करके सरकार आर्थिक शक्तियों का नियंत्रण कर सकती है और सामाजिक कल्याण बढ़ा सकती है। एक स्थान में तो वे खानगी उद्योगों के बारे में तीव्र आलोचना भी करते हैं। उनकी शिकायत है कि व्यक्तिगत व्यवसायों का शासन-सूत्र ऐसे उत्तराधिकारियों के हाथों में पड़ जा सकता है जो नालायक हैं, जो पैर में तेल लगाकर सोनेवाले हैं। इससे व्यवसाय चौपट-बर्बाद हो जा सकते हैं और कर्मचारियों को भी साझेदार बनाने की नौबत आ सकती है। इन व्यक्तिगत उद्योगों की तुलना में राष्ट्रीयकरणकृत उद्योग-धंधे ही ही अच्छे होंगे क्योंकि वे इन खतराओं से खाली रहेंगे। पीगू गलाघोंटो प्रतियोगिता को व्यक्तिगत उद्योगों के लिये बहुत ही खतरनाक और समाज के लिये संहारक बतलाते हैं। लेकिन वे भी स्वीकार करते हैं कि गैस, ट्रामवेज, जल, आदि की कम्पनियाँ व्यक्तिगत होते हुए भी भयंकर प्रतियोगिता से बची रह सकती हैं। सार्वजनिक भलाई के उद्योग-धंधे भी उससे मुक्त हो सकते हैं और आपस में मिल-जुलकर काम कर सकते हैं। लेकिन पीगू की सबसे बड़ी शिकायत एकाधिकारों के खिलाफ है। ये पूँजीवाद की सबसे बड़ी दुर्बलता हैं। इनपर सरकार का कड़ा नियंत्रण रहना चाहिये और सरकार उनका राष्ट्रीयकरण भी कर सकती है। पीगू उन लोगों के इस कथन को नहीं मानते कि सरकार के द्वारा चलाये गये उद्योगों में निपुणता का अभाव रहता है और खानगी उद्योगों में उसका प्राचुर्य रहता है। कुछ खानगी उद्योगों में भी निपुणता नहीं रह सकती है या कम रह सकती है। कुछ सरकारी उद्योगों में भी काफी निपुणता रह सकती है। किस उद्योग में निपुणता है, किसमें नहीं है, किसमें कम और किसमें अधिक है, इसका निर्णय तो प्रत्येक उद्योग पर, चाहे वह व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक, अलग-अलग विचार करने पर मालूम होगा। अगर सरकार राष्ट्रीयकरण करके अनिपुण खानगी

उद्योगों की निपुणता संवर्द्धित कर सकती है तो सरकार को उनका राष्ट्रीयकरण करने से नहीं रोका जा सकता।

लार्ड केन्स भी पूँजीवादी प्रणाली के बड़े कटु आलोचक हैं लेकिन उन्होंने अपनी "General Theory" में पूर्ण समाजवाद (State socialism) को मानने से इन्कार कर दिया है। वे मिश्रित प्रणाली (Mixed Economy) के हिमायती हैं वे नहीं चाहते कि पूँजी—योग की राशि को तय करने का अधिकार व्यक्तिगत उद्योग पतियों को दे दिया जाय। सरकार को व्यक्तिगत उद्योगों के साथ सहयोगपूर्वक काम करने की भी गुंजाइश को ढूँढ़ना चाहिये और उसके ऊपर अमल करना चाहिये। सरकार को दो काम अवश्य करना करना चाहिये—(१) उसे कुल उद्योगों में कितनी पूँजी लगाई जाय इसका निर्णय करना चाहिये और देखना चाहिये कि उतनी पूँजी व्यक्तिगत पूँजीपतियों और उद्योगपतियों द्वारा लगाई भी जाती है कि नहीं। (२) उसे इस बात का निर्धारण करना चाहिये कि किस उद्योग के स्वामी को अधिक से अधिक कितना मुनाफा खुद उठाना चाहिये (ceiling-fixing of profits)। खैर,

अब हमें उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में दिये गये तर्कों के ऊपर दृष्टिपात करना है। पहला तर्क तो यह है कि उद्योगों के राष्ट्रीयकरण हो जाने से मजदूरों की शोषण की आशंकाएँ मिट जायेंगी। उन्हें भी उद्योगों के संचालन में नागरिक होने के बूते पर अपनी आवाज को जाहिर करने का हक मिल जायगा। दूसरी बात यह है कि जब सरकार के हाथों में उद्योगों के स्वामित्व एवं नियंत्रण के अधिकार आ जाते हैं तब आर्थिक शक्ति या प्रभुत्व के केन्द्रीयकरण की जो आशंकाएँ हैं वे खत्म हो जायेंगी। तृतीयतः राष्ट्रीय उद्योगों में नियंत्रण के एकीकरण होने से बहुत-से टेकनिकल लाभ होंगे और व्यापक स्तर पर उत्पादन हो सकता है जिससे अनेकों सहूलियतें होंगी। चतुर्थतः उपभोक्ताओं को कोई क्षति होगी भी तो वे उसका विरोध उतना नहीं करेंगे जितना अभी करते हैं क्योंकि वे अपनी

छोटी क्षति को राष्ट्रीय लाभ ही समझेंगे। पाँचवी बात यह है कि उद्योगों के राष्ट्रीयकरण होने से ऐजेंटों का—साधनों का संग्रह भी ठीक तरह से होगा। भविष्य का भी ख्याल रखा जायगा। कुल साधनों को वर्तमान में ही उड़ा-पड़ा नहीं लिया जायगा। फिर, लघु अवधि में जो नुकसान सरकारी उद्योगों को होगा उससे वे वैसा विचलित नहीं होंगे जैसा कि व्यक्तिगत उद्योगपति होते हैं क्योंकि वे आरंभ से ही मुनाफा चाहते हैं और घटी से कोसों दूर भागते हैं। इतना ही नहीं, सरकार कम पारिश्रमिक पर ही सुगमता और शीघ्रता के साथ काफी कुशल व्यक्तियोंकी सेवाओं को मोल ले सकती है। वह उनमें निरापद्ता (Security) का भाव भी भर सकती है और उनके दिल में सार्वजनिक सेवा की पुनीत भावना भी उभाड़ सकती है। आठवाँ तर्क यह है कि सरकार राष्ट्रीय उद्योगों से जनित सामाजिक लागतों के ऊपर भी ख्याल करेगी और उनके अनुसार उद्योगों को स्थिति, नये शहरों के विकास, आराम की संस्थाओं की स्थापना आदि पर विचार करेगी और आचरण करेगी। नवीं बात—सरकार उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके पूर्ण रोजी और आर्थिक सुदृढ़ता स्थापित करने के लिये जो तोड़ प्रयास करेगी और इस कार्य में उसे विशेष सफलता भी मिल सकती है। अन्त में यह भी कहा जाता है कि राष्ट्रीय और सार्वजनिक उद्योग-धंधों में कारपोरेशनों या बोर्डों द्वारा शासन चलता है जो अपने रूटीन-गत कार्य में काफी स्वतंत्र रहते हैं। इसलिए अच्छे लोग उनमें नियुक्त भी हो पाते हैं इनमें खानगी उद्योगों की लोच (Flexibility) भी रहती है, प्रेरणा (initiative), अदम्य योजनाकरण (bold planning) और निर्णय में स्फूर्ति (Speed of decision) भी रहता है, तथा केन्द्रित सार्वजनिक स्वामित्व का भी लाभ साथ-ही-साथ मिलता रहता है।

उपर्युक्त परिच्छेद में हम उन तर्कों के ऊपर विचार कर आये हैं जो उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में दिये जाते हैं। लेकिन जो लोग राष्ट्रीयकरण का विरोध करते हैं वे भी कई वितर्क पेश करते हैं। आगे

हम इन्हीं वितर्कों के ऊपर दृष्टिपात करेंगे। पहला वितर्क तो यह है कि अगर राष्ट्रीय उद्योगों का शासन सीधे सरकारी महकमे द्वारा हुआ तो लालफीतेबाजी और निरंकुशता (bureaucracy) (जो सिविल सर्विस के प्रधान लक्षण हैं) को सहना पड़ेगा; इससे उमंग मारी जा सकती है। शासन के खर्च बढ़ सकते हैं। टेकनिकल कुशलता और अनुभव का उचित मूल्यांकन नहीं होगा। उपभोक्ताओं को भी नुकसान पहुँचेगा। दूसरी चीज यह है कि सिविल सर्विस की जो तीन विशेषताएँ—विस्तार (detail) के प्रति अत्यधिक ध्यान, सतर्कता, निष्ठा का आडम्बर—बतलाई जाती है उनकी उतनी आवश्यकता व्यवसायों के चलाने में नहीं पड़ती। तीसरी बात—सरकारी खजाने का मृत-हस्त (Dead hand of the Exchequer) का संस्पर्श जब उद्योगों से होता है तब आर्थिक व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं—सार्वजनिक व्यय को न्यूनतम करने की और हिसाब-किताब की कड़ी जाँच करने की बड़ी फ़िक्र सरकारी एक्सचेकर को रहती है। चतुर्थतः सरकारी ट्रेजरी नये कार्यों (new ventures); नई पूँजी के विकास को पसन्द नहीं करती। वह उन्हें कर-दाताओं की मुद्रा के साथ जुआ खेलना समझती है। इतना ही नहीं, सरकार भी व्यवसाय संबंधी जोखिमों को अपने सिर पर उठाना नहीं चाहती, उनसे सह-मती है। उसे निर्वाचन का डर बना रहता है। इसलिये वह कोई गलत काम करने या गलत पग उठाने से डरती रहती है। लोग चाहते हैं कि सरकार कम दाम पर बढ़िया काम करे या चीज दे। मजदूर चाहते हैं कि उन्हें काम करना पड़े लेकिन काम करने के बदले उन्हें खासी रकम पारिश्रमिक में मिले और अच्छे वातावरण में उनसे काम लिया जाय। छठी बात यह है कि उद्योगों के राष्ट्रीयकरण होने पर राजनीति का व्यवसाय में प्रवेश हो जाता है। सरकार टेकनिकल सुधार ठीक से नहीं करने पाती है क्योंकि इससे कुछ मजदूर बेकार हो जा सकते हैं और तब सरकार को मजदूर-संघों की गुरु-गर्जना का मुकाबला करना पड़ेगा। फिर, टाउनशिपस उत्पादन के एक स्थान में

केन्द्रीयकरण की मुखालिफत कर सकते हैं। मजदूर भी इसका विरोध कर सकते हैं क्योंकि उनको अपने मुफसिल इलाके से दूर जाकर केन्द्रित उद्योग में काम करना होगा। केन्द्रित उद्योग से मतलब है जगह-जगह छोटे-छोटे उद्योगों को न रहने देकर एक स्थान में उनका समन्वय स्थापित करना। आठवीं बात—अगर कभी कुछ अलोकप्रिय कानून बनाये जाते हैं तो व्यक्तिगत उद्योगपति बाजार की निकृष्ट दशाओं को उनकी जननी बताते हैं लेकिन यदि सरकार वैसे कानूनों का लागू करे तो वह बाजार की निकृष्ट दशाओं को उनकी जननी नहीं बता सकती क्योंकि सरकार की रहनुमाई में बाजार में निकृष्ट दशाएँ नहीं रहनी चाहिये। नवीं बात-सरकार के कार्यों के वृत्त के बढ़ने से लोगों में असंतोष पैदा हो सकता है। भोक्तागण अपनी इच्छाओं को ठीक से प्रकाशित नहीं कर सकते। उनकी सार्वभौमिकता न्यून हो जायगी। सरकार जनमत को प्रभावित कर सकती है और अपने विरोधी दलों को दबा सकती है। व्यवस्थापिका सभा पर कार्याधिक्य के कारण अनावश्यक भार पड़ सकता है। फिर, कुछ लोग कहते हैं कि लाभार्जन का आकर्षण नहीं रहने की वजह निपुणता बढ़ाने की लगन राष्ट्रीय उद्योगों में जगती नहीं रहेगी और इससे उनकी उत्पादकता घट जा सकती है। ग्यारहवाँ तर्क—सरकार व्यक्तिगत उद्योगपति की अपेक्षा कम कड़ाई मजदूरों पर रक्खेगी। फलतः औद्योगिक अनुशासन ढीला पड़ जा सकता है। इन वितर्कों के अतिरिक्त बतलाया जाता है कि दलीय सरकार के अस्थिर रहने के कारण दीर्घकालीन योजनाएँ ठीक तरह से कार्यान्वित नहीं हो पाती। यह भी कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण की नीति उन उद्योगों में सफलीभूत हो सकती है जिनमें रुटीन के अनुसार काम होता है। इन उद्योगों में डाक-विभाग, केन्द्रीय बैंक, यातायात-विभाग आते हैं। लेकिन शिल्प-उद्योगों और खनिज उद्योगों में राष्ट्रीयकरण की नीति अधिकतर विफल होती है। कुछ आलोचक यह भी कहते हैं कि जिन कॉरपोरेशनों या बोर्डों को शासन-कार्य सौंपा जायगा वे अधिकारों को नाजायज तरीके से काम में

ला सकते हैं। अन्तत: यह तर्क दिया जाता है कि जब उद्योग का शासन पूर्णतया किसी मंत्री के आधीन हो जाता है तब अमुक मंत्री अपनी नीति को बोर्ड के ऊपर जबरदस्ती लाद सकता है और वह दक्ष विचारों (expert views) की अवहेलना कर सकता है। डा० बेचम ने लिखा भी है "A Labour Minister may find it difficult to resist pressure from his own party to slow down the pace of reorganisation. The Board, on the other hand, may take refuge behind the powers and responsibilities of the Ministers. In matters of long-time development policy the Board may leave the initiative to the Minister, whilst the Minister may leave it to the Board." लेकिन ये केवल संभवतोयताएँ हैं और बहुत कुछ व्यक्तियों के ऊपर निर्भर करेगा।

उक्त तर्क-वितर्कों पर विचार करने के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राष्ट्रीयकरण किस उद्योग के हित में अच्छा होगा और किस उद्योग के हित में बुरा, इसे बताने के लिये हमें प्रत्येक उद्योग के ऊपर दृष्टिपात करना होगा और देखना होगा कि उसके राष्ट्रीयकरण होने से फायदा अधिक है या नुकसान। यदि नुकसान अधिक है तो उसका राष्ट्रीयकरण नहीं होना चाहिये। यदि लाभ अधिक है तो उसका राष्ट्रीयकरण अनुमोदनीय होगा। डा० बेचम ने किन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिये और किनका नहीं इसके संबंध में कुछ बड़े ही चुभते वाक्य लिखे हैं जो ये हैं—"Where the tendency to monopoly is strong, where private ownership is clearly seen to be an impediment to full technical efficiency, where the business is one which can be readily reduced to routine, and where a protected market exhibits a steady demand to be catered for,

then the case for public enterprises is very difficult to gainsay. But where a premium is placed on flexibility, inventiveness, enterprise, and variety by reason of variability of demand, the nature of products, or foreign competition, the case is correspondingly weakened."

राष्ट्रीयकरण की समस्या पर विचार करते समय हमें सरकार के स्वामित्व एवं नियंत्रण, कॉरपोशनों और बोर्डों की रूपरेखा और अधिकार, सरकारी विभाग और मंत्रिमंडल के साथ कॉरपोरेशनों और बोर्डों के संबंध, आर्थिक प्रश्नों, मुआवजा की रूप-रेखा और ढंग, आदि पर भी दृष्टि-निक्षेप करना आवश्यक हो जाता है। ये सभी "सार्वजनिक अर्थशास्त्र" के प्रश्न हैं और इसलिये लेखक पाठकों को इनके ज्ञान के लिये उसकी तद्विषयक को पढ़ने का आग्रह कर अधिक लिखने से क्षमा चाहता है।

प्रो० लिवीस ने अपनी पुस्तक (Principles of Economic planning) में राष्ट्रीयकरण के विषय में अपने कुछ निर्णय दिये हैं जिन्हें हम यहाँ देना उत्तम समझते हैं। वे क्रमशः ये हैं:—(१) राष्ट्रीयकरण एकाधिकार का एक रूप है। उद्योगों का आंशिक राष्ट्रीयकरण वैयक्तिक उद्योगों पर एक प्रतिबन्ध के रूप में तथा परीक्षण के एक स्रोत के रूपमें--दोनों तरह से उपादेय है। इसका व्यापक ढंग से व्यवहार हो सकता है। लेकिन पूर्णरूपेण राष्ट्रीयकरण को उसी दशा में अंगीकार किया जा सकता है जब एकाधिकार स्थापित करना अभीष्ट हो। लिवीस ने बड़े मार्के की बात कही है—राष्ट्रीयकरण योजनाकरण का परिवर्द्धित रूप है। अतएव एकाधिकारों का राष्ट्रीयकरण करना योजनाकरण करने का एक प्रबल स्तम्भ है। "Democrats make much song and dance about monopoly but to deal with monopoly is one of the easiest problems of planning"। (२) "ऐकान्तिक नियंत्रण"

(unitary control) के अन्दर किसी उद्योग को लाकर अगर उसकी निपुणता बढ़ाई जा सकती है तो उसको "एकाधिकार" का रूप देना चाहिये क्योंकि ऐकान्तिक या केन्द्रित शासन का और क्या अर्थ एकाधिकार को छोड़कर हो सकता है ? निपुणता इस बात पर बहुत निर्भर करती है कि किसी व्यवसाय में मजदूरों के सहयोग और सद्भावना को आकृष्ट किया गया है या नहीं ? सरकार इस दिशा में पथ-प्रदर्शक का काम कर सकती है और राष्ट्रीयकरणकृत उद्योगों की शासन-व्यवस्था में मजदूरों को भी भाग लेने का अवसर प्रदान कर सकती है और मजदूरी के समझौते के नये रूपों की सृष्टि कर सकती है। (३ देश में एकाधिकारी व्यवसाय कोई भी ऐसा नहीं हो जिसका राष्ट्रीयकरण नहीं किया गया हो। चाहे एकाधिकारी राज्य की सृष्टि क्यों न हो, उसे सार्वजनिक नियंत्रण और स्वामित्व में रहना चाहिये। (४) किसी उद्योग का सार्वजनिक भाग यथासंभव विकेन्द्रित होना चाहिये। "Several public corporations are better than one, except where there are special advantages in unitary control"। लिवीस का यह निर्णय हमारी दृष्टि से अमान्य है क्योंकि यह तो राष्ट्रीयकरण की नीति की जो भावना है उसके ठीक विपरीत है। (५) आर्थिक योजनाकरण की दृष्टि से सरकार द्वारा व्यापार की समस्त सुविधाओं का एकाधिकारीकरण कुछ हालतों में अच्छा होगा। (६) जिन एकाधिकारों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है उनका नियंत्रण पूरी तल्लीनता से होना चाहिये। सचिव या व्यवस्थापिका बहुत कुछ अकले नहीं कर सकती। लिवीस का सुझाव है—'There should be a prices-and-services tribunal, with a price-policy laid down by law, a consumers' council, with access to cost accounts, and the usual machinery for labour arbitrator"।

भारतीय सरकार ने देश-व्यापी उद्योग-धंधों को पाँच खंडों में

विभाजित किया है। प्रथम खंड में जिन उद्योग-धंधों को सम्मिलित किया गया है उनमें प्रमुख ये हैं—हथियार और युद्ध-सामग्रियों से संबंधित उद्योग, परमाणु-शक्ति का उत्पादन और निर्माण, रेलवे, यातायात जैसे, उद्यापा राष्ट्र के संरक्षण के लिये बहुधंधी योजनाओं में जलगत उद्योग, खाद तथा औषधियों का निर्माण, कोयला से तेल निकालने का उद्योग। इनपर सरकार का पूर्ण आधिपत्य रहेगा। ये राजकीय उद्योग-धंधे घोषित हुए हैं। द्वितीय खंड में समस्त नवीन मूल (key) और बुनियादी (Basic) उद्योग आते हैं जिनके लिये सरकार उत्तरदायी होगी। इसमें प्रधान ये हैं—कोयला, लोहा, इस्पात। इनसे संबंध रखनेवाले वर्तमान उद्योग-धंधों की जाँच सरकार द्वारा दस वर्षों के बाद होगी और इनका राष्ट्रीय-करण उचित मुआवजा देकर होगा। तृतीय खंड के उद्योग-धंधों पर सरकार का नियंत्रण एवं नियमन रहेगा। इसके निमित्त केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के उद्योग-अधिपतियों तथा श्रमिक वर्गों के प्रतिनिधियों का परामर्श लिया जायगा। इस खंड में आनेवाले उद्योग-धंधों में स्वचल यानों, सीमेंट, चीनी, आदि के उद्योग उल्ले-खनीय हैं। चतुर्थ खंड में अवशिष्ट उद्योग आते हैं जिनपर सरकारी अंकुश नाममात्र रहेगा। फिर भी सरकार न्यायाधीश और परीक्षक का कार्य सम्पन्न करेगी। पंचम और अन्तिम खंड में गृहोद्योग सन्निहित हैं जिनके विषय में सरकार निरीक्षण करेगी कि किस प्रकार तथा किस सीमा तक उनका एकीकरण और बृहत्काय उद्योगों से समन्वय संभव हो सकता है। इस ढंग से सरकार ने अपने स्वत्व का क्षेत्र निर्धारित कर लिया है। पहले की सरकार बहुत आरंभ में भारतीय उद्योग-धंधों से केवल व्यापार के नाते संबंधित थी, फिर बाद में उसने अपने देश के पनपते उद्योगों का रक्षा के लिये इनका शोषण किया और नाना प्रकार के उपायों द्वारा उनकी प्रगति को कुंठित बनाया। प्रथम महासमर में स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से उसने इनको कुछ प्रोत्साहित किया और युद्धोपरांत अपनी शक्ति-

समृद्धि के लिये संरक्षण की नीति तथा व्यावसायिक कमीशनों की स्थापना द्वारा इन्हें कुछ प्रेरणा दी। राष्ट्रीय चैतन्य के प्रसार के साथ भारतीय उद्योग-कलाविदों ने यहाँ के उद्योग-धंधों को सँवारने के लिये प्रचुर परिश्रम किया जिसके प्रतिफल द्वितीय महासमर के समय भारतवर्ष को "प्राची के भंडार" कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। फिर भी भारतीय उद्योगों के सामूहिक विकास के लिये कोई ठोस योजना सरकार ने निश्चित नहीं कर पाई थी। ऐसी अवस्था में सरकार को यह औद्योगिक नीति-विषयक घोषणा बड़े महत्व की वस्तु हुई।

हमारी आधुनिक आर्थिक विपन्नता पर खेद प्रकट करते हुए अमेरिका द्वारा भेजे मिशन के अध्यक्ष डा० ग्रेडी ने कहा था, "युद्ध के पूर्व भारतवासी सभी तैयार माल मोल लेते थे और अब ये भोजन भी खरीदने लगे हैं। कोई भी देश समग्र तैयार माल और खाद्यान्न खरीद कर जीवित नहीं रह सकता। यह भारतवर्ष की हीनावस्था का परिचायक है और जब तक यहाँ के लोग कठिन परिश्रम नहीं करते तथा सबसे काम नहीं लेते, उत्पादन करके बची वस्तुएँ निर्यात के लिये एकत्र नहीं कर पाते तब तक वे इस जटिल समस्या को नहीं सुलझा सकते।" अतीत का भारत जो समस्त विश्व को अन्न-वस्त्र देकर जिलाता था, जिसकी कला प्रत्येक क्षेत्र में निखरी-बिखरी थी और जिसके ऐश्वर्य और समृद्धि को विदेशी देखकर विस्मयविमुग्ध हो जाते थे, अपनी आर्थिक पराधीनता के घात-प्रतिघातों को सहता हुआ विगत विश्व-युद्ध के समय किसी तरह अपनी स्थिति सँभालने लगा था जब कि आज वह पा रहा है कि उसकी उत्पादन-शक्ति सन् १९४७ के दृष्टिकोण से दो-तिहाई अथवा तीन-चतुर्थ हो गई थी। यह निर्विवाद है कि भारतवर्ष के औद्योगिक उत्थान-मार्ग में कतिपय अवरोध हैं जिनमें ये प्रमुख हैं। आवागमन और यातायात की असुविधाएँ, श्रमिक वर्ग की हड़तालें और व्यवसायों की उन्नति के प्रति उदासीनता, पूँजी के बाजार में अव्यवस्था और अविश्वासजनक वातावरण, उत्पादक पूँजी-

गत उपादान, जैसे मशीन आदि का, कुशल विधान-ज्ञाताओं (टेक-निशयनों) और अनुभवी श्रमिकों का अभाव तथा भूतकालीन सरकार की अनिश्चयतापूर्ण औद्योगिक नीति। भारतीय औद्योगिक समस्या के हल करने के लिये तो यह परमावश्यक है कि सेक्यूरिटी (जमानती साख जो सरकार द्वारा चलाई जाती है) के बाजार में सरकारी स्थिति को सशक्त और प्रौढ़ किया जाय। इसके लिये प्रो० रंगा ने सुझाव दिया है कि सरकार मुद्रा-स्फीति की अनावश्यक बाढ़ (Inflation) की अपेक्षा मुद्रा-बाजार का ही आश्रय ग्रहण करे। सरकार की ओर से विश्वास दिलाया जाय कि सरकार अपनी राजस्व-नीति तथा आर्थिक सहायता द्वारा भारतीय उद्योग-धंधों के उत्कर्ष के लिये समुचित अवसर प्रदान करेगी। इतना ही नहीं, आवागमन, आदि विषयों में उद्योगों को सहायता देना भी अनिवार्य है।

भारतवर्ष में कुछ वर्षों से समाज के विभिन्न वर्गों में ऐसी घातक प्रवृत्तियाँ घर कर गई हैं जिनके कारण देश की चिर अभीप्सित शांति, नियम और व्यवस्था विशृंखलित और विच्छिन्न हो गई है। आर्थिक अभ्युदय के लिये तो शांति एवं व्यवस्था अनिवार्यरूप में आवश्यक है। कुछ लोग ऐसे हैं जो भारत के लिये समाजवादी प्रणाली को सर्वोत्तम बताते हैं और इसके लिये समग्र उद्योग-धंधों तथा देश के सम्पूर्ण भौतिक उपकरणों के राष्ट्रीयकरण, तथा सामूहिक और संघटित कृषि की चर्चा करते हैं। वे पूँजीवादी समाज के अवगुणों को अति-रंजित रूप में प्रस्तुत कर बताते हैं कि पूँजीवाद धन एवं शक्ति दोनों की विषमता का जनक है। इससे श्रम एवं पूँजी के बीच चिरंतन विरोध उत्पन्न होता है। इसमें भोक्तागण की स्वतंत्रता जाती रहती है। पूँजीवाद का बड़ा अभिशाप व्यापार-चक्रों का आविर्भाव है जिनके फलस्वरूप मानव-समाज को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इसकी छत्र-छाया में उद्योगपति का एकमात्र लक्ष्य अधिकाधिक मुनाफा अर्जित करना होता है और उसमें श्रम-वर्ग के हितों की निर्मम हत्या होती है। ये लोग आलोचना के आवेश में भूल जाते हैं कि वे पूँजीवाद के साथ

पूँजी का भी विरोध करने लगते हैं। वस्तुतः पूँजी स्वयं निर्जीव और एक ऐसा साधन है जो मानव-शक्ति के विकास तथा संवर्द्धन के लिये सदैव तत्पर रह सकती है। यह बात अवश्य है कि इसका प्रयोग बुद्धि और सतर्कता के साथ होना चाहिये। पूँजीवाद साध्य नहीं, वह साधन मात्र है। उसकी कुछ विशेषताएँ हैं जिनसे हम लाभ उठा सकते हैं। फिर भी उसे उसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है जहाँतक वह हमारे कार्य की सिद्धि में सहायक है। दूसरे स्कूल के मतावलम्बी दंभ भरते हैं कि पूँजीवाद ही एकमात्र ऐसी पद्धति है जो मानव-समाज की सुखोपलब्धि में सहायक हो सकती है। कहा जाता है कि पूँजीवाद मूलतः गणतांत्रिक है और उससे ही सर्वाधिक मानव-विकास संभव है। लेकिन यह भी दकियानूसी विचारधारा है। आज की सामाजिक व्यवस्था कुछ ऐसी है कि बिना नियंत्रण वहन किये लालसा की संतृप्ति नहीं हो सकती। समाज में मानव-स्वातंत्र्य के साथ विशेष क्षेत्रों में राजकीय हस्तक्षेप का होना बहुत जरूरी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि औद्योगिक पहलू को लेकर "वादों" आँधी-सी चल पड़ी है। हमें इन वादों के झमेले में न पड़कर भारतवर्ष के औद्योगिक विकास के लिये एक सुगम मार्ग का अवलंबन करना है। हमारा निर्दिष्ट लक्ष्य औद्योगीकरण की गति को द्रुतगामी बनाना और सम-वितरण के लिये साधन खोजना है। दलगत विग्रहों के झंझाकुल महासागर से औद्योगिक नौका को सुरक्षित तट पर पहुँचाने में ही हमारे देश का कल्याण अन्तर्हित है। हमें शनैः शनैः और धैर्य के साथ अपना कदम बढ़ाना है जिससे हम किसी ऐसी वस्तु को न नष्ट कर दें जो बनाई जानेवाली चीज की अपेक्षा उत्कृष्ट हो। वस्तु-निर्माण सुगम है परन्तु वस्तु-निर्माण अति कठिन। विभिन्न तर्क-वितर्कों के मध्य भी एक 'स्वर्णिम मध्यमार्ग' होता है जिसकी महत्ता किसी उपस्थित आवेष्टन और वातावरण की कसौटी पर आँकी जा सकती है। आधुनिक संसार में न तो कोई ऐसा देश है जहाँ समाजवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया हो

और न कोई ऐसा राष्ट्र है जिसमें हस्तक्षेप विमुखता अथवा तटस्थता (Laissez-faire) को नीति अपनी पराकाष्ठा पर आरूढ़ हो। यद्यपि सोवियत रूस में श्रम-वर्ग ने बलपूर्वक शासनाधिकार स्वायत्त कर लिया तथापि समाजवादियों की उस आदर्श भूमि में भी विषमता के वे गहरे रंग दृष्टिगोचर हो रहे हैं जो दुर्निवार तथा मानवजात है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में कई युगों से प्रजातंत्र का ऐसा उदय हुआ है और वहाँ के नागरिकों में ऐसा राजनैतिक चैतन्य जाग्रत हुआ है कि राजकीय तटस्थता की नीति, धीरे-धीरे शिथिल पड़ती जा रही है। इस तरह जो सिद्धान्त हमें हितकर प्रतीत होता है वह यही है कि समाजवाद तथा पूँजीवाद के सम्मिश्रण एवं सहयोग से जिस औद्योगिक नीति की अवतारणा होगी वह सुष्ठु, चिरस्थायी और सर्वग्राह्य होगी। इससे दोनों वर्गों के अनुयायियों की मनस्तृप्ति हो सकेगी। विशेषतः भारतवर्ष में ऐसी नीति की नितान्त आवश्यकता है। अभी हमें कुछ ही महीने पूर्व स्वतन्त्रता मिली है और हमारा राष्ट्र संक्रान्तिकाल से गुजर रहा है। देश-विभाजन होने से हमारी अपूरणीय क्षति हुई है। हमारे हाथ से जूट, कपास, नमक और मिट्टी के तेल के उद्गम क्षेत्र निकल गये हैं जिससे हमारे उद्योग-धंधों को चोट पहुँची है। इधर आये दिन छोटी-छोटी बातों को लेकर पूँजीपतियों की मिलों में श्रमिकों की हड़तालें हुआ करती हैं। साम्यवादी समयवाद द्वारा परिचालित होकर देश की इस नाजुक अवस्था से नाजायज नफा उठाते और धाँधली मचाते रहते हैं तो उधर समाजवादियों की उक्तियों से ऐसा भान होता है मानों उनके सिद्धान्त स्वप्न की दुनिया तक ही सीमित रहेंगे। देश के इस संकटमय प्रहर में उनके 'वाद' का कितना अंश उपादेय हो सकता है इसकी ओर वे बहुत कम ध्यान देते हैं।

राष्ट्रीयकरण के पीछे जो सारगर्भ बात है वह यह है कि राष्ट्रीयकरण किसी देश के औद्योगिक विकास का साधन है, साध्य नहीं और साधन के लिये साध्य की भर्त्सना नहीं की जा सकती। यदि सम्पूर्ण

राष्ट्रीय प्रणाली में इस सिद्धान्त का एक ही बार समावेश करना आरंभ कर दिया जाय तो राष्ट्र के कार्य और दायित्व इतने बढ़ जा सकते हैं कि वे उसकी परिमित क्षमता के लिये भार-स्वरूप बन जायँगे। क्योंकि सरकार को ऐसी दशा में साख-प्रणाली, व्यक्तिगत बचतों, व्यवसाय में लगाई जानेवाली पूँजी, प्रभृति प्रश्नों को हल करना पड़ेगा, जो वर्त्तमान भारतीय शासन-यंत्र के लिये अत्यधिक दुर्वह तथा दुस्साध्य होगा। अभी उसके सम्मुख जन-स्वास्थ्य, कृषि-उत्थान, वाष्प-विद्युत्-शक्ति-विकास, सुरक्षा-प्रबन्ध, रियासतों से संघटन, नव-विधान को कार्यान्वित करने के जटिल मसले हैं, जो उसका ध्यान अहर्निश आकृष्ट किये रहते हैं। सरकार ने कभी भी पूँजीवाद के प्रति आन्तरिक आग्रह या समाजवाद के प्रति अवज्ञा नहीं प्रदर्शित की है। अपनी वर्तमान घोषणा में भी उसने दोनों के संतुलन और लयात्मक संयोग का परिस्थिति-सुलभ निदान निकाला है। श्रम-सचिव ने अपने भाषण में कहा था कि "हम यद्यपि पूँजीपतियों के शत्रु नहीं, तथापि हमारा ध्यान दस वर्षों के भीतर भारत-भूमि से पूँजीवाद की विभीषिका दूर भगाने की ओर है।' स्वयं प्रधान सचिव पंडित नेहरू ने स्वीकार किया था कि यह घोषणा गद्यात्मक और सत्यनिष्ठ है तथा समाजवाद के प्रति इसका विशेष मोह है। फिर भी उन्होंने अपने नव-संदेश में यह चेतावनी दी कि कुछ ऐसे लोग हैं जो बिना समझे-बूझे सांगोपांग और चतुर्दिक राष्ट्रीयकरण की सलाह देते हैं परन्तु वे कभी भी शांतिपूर्वक विचार करने का कष्ट नहीं करते कि देश में सम्प्रति ऐसे उद्योग हैं जिनका समाजीकरण कर हम पछतायेंगे क्योंकि वे दस या पन्द्रह वर्षों के भीतर बेकाम (obsolescent) हो जायेंगे और प्रचुर राष्ट्रीय वैभव का इस प्रकार अपव्यय होगा। जिस प्रकार पूँजीवादी अर्थ-प्रणाली के कुछ अकाट्य गुण हैं उसी प्रकार समाजवाद के कुछ तत्त्व बहुत ही अनूठे और हितकारक हैं परन्तु उनको व्यवहृत करने के लिये देशगत स्थिति का सूक्ष्म अध्ययन करना और निर्दिष्ट स्थल तक पहुँचने के लिये सोपान के चरण-चरण पर उनकी उपयुक्तता-

अनुपयुक्तता पर विचार करना बहुत ही जरूरी और अपरिहार्य हो जाता है। यह जानी हुई बात है कि ग्रेट ब्रिटेन की सरकार को भी, जो भारतीय शासन-मंडल से कई गुनी अच्छी, संयत और प्रवीण है, केंद्रीय बैंक, कोयला आदि उद्योग-धन्धों, रेल-डाक, आदि विभागों के समाजीकरण करते समय अनपेक्षित और अप्रत्याशित व्यवधानों से जूझना पड़ा है।

जो लोग राष्ट्रीयकरण की दुहाई देते हैं, वे यह तर्क पेश करते हैं कि इससे अत्यधिक मुनाफा लेना बन्द हो जायगा, क्योंकि राष्ट्रीय साधनों से, विभिन्न उद्योग-प्रणेता और उद्योगपति जो खानगी व्यवसायों में प्रचुर धन अर्जित कर अपना कोष भर पाते हैं, वे ऐसा नहीं कर पाएँगे और समस्त धन राजकीय निधि में संग्रहीत होगा। इनके विपक्षी दल का वितर्क है कि जब सरकार अपने बंधे क्षेत्र से बाहर जाकर खानगी उद्योग-धंधों का स्वत्व एवं नियंत्रण अंगीकार करती है, तो उसे ऐसे संदिग्ध तथा आपद्पूर्ण कार्यों का श्रीगणेश करना पड़ता है, जिनके लिये काफी द्रव्य की जरूरत पड़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि सूद की दरें बढ़ जाती हैं और मुद्रा-विस्तार के भयंकर फल से देश संत्रस्त हो उठता है। औद्योगिक विस्तार के निमित्त मशीनों (पूँजीगत उपादानों) की आवश्यकता आ पड़ती है। यदि भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति वाला कोई देश औद्योगिक विस्तार की चेष्टा करे तो उसे निस्सन्देह संक्रमण युग में विदेशी पूँजी की शरण लेनी पड़ेगी। बताया जाता है कि महती क्रान्ति के उपरान्त रूस को अपनी औद्योगिक उन्नति के लिये विदेशी पूँजी का आश्रय लेना पड़ा था। भारतवर्ष गरीब देश है। दूसरे धनाढ्य राष्ट्रों की तुलना में इसकी राष्ट्रीय आय प्रतिजन बहुत कम है। देश में कुछ धन-कुबेर अवश्य हैं, धरती में रत्नों का अशेष भंडार गड़ा है। फिर भी इनसे ही औद्योगिक विकास का यज्ञ सफल नहीं हो सकता। सरकार को पत्र-मुद्रा-स्फीति का सहारा लेना ही पड़ेगा। अभी यहाँ विदेशी पूँजी का प्रभूत आधि-

पत्य है। उनके चंगुल में सारे युद्ध-रक्षक और गौरवान्वित उद्योग-धंधे (इनमें बैंक का भी नाम आता है) फँसे हैं। अपनी सरकार ने इनमें से कुछ को इनसे मुक्त करने की घोषणा अपनी वर्तमान औद्योगिक नीति में की है। अभी तक तो विदेशीजन ही रेलवे-विभाग के अधिकारी, जहाज, ट्राम, विद्युत् के सर्वेसर्वा, पेट्रोलियम, किरासन तेल, कोयला की खानों के अधिपति, जूट, चाय-बागानों के मालिक तथा ताँबा अबरख के भाग्य-विधाता बने रहे हैं। देश से एक बड़ी रकम विदेश चली जाती रही है और अभी इसका वेग सर्वथा क्षुण्ण नहीं हुआ है। राष्ट्रीयकरण के हामी भरनेवाले व्यक्ति कहते हैं कि इसके द्वारा श्रम-वर्ग की प्रवीणता और कार्य-कुशलता बढ़ जाती है। यह विवादग्रस्त बात है। इसका खंडन करते हुए कुछ लोग कहते हैं कि १६३५ में इंगलैंड के प्रत्येक खनक का औसत साप्ताहिक उत्पादन ५॥ टन था परन्तु खानों के समाजीकरण के बाद वह ५ टन हो गया। भारतस्थ चतुर्दिक राष्ट्रीयकरण के आलोचक कहते हैं कि यहाँ तो रेलवे-विभाग का समाजीकरण सम्पन्न किया जा चुका है, परन्तु हालत क्या सुधर गई है ? नहीं, बढ़ते भाड़े और यात्रा करने की कठिनाइयाँ उसकी विफलता की द्योतक हैं। भारतीय औद्योगिक विकास में राष्ट्रीयकरण का कितना भाग रहेगा, इसका निश्चय इस समस्या के आन्तरिक तथ्य को समझने पर ही हो सकता। देश की वर्तमान स्थिति में जहाँ तक ऐसे बुनियादी उद्योग-धंधे (उदाहरणार्थ, विद्युत्-वाष्प-जन्य शक्ति) का सवाल है, जिनका स्वत्व व्यक्तिगत स्वार्थों के हाथ में रहना अहितकर है, तथा ऐसे कल्याणकारी उद्योग-धंधों का जो व्यक्तिगत प्रेरणा द्वारा नहीं स्थापित किए जा सकते या सुचारुरूप से संचालित नहीं हो सकते, राष्ट्रीयकरण का माध्यम निर्विवाद ग्राह्य है। शेष उद्योग-धंधों की प्रगति के लिये हमारा यह ध्यान रहना चाहिये कि उनमें एकाधिपत्यवाली (Monopolistic) अवस्थाएँ उत्पन्न न होने पावें तथा उनपर सरकार देख-रेख रखे। यह हम इसलिये कहते हैं कि यदि व्यक्तिगत औद्योगिक प्रेरणा से सामाजिक हित

हो सकता है, तो उसका उन्मूलन करना अभी कतई अच्छा नहीं होगा। हम यह पूर्वकल्पना करके कि राजकीय और व्यक्तिगत दोनों से सामाजिक हित संभव है, यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि धनार्जन करने वाली भावना मुनाफा-संभूत अपवित्रता सन्निहित नहीं है, वल्कि वह तो सेवा-भाव के ऊपर मुनाफा उठाने के भाव का जो प्राधान्य है उसमें ही छिपी है। सरकार भी तो जनहित का ध्यान रखती हुई मुनाफा उठाने का प्रयास करेगी। यदि हम जन-सेवा की भावना को लाभार्जन की भावना पर प्रस्थापित कर सकें तो निस्सन्देह चरम पूँजीवाद की विभीषिका दूर हो जायगी और हम उसके निविड़ तिमिर में आलोकमय प्रशस्त पथ पा सकेंगें।

भारतीय औद्योगिक समस्या का एक अत्यन्त प्रमुख पहलू यह भी है कि सरकार एक ऐसी व्यापक नीति अपनावे जिससे एक ओर यदि उद्योग-धंधों के संचालकों को प्रोत्साहन मिले तो दूसरी ओर श्रम-वर्ग भी अपने जीवन का स्तर दिनोंदिन ऊँचा होता पावे। यदि एक ओर कारखानों के प्रबंधकर्त्ता और विधानवेत्ता मोटी रकम पा सकें तो दूसरी ओर भोक्ताओं की क्रय-शक्ति और इच्छा-राशि पर तुषारपात न होने पावे। सरकार धनिकों पर चुंगी लगाते समय सर्व-ग्रासी नीति न अपनावे, वह ऐसा वातावरण पैदा करे जिससे इनको अपना धन उद्योगों में लगाने तथा उससे सरकार को राष्ट्रीयकरण में मदद करने का सुयोग मिल सके। व्यापारिक कर, आदि लगाते समय सरकार को भोक्ताओं के हित की रक्षा करनी होगी, क्योंकि उनकी क्रय-शक्ति पर ही जीवनोपयोगी वस्तुओं और सेवाओं की, जिनकी समष्टि सम्पत्ति की संज्ञा से अभिहित है, प्रभावपूर्ण माँग अवलम्बित है। इसके लिये मूल्यों की गति के ऊपर सरकार का थोड़ा या अधिक मात्रा में, जिनका निर्णय देशव्यापी आर्थिक दशा करेगी, नियंत्रण रहना चाहिये। अभी तक भोक्ताओं की उपेक्षा हुई है और योजनाओं के स्रष्टा इस सबल तत्त्व को भुलाते आये हैं। यदि देश के उत्पादन की नित्य अभिवृद्धि से ये उदासीन रहेंगे तो हमारा लक्ष्य सिद्ध नहीं हो

सकता। श्रमिकों को अब इतना पारिश्रमिक देना चाहिये, जिससे उनकी जीवनगत आवश्यकताएँ आसानी से पूरी हो सकें। इसके निमित्त उद्योगों के संचालन में उनका बोलबाला रहना चाहिये। पूँजीपतियों को सरकार की मध्यस्थता में अपने कागजी सुमन श्रम-वर्ग के सामने प्रस्तुत करने होंगे, जिससे वे भी उनके मकरन्द और पराग का सुख थोड़ा-बहुत उठा सकें। ऐसी पद्धति भारतवर्ष के लिये नवीन नहीं होगी। यह तो पाश्चात्य राष्ट्रों में भी लागू है। समाजवादियों की स्वर्गभूमि रूस में भी इन वर्गों को प्रोत्साहन देने के लिये विषम पारिश्रमिक और वेतन की व्यवस्था अपनाई गई है। यदि ऐसा नहीं किया जाय, तो श्रम-पूँजी, भोक्ता-उत्पादक का संघर्ष इतना न तीव्र हो जाय कि हमारे सभी सुखद सपने मिट जायँ। मतलब यह है कि देश की वर्त्तमान हालत में न तो हमें पूँजीवाद का पक्ष लेना है और न समाजवाद को सांगोपांग ग्रहण करना है। हमें इन दोनों के सम्मिश्रण से अपना यज्ञ आरम्भ करना होगा। कहना नहीं होगा कि भारतीय सरकार की नव घोषणा से इस सम्मिश्रण का सुन्दर आभास मिलता है।

इस प्रकार की दुविधा के बीच हमारा निर्णय समाजवाद और पूँजीवाद का क्रमिक सम्मिश्रण ही है। "सम्मिश्रित अर्थ-प्रणाली ही भारत जैसे देश के लिये हितदायिनी हो सकती है, क्योंकि अभी तो हाल ही में स्वतन्त्रता-शिशु का जन्म हुआ है और अभी उसकी सुकुमार जानुओं पूरा बल नहीं आने पाया है, उसे संभल-संभल कर सरकना-चलना है।" पूँजीवाद की अनियंत्रित गति के ऊपर अंकुश रखना तो होगा ही। भारतीय मिट्टी पर, जहाँ के निवासी आत्मा के सहज गुण आनन्द के सामने भौतिक पदार्थों को हेयदृष्टि से देखते आये हैं, जहाँ की संस्कृति सीमित इच्छाओं के बीच पली है, जहाँ विश्व-मानव महात्मा गांधी ने इस भयंकर युग में भी सामाजिक और राजनैतिक जीवन में सत्य एवं अहिंसा की नीति कार्यान्वित कर युगान्तर उपस्थित कर दिया है और महान् चिन्तकों तथा राजनैतिक पुरुषों को चुनौती

दी है, चरम रूसी क्रान्तिमूलक समाजवाद का पादप नहीं पनप सकता, उसकी जड़ में शान्ति और क्रमिक विकास की सुधा डालनी पड़ेगी। कोई भी समझदार समाजवादी अपने महान उत्तरदायित्व को विस्मृत कर ऐसा अनावश्यक बोझ नहीं उठा सकता। केवल मानसिक विलास या बौद्धिक सुख के लिये ही वह पूँजीवादी पर समाजोपयोगी संस्थाओं का ध्वंस कर पुनः निर्माण करने का साहस ग्रहण नहीं कर सकता। समाजवाद संहार का अस्त्र नहीं वह निर्माण का साधन है। अस्तु,

विभिन्न प्रान्तों में जमींदारी के विघटन का कार्य आरम्भ किया जा चुका है। राष्ट्रीयकरण का यह प्रथम चरण है। सरकार ने अपनी नव घोषणा में कुछ अति आवश्यक उद्योग-धंधों को राजकीय घोषित कर दिया है। यह दूसरा चरण है। सरकार की इस नव-घोषणा में श्रम, पूँजी और सरकार—तीनों के सम्मिलित कार्य-सम्पादन को महत्ता का उचित मूल्यांकन हुआ है और हाल ही में सरकार ने देश की औद्योगिक उन्नति के विविध पक्षों पर परामर्श देने के लिये एक परिषद् भी स्थापित की है। दस वर्षों के बाद कुछ अवशिष्ट उद्योगों का समाजीकरण होगा। वह तीसरा चरण होगा और चौथे चरण में शेष राष्ट्रीय उपादानों को भी सरकार स्वायत्त कर लेगी। हो सकता है कि किसी-किसी उद्योग में सरकार और व्यक्तिगत प्रेरणा दोनों एक साथ सन्नद्ध होकर उसे चलावें। शेष उद्योग-धंधों के संचालन एवं आधिपत्य में इन दोनों का अपना-अपना न्यस्त भाग रहेगा। इस प्रकार धीरे-धीरे गणतांत्रिक समाजवाद की प्रतिष्ठा होगी। सरकार कोई जादूगर नहीं जो टोप से खरगोश पैदा कर दे, उसे समय और सहायता की अपेक्षा है। यद्यपि उसका लक्ष्य विस्तृत उत्पादन तथा समवितरण है तथापि उसे पहले उत्पादन कर लेना है, पीछे वितरण का प्रश्न सुलझाना है। हम दरिद्रता का विभाजन कर लाभ नहीं उठा सकते। धन बाँट कर ही हम अपनी और अपने देश की श्री-वृद्धि कर सकते हैं। अतएव हमें भी सरकार के राग में राग मिला कर देश के

प्रत्येक जन से अनुरोध करना चाहिये कि वह आगे बढ़ते हुए अपनी सम्पत्ति और अपनी शक्ति से देश का उत्पादन विस्तृत करता चले। जितना ही अधिक धन उद्योगों में लगाया जायगा उतना ही अधिक हमारा धन बढ़ेगा, हमारी बेकारी दूर होती जायगी क्योंकि कार्यों की संख्या भी बढ़ती जायगी। देश का ऐश्वर्य और प्रभुत्त्व बढ़ेगा और भारत पुनः विश्व के अत्युन्नत राष्ट्रों में अपना स्थान ग्रहण करेगा। यदि देश के पूँजीपति, श्रम-वर्ग, भोक्तागण और सरकार ने सहयोग के साथ देश के औद्योगिक उत्थान का यज्ञ आरम्भ कर दिया तो कहना ही पड़ेगा कि 'मंजिल दूर नहीं है।' *

---

* यह अध्याय मई, १९५८ में लिखा गया था और "हिमालय" में प्रकाशित हुआ था—लेखक।

पंचविंशति अध्याय

भारत की आर्थिक समस्याएँ

(Economic Problems of India)

युगों की क्रान्ति और तपस्या के पश्चात् एक वर्ष से कुछ अधिक पूर्व पूर्ण स्वतन्त्रता की सुनहरी किरणें भारत देश के कोने-कोने में फूट पड़ीं। राजनीतिक स्वराज्य के लिये कितनी हुतात्माओं ने अपने अमूल्य प्राणों का उत्सर्ग किया था और उसकी बलि-वेदी पर अपनी लालसाओं और सुखों का होम चढ़ाया था। हमें राजनीतिक स्वराज्य की उपलब्धि हुई। हम आर्थिक स्वराज्य के शिल्पी और निर्माता स्वयं हैं। आर्थिक स्वराज्य राजनीतिक स्वराज्य से महत्तर भले ही न हो परन्तु उसकी नितान्त आवश्यकता हम विस्मृत नहीं कर सकते। वर्षों की विदेशी शासन-प्रणाली ने भारतवर्ष की आर्थिक रूप-रेखा को विकृत कर डाला है। फलतः हमारे समक्ष आज कितनी आर्थिक समस्याएँ हैं जो हमारी स्वतंत्र राष्ट्रीय चेतना को उद्दीप्त और उद्बुद्ध करके ठोस योजना के लिये अनवरत पुकार कर रही हैं। एक तरह से देश की आर्थिक व्यवस्था की आत्मा ही कुण्ठित हो उठी है और विभिन्न तत्वों के एकीकरण के लिये आकुल-व्याकुल है जिससे हमारा राष्ट्र परिपुष्ट एवं सुदृढ़ हो सके। हमें समस्त आर्थिक प्रतिगामी शक्तियों का समूल निराकरण ही अभीष्ट नहीं, बल्कि आर्थिक जीवन का ऐसा संगठन करना भी स्पृहणीय है जिससे भारतवर्ष विश्व के अन्यान्य अत्युन्नत राष्ट्रों के साथ समगति से अग्रसर हो सके और हमारे उत्थान की रग-रग में स्वराष्ट्र का अतीत गौरव और संस्कृति प्रतिबिम्बित हो उठे, वर्त्तमान और भविष्य मुखरित तथा शतशः अनुप्राणित हो जायँ।

भारतवर्ष की जनसंख्या संसार के किसी अन्य देश की जनसंख्या से अधिक है केवल चीन को छोड़कर। सन् १९५१ की जनगणना ने इस बात को दिखलाया था। जिस देश की मानव-शक्ति इतनी बड़ी प्रतीत होती

है उसकी जनसंख्या विषयक कठिनाइयाँ कितनी कटु हैं ! भारतदेश की मृत्यु-संख्या संसार भर में अद्वितीय है। यहाँ प्रति हजार ३४·६ व्यक्ति जन्म ग्रहण करते हैं जिनमें २४·६ काल कवलित होते हैं। जीवन की मध्यमा २६ वर्ष ठहरी। हमारे भूतपूर्व अधिकारी अति जनसंख्या की ओट में अपनी उत्तरदायित्वहीनता को छिपाने का मिथ्या प्रयास करते थे। अदूरदर्शी अर्थशास्त्रवेत्ता मालथस के प्रेत की छाया से भयभीत होकर वे सतत यही निर्घोष करते कि भारतवर्ष की आबादी बहुत अधिक हो गई है। यह ठीक है कि भारत-जैसे पुरातन देश में इन दिनों अन्नाभाव इतना तीव्र, मर्मान्तक और व्यथाप्रद हो गया है कि यहाँ की सम्पूर्ण जनसंख्या को खिलाना-पिलाना अत्यधिक दुरूह हो गया है। क्षुधा और भुखमरी अपना ताण्डव नर्तन कर रही हैं। चूँकि खाद्य सामग्री की प्राप्ति जनसंख्या की माँग से न्यून है इसलिये ऐसा असंतुलन उपस्थित हो गया है जिसका संशोधन मालथस द्वारा वर्णित अवश्यम्भावी अवरोधों से ही अन्यथा हो सकता है क्योंकि निराकरण वाले अवरोध अभी पूर्णतया विकसित नहीं हुए हैं। अवश्यम्भावी अवरोधों में भुखमरी, दुर्भिक्ष, संक्रामक रोग, युद्ध, आदि सम्मिलित हैं, तथा निराकरणवाले अवरोधों में नैतिक निग्रह, विलम्बित परिणय, दूरदर्शिता प्रभृति सन्निहित हैं। यह स्पष्ट है कि प्रथम कोटि के अवरोधों के फलस्वरूप कितने ही जन मरते हैं। जनसंख्या के आधुनिक और मान्य सिद्धान्तानुसार जब किसी देश की आबादी तथाकथित "चरम संख्या" (Optimum Number) को अतिक्रान्त कर जाती है, उस समय उसमें अत्याबादी (Over-population) की समस्या उद्भूत हो जाती है। "चरम संख्या" की परिभाषा इस प्रकार की गई है, "यह वह संख्या है जो किसी समय प्राकृतिक अवदानों, विपणिव्यापी-अवसरों, आदि के साथ ऐसी वैधानिक संतुलित अवस्था में हो कि उसमें यत्किंचित् कमी-बेशी होने से "प्रतिजन" आय घट जाय।" वर्तमान-कालीन स्थिति को देखते हुए यह कहना कि भारतवर्ष अत्याबादी के प्रश्न से निष्पीड़ित है असंगत नहीं

होगा। प्रख्यात् अर्थशास्त्रज्ञ श्री राधाकमल मुखर्जी ने अपनी पुस्तक में बतलाया है कि भारतवर्ष में १२ प्रतिशत लोग प्रतिवर्ष भूखे रह जाते हैं। अन्नोत्पादन सन् १६१३ से सन् १६३६ तक यदि ६५ प्रतिशत बढ़ा तो जनसंख्या १ प्रतिशत। जब हम एक ओर इन बातों पर विचार करते हैं और दूसरी ओर भारतवर्ष की धरती में गड़ी सम्पदा तथा उसकी कृषि-उद्योग-क्षेत्रगत शक्ति का देखते हैं तो कहना ही पड़ता है कि यदि हम अपने देश के आर्थिक उपकरणों का समुचित उपयोग कर प्रचुर उत्पादन के लिये उद्योग कर सकें तथा उत्पादन-द्वारा प्राप्त वस्तुओं एवं सम्पत्ति का समवितरण कर सकें तो ३०-३५ करोड़ व्यक्तियों को भर-पेट खिलाना असम्भव कदापि नहीं होगा। जैसा कि सर जान बायड ओर ने कहा था, "भारत में अति-जनसंख्या का प्रश्न नहीं, बल्कि अल्प उत्पादन का प्रश्न है। अधिक उत्पादन किया जाय, निर्यात आयात से अधिक हो। उत्तम खेती के साधन, खाद, जमींदारी का दूरीकरण, खेतों का पुनर्संगठन, कृषि के उत्थान के प्रमुख उपादान हैं।" जन्म-निरोध के साधनों का प्रयोग भावी सुख साधनों की संवृद्धि के साथ बढ़ती जनसंख्या को रोकने के लिये अनिवार्य है। जनसंख्या को समस्या का समाधान किसी भी देश की आर्थिक उन्नति का मेरुदण्ड है। जनगणना के आधार पर ही किसी भी योजना का निर्माण किया जा सकता है। चाहे "बम्बई योजना" हो या "गाँधी योजना" उसे जनसंख्या के प्रश्न पर दृष्टिपात करना ही होगा। कोई भी योजना बने उसका मूल उद्देश्य देश की समृद्धि विकसित करना और जनता के जीवन-स्तर का उन्नयन करना है। योजना की सफलता से आज की बहुत-सी कठिनाइयाँ उन्मूलित होंगी जो जनसंख्या की अधिकतर वृद्धि में बाधक हैं। जैसे-जैसे लोगों को भर-पेट अन्न, देह-भर वस्त्र मिलेगा, उनके रोग-शोक दूर किये जायँगे, वैसे-वैसे अधिक जन्म-दर को प्रेरणा मिलेगी। जनसंख्या की बाढ़ की जो गति आधुनिक युग में रही है वह बढ़ेगी ही। अतएव जो भी योजना बने उसे राष्ट्रीय आय का

निर्धारण वर्द्धमान जनसंख्या की गति के आधार पर करना होगा। "बम्बई योजना" की यही भूल है कि वह वर्त्तमान जन्मगति को ही आधार मान लेती है और भावी विकास का ध्यान नहीं रखती। सर्वसाधारण के जीवन का मापदण्ड ऊँचा हो सके इसके लिये आवश्यक है कि हमलोग जनसंख्या के दोनों—परिमाणात्मक तथा गुणात्मक—पक्षों पर विचार करें। निरोधक साधनों का उपयोग भी उत्तम ही होगा। जीवन का मान ज्यों-ज्यों बढ़ेगा त्यों-त्यों लोग छोटे पर सम्पन्न एवं शिक्षित परिवार की लालसा प्रकट करेंगे। प्रौढ़ आबादी के निमित्त यौन रोग से ग्रसित नर-नारी का स्वस्थ तथा नीरुज होना देश के लिये हितकर है। विवाह के पूर्व अनिवार्य डाक्टरी परीक्षा भी बुरी न होगी। मालथस अथवा गांधीजी की विचारधारा में आत्म-निग्रह की बड़ी महिमा है परन्तु इस वैज्ञानिक युग में लोगों को इसके साथ कृत्रिम जन्म-निरोधक उपायों का अवलम्बन करना ही पड़ेगा*। जनसंख्या की समस्या से जुड़ी हुई स्वास्थ्य की समस्या है। हमें भारतीय जनता को अधिकाधिक मात्रा में स्वस्थ और सबल करना है तभी हमारी मानव-शक्ति का पूर्ण विकास सम्भव होगा। जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्मेलन हुआ जिसमें केन्द्रीय सरकार की स्वास्थ्य-सचिव श्रीमती कौर ने भाग लिया और उन्होंने भारत में स्वास्थ्य-सुधार का जो आयोजन आरम्भ किया है वह आशावर्द्धक और अभिनन्दनीय है।

भारतवर्ष अपने ग्रामों में जीता है और ग्राम जीते हैं कृषि से। परन्तु आज कृषि की जो दुर्गति है वह दुःखावह ही है। रूस देश की क्रान्ति के बाद सन् १९२८ में प्रथम पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित किया गया जिसके अनुसार सामूहिक कृषि का बीजारोपण हुआ। अच्छे विस्तार के खेत बनाये गये। ऋण और मशीनें दी गईं। एक तरह से कृषि-सम्बन्धी क्रान्ति मच गई। फलतः कृषि के उत्पादन में

---

* कृत्रिम उपायों से व्यभिचार बढ़ने की ही आशंका है और फिर हमारे यहाँ शिक्षा का प्रसार ही कितना है उसे सफल बनाने के लिए।—सं०, वि० मा०]

आशातीत वृद्धि हुई। अब तो रूस यूरोप का अन्न-भाण्डार ही बन बैठा है। भारतवर्ष को भी कृषि-क्षेत्र में क्रान्ति की आवश्यकता है। यहाँ की औसत पैदावार कम है। खेती करने के साधन पुराने ढंग के हैं। खेत बहुत ही छोटे-छोटे और टुकड़ों में विभक्त हैं। अधिकांश देहातों में जीविका का एक ही मार्ग—खेती-बारी—है। किसानों के ऊपर कर्ज भी लदा पड़ा है, बहुत-से खेतहीन मजदूर हैं जो वर्ष के कुछ महीनों में तो काम करते हैं, अवशिष्ट महीनों में बैठे-बैठे दिन काटते हैं। अभी हमारे देश में लगभग ११ करोड़ एकड़ जमीन यों ही बेकार पड़ी है जिसे जोत-बोकर हम प्रचुर अन्न पैदा कर सकते हैं। हमारे यहाँ कम स्वास्थकर अन्नों को उपजाने की ज्यादा परिपाटी है। कृषक प्रकृति की दया पर अधिक निर्भर करते हैं। सिंचाई का अभाव, उचित खाद और उत्तम बीज की कमी ये कृषि के पथ में कण्टकवत् हैं। खेतिहरों का सामान्य स्वास्थ्य भी गिरा हुआ है। वे अनपढ़ और सनातन-प्रेमी हैं। उनके हृदय में आकांक्षा का भाव भी कम है। अन्नों का बाजार भी निकृष्ट ही है। बखारी का प्रबन्ध नहीं रहने से दरिद्र किसानों को वंचक व्यापारियों के चंगुल में फँस जाना पड़ता है, न मन्दी के काल में सहायता देने की व्यवस्था ही सरकार की ओर से है। कृषकों को सुचारुरूप से पूँजी मिलने का इन्तजाम नहीं जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि उन्हें पीड़क पूँजीपतियों और जमींदारों के माया-जाल में आबद्ध हो जाना पड़ता है। भूमि-कर की रूप-रेखा भी कष्टकर ही है। जमींदारी की वजह किसानों को नाना प्रकार की मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं। भारत में कृषिगत ये ही समस्याएँ हैं। यदि सरकार ने उनको हल करने का प्रयत्न किया तो निस्सन्देह उसे अत्यधिक सफलता मिलेगी। यदि सिंचाई, खाद और उत्तम बीज का इन्तजाम किया जाय तो प्रत्येक से क्रमशः ५० से १०० प्रतिशत, २० से ४० प्रतिशत और ५ से १० प्रतिशत फसल बढ़ सकती है और वर्त्तमान खेती से ७५ प्रतिशत उपज बढ़ जा सकती है और हमारा खाद्य-संकट बहुत-कुछ कम हो सकता है। सरकार को ग्राम-पंचायतों का आश्रयण

ग्रहण करना चाहिये। सरकार "ग्राम्य बहुधन्धी सहयोग समितियों" की स्थापना करके पूँजी, बाजार, आदि की समस्याएँ सुलझा सकती है। हमारे सामने आज खाद्यान्नाभाव की विभीषिका वर्तमान है। सन् १९४६-४७ में ६० लाख टन अन्न की कमी जान पड़ी थी। हरसाल हमारी जनसंख्या बढ़ रही है तथा अनुमानतः ८ लाख टन अन्नों की जरूरत प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है। भारतवर्ष युद्धकाल से ही व्यापार द्वारा काफी धन अर्जित कर रहा है परन्तु उसे बहुत अन्न खरीदना पड़ रहा है। यह देश के लिये शुभ लक्षण नहीं। सन् १९४५-४६ में भारतवर्ष को २५० करोड़ रुपये में से ८० करोड़ का खाद्यान्न खरीदना पड़ा, सन् १९४६-४७ में ३०० करोड़ में से १०० करोड़ रुपये का अन्न। ग्रामों में तीन वर्ग के किसान रहते हैं: खेतहीन मजदूर, छोटे-छोटे खेत-सम्पन्न किसान और जमींदार। प्रथम दो वर्गों में ६० प्रतिशत आबादी आ जाती है और उनके पास अन्न नहीं बचते। तीसरे वर्ग के पास प्रचुर अन्नराशि पड़ी रहती है जिसे अन्ततोगत्वा बेचकर वे रुपया संग्रहीत करते हैं। यदि व्यापारी-वर्ग को सम्मिलित कर लिया जाय तो इन दो वर्गों के हाथ में आधी पैदावार केन्द्रित हो जाती है। खाद्य-समस्या के ये दो पक्ष—परिमाणात्मक और वितरणात्मक—हैं। उसका तीसरा पक्ष गुणात्मक है। हमारे भोजन में संरक्षक तथा संवर्द्धक तत्वों का खटकता अभाव है। उत्तरोत्तर बढ़ती जनसंख्या के फलस्वरूप पुष्टिकारक अन्नों की जगह कम और साधारण अन्नों की फसल बढ़ाई जा रही है। मई से जुलाई तक जमीन परती पड़ी रहती है। उस समय "आपद्कालिक अन्न" (Distress or Emergeney Grains)—यशस्वी अर्थशास्त्रवेत्ता माननीय आचार्य गोरखनाथ सिंहजी द्वारा प्रतिपादित—यथा मड़ुआ, महुआ शकरकन्द आदि उत्पन्न किये जा सकते हैं। भोजन की गुण-वृद्धि के लिये लोग अपने मकान के इर्द-गिर्द में टमाटर, गाजर, मूली, सेम, मटर, आदि शाक लगा सकते हैं, केला, खीरा, अमरूद, कागजी नीबू, आदि फल पैदा कर सकते हैं। सरकार पुनः नियन्त्रण लगाने की सोच रही है। उसे इस बार ग्रामों

को भूलना नहीं चाहिये और उनमें भी सरकारी दुकानें खोलकर अन्न एकत्र करने और बेचने का प्रबन्ध शीघ्रातिशीघ्र करना चाहिये, क्योंकि भारत की अधिकांश दीन-हीन जनता उनमें ही निवास करती है। गांधीजी ने अपनी लोकोपकारी योजना का केन्द्र-बिन्दु ग्राम को ही माना था और उन्होंने जिस रामराज्य की परिकल्पना की थी उसमें शासन का विकेन्द्रीयकरण भी समाविष्ट था। ग्राम-पंचायत यदि संघटित की जाय तो हमारी आर्थिक उन्नति बहुत ही सुचारु गति से सम्पन्न हो सकेगी। उसीके माध्यम से रूस का अनुशीलन कर हम कृषि की क्रान्ति कर सकते हैं।

भारतवर्ष की औद्योगिक समस्या भी अपना महत्व रखती है परन्तु उसमें हम एक प्रकार से सफलता प्राप्त करते चले जा रहे हैं। यहाँ दो स्कूल के अनुयायी हैं। एक स्कूल के अनुयायी कृषि की दुहाई देकर कहते हैं कि चिरकाल से भारतवर्ष की राष्ट्रीय आय भूमि से उपलब्ध की गई है और की जायगी। उसे प्रकृति-देवी से बहुतेरी सुविधाएँ मिली हैं और यहाँ के लोग कृषि-कार्य में अभ्यस्त होने के नाते इसके विकास की योग्यता से अवगत हैं। अत: कृषि का पर्याप्त संगठन किया जाय, वैज्ञानिक साधनों का समीचीन उपयोग हो। दुनिया की माँग कच्चे मालों के लिये बढ़नेवाली है जिससे अधिक कीमतें मिलेंगी। ये लोग भारत की औद्योगिक दुर्बलताओं को आगे रखकर परामर्श देते हैं कि बाहर से वस्तुएँ मोल लेना अपेक्षाकृत सस्ता पड़ेगा और तर्क करते हैं कि यदि जमीन से श्रम एवं पूँजी को पृथक कर उन्हें उद्योग में प्रवृत्त करेंगे तो हमारी आर्थिक-स्थिति और भी करुण हो जायगी। कुछ भी हो, यह अनुभव की बात नहीं प्रतीत होती। भारतवर्ष के उद्योग-धंधों में जो पूँजी लगाई गई है वह साधारण कृषकों की देन नहीं प्रत्युत् मध्यवित्त के जनों और व्यापारियों की सम्पत्ति है। उद्योगों की अभिवृद्धि से भूमि पर पड़ा दुर्वह भार न्यून होगा। कृषि को प्रकृति की कृपाओं पर अधिक टिकना पड़ता है। खेत से जो आमदनी मिलती है वह

अनिश्चत् और अस्थिर होती है। उसे ह्रासवान लाभ के नियम द्वारा परिचालित होना पड़ता है। प्याले और होठों के बीच की दूरी में ही हमारी उँगलियाँ कई बार फिसलती हैं! फलतः न तो कृषि बड़े पैमाने पर की जा सकती है, न उसमें प्रवीणता की जगह ही है। खेती-बारी की सुघड़ व्यवस्था के लिये परिष्कृत यन्त्रों और साधनों की जरूरत है। हो सकता है, इनके प्रयोग से आज के काम पाये कुछ मजदूर भले ही बेकार हो जायँ किन्तु इन्हें बढ़ते उद्योगों में नियुक्त किया जायगा। यदि केवल कृषि का एकांगी उत्थान होगा तो बहुत-से लोग उधर आकृष्ट होंगे जिसका कुफल यह होगा कि धरती पर और भी अधिक बोझ पड़ने से विकास रुद्ध और उन्नति मंथर पड़ जायगी। दूसरे स्कूल के अनुयायी यही सुझाव प्रस्तुत करते हैं। इन दो स्कूलों के विचारों पर शान्त चित्त से विचार कर लेने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति के लिये कृषि तथा उद्योग दोनों ही अनिवार्य और सम्पूरक हैं। हमें पाश्चात्य देशों के अनुभव ज्ञात हैं, हम उनके दुष्परिणामों से बच सकते हैं। जो कहते हैं कि वृहत् उद्योगों से गृहोद्योगों का विनाश होगा वे गलत कहते हैं। हमारे सामने विश्व के उन्नत राष्ट्रों का दृष्टान्त विद्यमान है। वहाँ दोनों प्रकार के उद्योगों का सन्तुलन और सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। हमारी राष्ट्रीय सरकार ने इस चीज को आँक लिया है और वह दोनों को जीवन्त करने के लिए विविध प्रयास कर रही है। सरकार ने औद्योगीकरण की घोषणा अप्रैल में की। सरकार ने उस घोषणा में भारत की जहाज-रानी के अभ्युदय की अनोखी योजना उपस्थित की है। भारत का वह अतीत गौरव जो हमारे देश की जहाज-रानी के उद्योग से मुखरित है गत १४ मार्च, १९४८ को वर्त्तमान की ठोस भूमि पर उतरा और भारत में बना जलयान "जल-उषा" (८,००० टन वजन) सिन्धिया जहाज-निर्माण-केन्द्र से विजगापट्टम बन्दरगाह में डाल दिया गया। चन्द महीनों में 'जल-प्रभा' एवं 'जल-पंखी' ने भी नव्य वेष धारण कर भारतीय जहाजरानी के यश को बढ़ा दिया है।

बंगलोरस्थित 'भारतीय हवाई जहाजों के कारखाने'' ने संयुक्त साम्राज्य के ''परसिवल वायुयान प्रमण्डल' के साथ प्रबन्ध करके आगामी दो वर्षों में तीस वायुयान इसी अवधि में उपलब्ध होनेवाले कच्चे मालों से बनाने का निश्चय किया है। इधर कलकत्ता और बम्बई में एक-एक कार्यालय स्थापित हुआ है जहाँ पूरी मोटर गाड़ियाँ और ट्रकें तैयार हो सकती हैं। करीब ढाई करोड़ की मशीनें बाहर से मंगाई जा रही हैं। यहाँ अभी प्रतिवर्ष ६२,००० बाइसिकलें, १५०० सिंगर मशीनें, १२½ लाख लालटेनें तैयार की जा सकती हैं। विद्युत् निर्मित बैटरियों की अच्छी उन्नति हो रही है। टेलीफोन बनाने के कारखानें की स्थापना भी होनेवाली है। यदि चेष्टा की गई तो सन् १९५६ से प्रति वर्ष कोयला की खानों से ३-४ करोड़ टन कोयला निकाला जा सकता है। अमेरिकन विज्ञों का जो फर्म कायम किया गया है उसमें हर साल १० लाख टन तेल कोयला से निष्काषित हो सकता है। सिन्दरी में खाद-निर्माण का जो कारखाना खुला है वहाँ प्रतिवर्ष ३,५०,००० टन शोरा-नसादर तैयार हो सकता है। सरकार ने पेन्सलीन का एक कारखाना खोलने की सोची है। कुछ नये हवाई मार्ग खोले गये हैं। इस विवरण से भावी भारत का मादक चित्र नेत्रों के सामने उपस्थित हो जाता है। ECABFE की तृतीय बैठक के समय डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा था कि यदि भारत से अन्य देश कच्चे मालों की अपेक्षा करते हैं तो भारत को भी उनसे पूंजी-मालों (मशीनें, आदि) की अपेक्षा है। सरकार ने ''भारतीय स्टैन्डर्ड संस्था'' का प्रवर्तन कर उद्योगकृत वस्तुओं के विशिष्टीकरण की बात सोची है। सूती वस्त्र, इंजीनियरिङ्ग, रसायनों के उद्योग में से प्रत्येक के लिये एक उपसमिति स्थापित की गई जो उनके उत्थान के सुझाव पेश करेगी। सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय समितियों से सम्बन्ध जोड़ा है जिससे प्रत्येक क्षेत्र में संकेत मिलता रहेगा। साथ ही अपनी घोषणा को कार्यान्वित करने के ध्येय से हाल में ही एक ''औद्योगिक परामर्शदात्री परिषद्'' का निर्माण किया है जिससे प्रचुर सहायता मिल सकती है।

आरंभ में ही निवेदन किया जा चुका है कि राजनीतिक स्वराज्य का रूप उस समय तक नहीं निखरता जबतक आर्थिक स्वराज्य का पुष्कल अभ्युदय नहीं होता। स्वतंत्र देश के प्रत्येक जन को आर्थिक न्यूनतम (economic minimum)—भर-पेट अन्न, देह-भर वस्त्र, सुन्दर शिक्षा, बेकारी से मुक्ति, आदि—की सुविधा उपलब्ध होनी चाहिये। ब्रिटेन में लॉर्ड विलियम बेभरीज ने अपनी एक रिपोर्ट "सामाजिक सुरक्षा योजना" (Social Security Scheme) के ऊपर प्रकाशित कराई है जिसमें सभी काम करनेवाले व्यक्तियों की सुरक्षा के लिये प्रस्ताव उपस्थित किये गये हैं। उसके अनुसार बीमारी के समय आर्थिक सहायता, बुढ़ापे में पेन्शन देने की चर्चा है। उसमें शिशु-जनन के समय नारी श्रमिकाओं को विशेष कोष दिया जायगा। शिशुओं के लालन-पालन, वैवाहिक अवस्था, दाह-संस्कार के लिये खास-खास आर्थिक सहायताएँ दी जायँगी। इस सुरक्षा-कोष में सरकार, पूँजीपतियों तथा श्रमिकों को विशिष्ट मात्राओं में कोष-दान करना होगा। भरतवर्ष की सरकार ने इस प्रकार की योजना पर विचार करना आरम्भ कर दिया है। न्यूनतम वेतन और मजदूरी निश्चित कर दी गई है। मुआवजा देने की दर भी ठीक ही की जा चुकी है। मातृ-हित सम्बन्धी विधान भी बम्बई, संयुक्त प्रांत, मध्यप्रांत, मद्रास, दिल्ली, आदि प्रदेशों में अपनाये जा चुके हैं। कार्यावधि भी निर्धारित की गई है। बेकारी के समय मजदूरों को अर्थ-दान मिलेगा। मजदूरों के बच्चों की पढ़ाई-लिखाई का आयोजन किया गया है। लाभ में मजदूरों को कुछ हिस्सा देने की बात भी तय की गई है। पूँजी तथा श्रम के परस्पर संघर्ष को निपटाने के लिये सरकार ने तीनों दलों की एक समिति निर्मित की है। इस अछूते क्षेत्र में इन योजनाओं की अवतारणा नव सरकारकृत क्रान्ति की ही द्योतक है। फिर भी अभी इसको कार्यान्वित करने में कतिपय कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। भारत का भविष्य स्वर्णिम है, इसकी सफलता के लिये उत्साह-पूर्वक कार्य सम्पन्न करने की आवश्यकता है।

विगत महायुद्ध के समय से भारतवर्ष का व्यापार-लेखा हमारे पक्ष में सबल हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हम अनुमानतः २०० करोड़ रुपये का लाभ उठा रहे हैं। कई सौ करोड़ रुपये का स्टरलिंग हमारे हाथ में है। हमें विचार करना है कि हमारी आयात-निर्यात नीति किस प्रकार की हो। भारत की औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात करना है। युद्धकाल में अधिक काम करने के कारण यहाँ के बहुत कल-पुर्जे घिस गये हैं, उन्हें बदलना है। नये उद्योगों की स्थापना के लिये दक्ष श्रमिकों की जरूरत है। इनमें काफी पैसा खर्च करना पड़ेगा। युद्धकाल में भोक्ताओं की बहुत-सी वस्तुएँ विदेशों से नहीं आ सकीं। उन्हें मँगाना है, कुछ आ रही हैं। इससे यही जान पड़ता है कि हमें आयात भरपूर करना होगा और अपने पास के संग्रहीत कोष को खर्च करना होगा। ऐसा करते समय हमें देखना होगा कि आयात से यहाँ के नवजात उद्योग-धंधों को आघात न पहुँचे। निर्यात का पक्ष भी विचारणीय है। युद्ध-काल में भारत ने आसपास के देशों पर अपना सिक्का जमा लिया। उसका बाजार उन तक फैल गया। भारत में औद्योगिक उत्थान के साथ इस प्रशस्त बाजार को अपने अधिकार में स्थिर रखना नितान्त आवश्यक होगा। हो सकता है, उसको अन्य उन्नत राष्ट्रों से जूझना पड़े। भारत के तीन ही प्रतिद्वन्द्वी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हैं—ब्रिटेन, संयुक्तराष्ट्र तथा जापान। जहाँ तक जापान का सवाल है, भारत उससे बढ़ सकता है पर अन्य दो राष्ट्रों से लोहा लेने में भारत को भगीरथ परिश्रम करना पड़ेगा और इसके हेतु समय की अपेक्षा भी है। व्यापार की समस्या केवल आर्थिक समस्या ही नहीं, वह एक राजनीतिक गुत्थी भी है। भारत का भविष्य इस दिशा में भी उज्ज्वल ही है क्योंकि आज इसके भाग्य-विधाता हम आप हैं।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न रुपया के विनिमय का सम्बन्ध है भारत को आज उसका निदान 'अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि" (I. M. F.) के परामर्श के साथ करना होगा। यहाँ का मूल्य-स्तर जहाँ पहले की

अपेक्षा दुगुना-तीगुना है, वहाँ ब्रिटेन और अमेरिका के मूल्य-स्तर एक तरह से स्थिर ही हैं। किसी भी देश की मुद्रा का विनिमय मूल्य न केवल आन्तरिक मूल्य-स्तर से ही प्रभावित होता है वरन् वह अन्यान्य राष्ट्रों के मूल्य-स्तर से, उनकी मुद्राओं के विनिमय-मूल्य से, परिचालित होता है। थोड़े समय के लिये कृत्रिम ढंग से दोनों की सापेक्षता स्थागित की जा सकती है। भारतीय रुपये का वर्त्तमान विनिमय-मूल्य कृत्रिम ही कहा जायगा। आशा है, स्वतन्त्र भारत की अपनी सरकार इस प्रश्न को सुलझा सकेगी।

बैंक-विभाग में भारतवर्ष की कुछ समस्याएँ हैं जिन्हें सुलझा लेना लाभदायी होगा। किसी देश के आर्थिक विकास में मौद्रिक बाजार की प्रौढ़ता परम आवश्यक वस्तु है। इसमें लघुकालीन, दीर्घकालीन, विदेशी विनिमय, बट्टावाले, पूँजी-विनियोगवाले बाजारों का समावेश है। मौद्रिक बाजार का संतुलित और प्रवहनशील (Liquid) होना जरूरी है जिससे बाजार-भर में एक ही सूद की दर सक्रिय हो तथा पत्रमुद्रा, धातवीयमुद्रा या अन्य वस्तुओं के रूप में बदली जा सके और कोष एक स्थान से दूसरे स्थान में वितरित हो सके। इसमें लोच रहनी चाहिये जिससे कामकाजू समय अभाव और खलासी की हालत में अधिकता विद्यमान न रहे। इतना ही नहीं स्थिरता का गुण भी अपरिहार्य है क्योंकि बिना इसके आशावाद या निराशावाद के झोंके या अन्धड़ आर्थिक विपन्नता के कारण बन जाते हैं। अन्ततः मुद्रा-बाजार में पर्याप्तता का भाव रहे जिससे सभी श्रेणियों के व्यक्तियों की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। कहना नहीं होगा कि इनमें बहुत-से गुणों का अभाव भारतीय मौद्रिक बाजार में है। जो गुण है वे भी पूरी मात्रा में नहीं। रिजर्व बैंक को इम्पीरियल बैंक का मुकाबला करना पड़ता है। कितने यूरोपीय बैंक भारतीयों को फूटी नजर से देखते हैं। विनिमय बैंकों से रुपये के सुरक्षित-पत्रों को प्रेरणा नहीं मिलती। युद्ध के समय कहीं तो अनावश्यक बैंकों का जमघट हो गया, कहीं बैंकों का अस्तित्व ही नहीं। उद्योग-

धंधों को आर्थिक सहायता मिलने का प्रबन्ध है भी तो कृषि को बहुत थोड़ी सुविधा प्राप्त है। सहयोग समितियों की सुन्दर व्यवस्था नहीं हो सकी। ग्राम्य धन को एकत्र करने का सुचारु प्रबन्ध नहीं। जब तक ग्रामीण और नागरिक धनों को एक सूत्र में पिरोने का इन्तजाम नहीं किया जा सकता तबतक हमारा सच्चा आर्थिक उत्थान नहीं हो सकता। देहातों में साहु-महाजन गरीब किसानों तथा मजदूरों का शोषण-दोहन करते रहते हैं, उन्हें रिजर्व बैंक की सत्ता में लाना बहुत ही जरूरी है। ब्रिटेन में केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। भारत में भी रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का बिल पास हो चुका है। इतने महत्व की संस्था को राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाना कितना कल्याणकारी होगा, इसका अन्दाज हम आसानी से लगा सकते हैं। सरकार ने "बैंकिंग ऐक्ट" भी पास कर लिया है जिसके द्वारा बैंकों की मनमानी पर नियंत्रण रहेगा और उन्हें रिजर्व बैंक से गुम्फित किया जायगा। इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का भी इन्तजाम किया जा चुका है। मौद्रिक प्रश्न में विदेशी पूँजी का भी प्रश्न हल करना है।। विदेशी पूँजी को स्वायत्त किया जाय? यह बड़ा जटिल प्रश्न है। साम्यवादियों की बात नहीं मानी जा सकती। इस विदेशी पूँजी ने हमारी भलाई भी की है, इसे हम विस्मृत नहीं कर सकते। अभी औद्योगिक विकास के लिये हमें विदेशी पूँजी की जरूरत होगी। हाँ, विदेशी पूँजी पर पाबंदी रखना, उनसे प्रसूत लाभ पर पूरा कर लगाना, कतई बुरा न होगा।

अन्ततः सार्वजनिक अर्थ-नीति पर कुछ प्रकाश डालना है। अभी तक सरकार को परोक्ष करों से ही अधिक राजस्व मिलता रहा है। भारत जैसे गरीब देश के लिये यह उत्तम नहीं कहा जा सकता। बड़े-से-बड़े पूँजीपति देश आज प्रत्यक्ष करों से अधिक राजस्व उगाह रहे हैं। विलास और आराम की वस्तुओं पर काफी चुंगी लगाई गई है। मृत्यु-कर, पैत्रिक सम्पत्ति-कर, कृषि-कर से प्रचुर धन प्राप्त किया जाता है। आशा की बात है कि सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को कृषिजन्य आय पर कर

लगाने का अधिकार दे दिया है। और वे उसे कार्यान्वित भी करने जा रही हैं। मृत्यु-कर की भी चर्चा हो रही है और आशा है शीघ्र उनसे अधिक पैसा मिल सकेगा। भूमि-कर स्थायी रूप से ठीका दिये भागों में कष्टदायी है परन्तु अब जमींदारी के विघटन से उसका बोझ हल्का हो जायगा। सरकार को इधर शरणार्थियों और युद्धों के ऊपर बहुत खर्च करना पड़ा है। अतः उसे घाटा का पत्रक अपनाना पड़ा। सरकार ने अब संतुलित पत्रक अपनाने का निर्णय किया है। सरकार को बड़ी-बड़ी योजनाएँ सम्पन्न करनी है। अतः उसे काफी धन की जरूरत होगी। यह धन उसे प्रत्यक्ष करों से प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। मुद्रास्फीति का निराकरण करते समय लोगों की बचतों को उसे अपने कोष में संग्रहीत करना, ऋण लेना चाहिये जिससे वह उनका पूरा उपयोग कर देश की आर्थिक उन्नति कर सके। स्टरलिंग पावन का समझौता हो ही चुका। यह समस्या भी हल ही हो चुकी। यदि वर्तमान प्रगति और प्रयास जारी रहे तो हमारी और भी समस्याएँ शीघ्रातिशीघ्र हल हो जायँगी। सरकार का नया कोड़-पत्र हमारी प्रगतिगामी भावनाओं को उतना पोषण नहीं दे रहा है। सरकार को कर बढ़ाते या घटाते समय इस बात का सदा ख्याल रखना चाहिये कि वह उसके द्वारा कहाँ तक समाजगत असमानता को दूर कर सकती है, वह गरीब लोगों को कितना छुटकारा देती है और धनी जनों से कितना अधिक वसूल रही है। चुँगी का भार अन्ततः विक्रेता पर पड़ेगा या विक्रेता पर, यह बात भी सोचना सरकार के लिये उतना ही आवश्यक है। राष्ट्र का परम आवश्यक कार्य हो जाता है—यह देखना कि देश में पूर्ण रोजी है या नहीं। *

---

* यह अध्याय जुलाई, १९४९ में लिखा गया था और "विशालभारत" में प्रकाशित हुआ था —लेखक।

BIBLIOGRAPHY

1. Robertson—Control of Industry.
2. Marshall—Trade And Industry.
3. Beacham—Economics of Industrial Organisation.
4. Florence—Logic of Industrial Organisation.
5. Robinson—Structure of Competitive Industry.
6. Steindl—Small and Big Business.
7. Wootton—Freedom under Planning.
8. ,, —Plan or No Plan.
9. Meade—Economic Analysis And Policy.
10. ,, —Planning And Price Mechanism.
11. Krishnamurti—Price-Mechanism.
12. A. N. Agrawala—Socialism.
13. Levy—The New Industrial Order.
14. Hayek—Road to Serfdom.
15. Wilson—Modern Development of Capitalism.
16. Jewkes—Ordeal By Planning.
17. Schumpeter—Socialism, Capitalism And Democracy.
18. Durbin—Politics of Democratic Socialism.
19. Burnham—Managerial State.
20. Robinson—Monopoly.
21. Benham—Economics.
22. Marshall—Principles.
23. Pigou—Economics of Welfare.
24. Burns—Decline of Competition.
25. Boulding—Economic Analysis.
26. Stigler—Theory of Price.
27. Robson—Public Enterprise.
28. Gyanchand—Public Corporations.
29. Sharma—Location of some Industries in India.
30. Balkrishnan—Regional Planning.
31. Garg—Stock Exchanges in India.
32. Keynes—General Theory.
33. Lalwani—Industrial Efficiency in India.
34. Silverman—Studies in Industrial Organisation.
35. Cole—Principles of Planning.

36. Lewis—Principles of Economic Planning
37. Davar—Business Organisation.
38. Dickinson—Economics of Socialism.
39. Gupta—Business Organisation.
40. Ghosh— „ „
41. Naidul & Dutta—
42. Omprakash—Industrial Organisation.
43. Sheldon—Modern Commerce.
44. Clark—Trusts Problems.
45. K. N. Pd—Adhunik Aratha Shastra.
46. „ „—Nagrik Aur Rajya.
47. Taylor—Industrial Psychology.
48. Allen—World Monopoly And Peace.
49. Balfour Committee—Report on Iudustrial & Commercial Efficiency.
50. Govt. of India—Location of Industries in India
51. Durbin—Problems of Economic Planning.
52. Taylor—Economics For the Exasperated.
53. Hobson—Evolution of Modern Capitalism.
54. Odham—Man & His Economic Resources.
55. Hayek—Individualism And Economic Order.